ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

कारण-कार्यनियम

(नियमसार प्रवचन, भाग-६)

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री नियमसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
गाथा १४१ से १५९ और कलश २३६ से २७१ पर
धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846–244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई–400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए–4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान–302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली–422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट–360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

परम पूज्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसारजी नामक शास्त्र अध्यात्म प्रधान द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सत्‌शास्त्रों में से एक सर्वोत्कृष्ट तथा चारित्र प्रधान श्रेष्ठतम शास्त्र है।

परम भट्टारक शासननायक श्री महावीरस्वामी के निर्वाण के पश्चात् अन्य केवली तथा श्रुतकेवली कथित आगम और अध्यात्म विद्या का संकलन चार अनुयोग के असंख्य शास्त्रों में अनेक आचार्यों–मुनिभगवन्तों द्वारा सम्पन्न हुआ है। सनातन दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में कलिकाल सर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान अजोड़ है। लगभग चौरासी पाहुड़ शास्त्रों की भेंट आपश्री ने प्रदान की है, तथापि अभी मात्र १२–१५ ही उपलब्ध हो सके हैं।

उन उपलब्ध सत्‌शास्त्रों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार जैसे उत्तमोत्तम परमागमों में हजारों शास्त्रों का सार समाहित हो जाता है। जैसे समयसार में शुद्धनय से नौ तत्त्वों का निरूपण किया है, वैसे नियमसार में शुद्धनय से ही जीव–अजीव, शुद्धभाव, प्रतिक्रमण इत्यादि विषयों का वर्णन है।

वर्तमान में उपलब्ध भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के उत्कृष्ट परमागमों में अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिये रचित सर्वोत्कृष्ट श्री समयसारजी में दृष्टिप्रधान कथन से शुद्धात्मा का स्वरूप समझाया है। दिव्यध्वनि के सार श्री प्रवचनसारजी में ज्ञानप्रधान कथन से वही स्वरूप वर्णन किया है। श्री नियमसारजी में चारित्र अधिकार की मुख्यता से उसी स्वरूप का वर्णन है। वीतरागता प्रगट करने के प्रयोजन से दृष्टि–ज्ञान–चारित्र के आश्रयभूत शुद्धात्मा का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है।

श्री नियमसारजी की तो आचार्यदेव ने स्वयं के जीवन की सन्ध्याकाल में निज भावना के निमित्त से रचना की होने से कारणपरमात्मा का बहुत ही घोलन किया है।

इस असाधारण परमागम की टीका भावी तीर्थाधिनाथ अतीन्द्रिय आनन्द के रसिक भावलिंगी मुनिराज श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेव ने की है। जिनके मुख में से परमागमरूपी मकरन्द झरता है, ऐसे मुनिराज कहते हैं कि गुण के धारक गणधरों से रचित तथा श्रुतधरों की परम्परा से भली प्रकार से व्यक्त किये गये इस परमागम के सार की पुष्टरुचि से यह टीका सहज रची गयी है। टीकाकार ने श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के हृदय में रहे हुए आध्यात्मिक भावों को स्वानुभूति से प्रमाण करके, परमपारिणामिकभाव में रहे हुए अन्तर रहस्यों को खोला है।

श्री नियमसार भरतक्षेत्र के उत्तमोत्तम शास्त्रों में से एक होने पर भी प्राभृतत्रय की समानता में इसकी प्रसिद्ध बहुत कम है। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी विक्रम संवत् १९७२ में नियमसार की

भूमिका में सत्य ही लिखते हैं कि '**आज तक श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय संग्रह, प्रवचनसार, और समयसार, ये तीन रत्न ही बहुत प्रसिद्ध हैं। खेद की बात है कि उनके जैसा, तथापि कितने ही अंशों में उनसे भी अधिक ऐसा नियमसार रत्न है, उसकी प्रसिद्धि इतनी कम है कि कोई कोई तो उसका नाम भी नहीं जानते।**'

नियमसार अर्थात् भागवत् शास्त्र (गाथा १८७)। श्रुतपरम्परा में शास्त्रों का प्रणयन शिष्यों को सम्बोधन के लिए अथवा व्यक्तिगत उद्देश्य से किया जाता है परन्तु इस ग्रन्थाधिराज की रचना आचार्यश्री ने अपने दैनिक पाठ के लिए की होनी चाहिए, क्योंकि आचार्यश्री की ग्रन्थ की अन्तिम उक्ति द्वारा स्पष्ट होता है कि 'णियभावणाणिमित्तं' अर्थात् निजभावना के अर्थ / निमित्त से पूर्वापर दोषों से रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने नियमसार नाम का शास्त्र रचा है।

नियमसार अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय की अपेक्षारहित शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप। इस ग्रन्थ में पर्याय की मुख्यता से कथन होने पर भी भावलिंगी सन्तों की दृष्टि तो उसके कारण पर ही रहा करती है।

भव्य जीवों को भाग्योदय से इस नियमसार कृति पर तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखनेवाले महासमर्थ मुनिराजश्री पद्मप्रभमलधारिदेव हुए, जो वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य थे और विक्रम की १३वीं शताब्दी में हो गये हैं। इस शास्त्रजी में १८७ गाथाओं में प्रतिपादित विषयवस्तु को निम्न अनुसार बारह विभागों में प्रस्तुत किया गया है।

१. जीव अधिकार
२ अजीव अधिकार
३. शुद्धभाव अधिकार
४. व्यवहारचारित्र अधिकार
५. परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार
६. निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार
७. परम आलोचना अधिकार
८. शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार
९. परम समाधि अधिकार
१०. परमभक्ति अधिकार
११. परम आवश्यक अधिकार
१२. शुद्धोपयोग अधिकार

निश्चयपरमावश्यक अधिकार का संक्षिप्त परिचय

स्ववश और परवश (अन्य वश) की विगत बार व्याख्या समझाते हुए इस अधिकार की मूल विषय वस्तु विशेषरूप से ध्यान में लेने योग्य है। गाथा १४१ से १५८ तक की कुल १८ गाथाओं में शुद्धनिश्चयनय से परमावश्यक की विस्तृत जानकारी इस अधिकार में दी गयी है।

विधि अनुसार परम जिनमार्ग के आचरण में कुशल ऐसा जीव सदा अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है परनतु साक्षात् स्ववश है, ऐसे अर्थ की और निर्वाण मार्ग की सूझ प्रदान करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि

नहिं अन्यवश जो जीव आवश्यक करम होता उसे।
यह कर्म-नाशक योग ही निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे ॥१४१॥

— इसके बाद की गाथा में ग्रन्थकार ने आवश्यक का व्युत्पत्ति अर्थ समझाया है जैसे कि—

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोद्धव्वा।

अर्थात् जो (अन्य के) वश नहीं वह 'अवश' है और अवश का कर्म वह 'आवश्यक' है। परवशपने का बाद की कितनी ही गाथाओं में वर्णन किया गया है। जैसे कि शुभाशुभभाव में रहनेवाला द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन में मग्न आत्मा अन्यवश है। आत्मस्वरूप में संलग्न आत्मा ही स्ववश है।

इस सन्दर्भ में टीकाकार का कलश काव्य 'अन्यवश: संसारी' विशेष देखनेयोग्य और मननयोग्य कलश है। इसमें टीकाकार प्रकाशित करते हैं कि जो जीव अन्यवश है, वह भले मुनि वेशधारी हो, तो भी संसारी है, नित्य दु:ख का भोगनेवाला है; जो जीव स्ववश है, वह जीवन्मुक्त है। जिनेश्वर से किंचित् न्यून है।

आगे जाकर टीका में जड़ता की चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'सर्वज्ञ वीतराग में और इस स्ववश योगी में कभी भी कुछ भी भेद नहीं है, तथापि अरे रे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं।' इस अधिकार के अन्त में मूल ग्रन्थकर्ता ने पुराण पुरुषों के दृष्टान्त द्वारा आवश्यक की पावन प्रेरणा दी है। जिसकी मूल गाथा इस प्रकार है।

यों सर्व पौराणिक पुरुष आवश्यकों की विधि धरी।
पाकर अरे अप्रमत्त स्थान हुए नियत प्रभु केवली ॥१५८॥

इस प्रकार कुल १८ गाथाओं तथा टीकाकार के कुल ३४ काव्य कलशों से अत्यन्त रसप्रद तथा उपयोगी ऐसा यह अधिकार है।

इस शास्त्र के भावों का विवेचन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री भावविभोर होकर कहते हैं – **टीकाकार मुनिराज ने कार्य के साथ ही त्रैकालिक कारण (कारणशुद्धपर्याय) की बात करके टीका में अलौकिक रहस्य खोले हैं। अहो! जंगल में बसनेवाले और आत्मानन्द में लीन रहनेवाले सन्तों के श्रीमुख से परमागमरूपी अमृत की वर्षा हुई, उसमें आया है कि हे भाई! तेरे धर्म का ध्रुव कारण तो तुझमें सदा विद्यमान है, परन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता, इसलिए दु:खी है। अहो! अन्तर का कारण मुनियों के आत्मा में से ही अमृत झरे हैं, उसकी यह अचिन्त्य और अपूर्व बात है। भारतवर्ष के लिए अभी यह बात एकदम नयी है। जिसके महाभाग्य होंगे, उसे यह बात सुनने को मिलती है और जिसे अन्दर में यह बात बैठ गयी, उसका तो कहना ही क्या ? उसका तो बेड़ा पार हो गया।**

सन्तों के अन्तरआत्मा में रहे हुए रहस्यों को खोलनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये भावों को ग्रहण करके हम भी उन्हें स्वानुभव से प्रमाण करें, यही भावना है।

इस नियमसार शास्त्र पर धारावाही अक्षरश: प्रवचन २१४ हैं। जिन्हें सात भागों में प्रकाशित किया जाएगा।

प्रस्तुत कारण-कार्यनियम, भाग-६ में नियमसार परमावश्यक अधिकार की गाथा १४१ से १५९ तथा कलश २३६ से २७१ तक के प्रवचनों को समायोजित किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अतीन्द्रिय आनन्दरस से सराबोर ऐसे कुल २४ प्रवचन अक्षरश: प्रकाशित किये गये हैं।

प्रवचन प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिखा जाता है। तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्टक भरा जाता है और प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य को श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा सम्पन्न किया गया है। जिसका प्रकाशन राजकोट दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट से हुआ है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है। मूल गाथाओं का बाबू युगलजी, कोटा एवं कलशों का पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, देवलाली कृत पद्यानुवाद भी समाहित है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्त में कारण नियमस्वरूप स्वशुद्धात्मा के लक्ष्य से सभी जीव कार्यनियम अर्थात् निश्चय मोक्षमार्गरूप परिणमित हों, इसी भावना के साथ.....

यह पुस्तक www.vitragvani.com पर भी उपलब्ध है।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध–विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व

की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित

हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र–गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग–मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर–कमलों से हुई।

जन्म–मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म–जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म

लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।

6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।

7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।

9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा / श्लोक नं.	पृष्ठ नं.
१६१	२१-०६-१९८०	१४१, २३६-२३७	१
१६२	२२-०६-१९८०	२३८	१८
१६३	२३-०६-१९८०	१४२, २३९	३४
१६४	२४-०६-१९८०	१४३, २४०-२४२	४९
१६५	२५-०६-१९८०	१४४, २४२-२४४	६७
१६६	२६-०६-१९८०	१४४-१४५, २४५	८४
१६७	२७-०६-१९८०	१४५-१४६, २४६	१०२
१६८	२८-०६-१९८०	१४६, २४७-२४९	११९
१६९	२९-०६-१९८०	२५०-२५२	१३३
१७०	३०-०६-१९८०	१४७, २५३-२५४	१४९
१७१	०१-०७-१९८०	१४७-१४७, २५५	१६६
१७२	०५-०७-१९८०	१४९, २५६-२५७	१८२
१७३	०६-०७-१९८०	२५८	१९९
१७४	०७-०७-१९८०	१५०, २५८	२१४
१७५	०८-०७-१९८०	१५१, २५९	२२९
१७६	०९-०७-१९८०	२६०-२६१	२४४
१७७	१०-०७-१९८०	१५२-१५३, २६२	२५९
१७८	११-०७-१९८०	१५४, २६३	२७४
१७९	१२-०७-१९८०	१५५, २६४	२९०
१८०	१३-०७-१९८०	१५६, २६५-२६६	३०६
१८१	१४-०७-१९८०	१५६-१५७, २६७-२६८	३२३
१८२	१५-०७-१९८०	१५८, २६९	३४२
१८३	१६-०७-१९८०	१५८, २७०	३५७
१८४	१७-०७-१९८०	१५९, २७१	३७१

ॐ

परमात्मने नमः।

कारण-कार्यनियम

(नियमसार-प्रवचन)

(भाग-६)

श्लोक-२३६

(अनुष्टुप्)

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ।।२३६।।

(वीरछन्द)

अति अपूर्व निज आत्म-जनित उत्तम भावों से जो उत्पन्न।
सुख के लिये यत्न करते यति वे ही होते जीवन मुक्त॥२३६॥

[श्लोकार्थ:] अति अपूर्व निजात्मजनित भावना से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिए जो यति यत्न करते हैं, वे वास्तव में जीवन्मुक्त होते हैं, दूसरे नहीं॥२३६॥

प्रवचन-१६१, श्लोक-२३६-२३७, गाथा-१४१, शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल ९, दिनांक २१-०६-१९८०

नियमसार, २३६ कलश।

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ।।२३६।।

[श्लोकार्थ:] **अति अपूर्व निजात्मजनित भावना से...** आहाहा! मोक्ष का कारण यह। **अति अपूर्व...** पूर्व में नहीं किया हुआ, ऐसा **निजात्मजनित...** अपना जो आत्मा आनन्द और ज्ञान, ऐसा जो निज आत्मा, उससे उत्पन्न हुई भावना। आहाहा! **अति अपूर्व**

निजात्मजनित भावना से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिये...आनन्द के लिये। अतीन्द्रिय आनन्द के लिये **जो यति यत्न करते हैं,...** आहाहा! निजात्मजनित सुख के लिये जो यति यत्न करते हैं, यह यत्न। यह यत्न। स्वरूप का यत्न अतीन्द्रिय आनन्द का यत्न, प्रयत्न जो करते हैं, वे वास्तव में जीवन्मुक्त होते हैं। आहाहा! वे ही वास्तव में केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। आहाहा! इसमें व्यवहार-फ्यवहार कहाँ गया? निमित्त और व्यवहार... आहाहा!

अति अपूर्व... अनन्त काल में नहीं किया हुआ। अनन्त.... अनन्त... अनन्त काल जो अज्ञानभाव में गया। वह नहीं की हुई **अति अपूर्व निजात्मजनित भावना...** अपने आत्मा से उत्पन्न हुई भावना। भावना की व्याख्या यह। निज आत्मा से उत्पन्न हुई भावना। राग और विकल्प की भावना नहीं। आहाहा! उससे उत्पन्न हुआ सुख। उससे उत्पन्न हुआ अतीन्द्रिय आनन्द। उसका जो यति-मुनि-यत्न करते हैं। जो मुनि वह यत्न करते हैं। आहाहा! यह मुनि की दशा! अभी तो कुछ का कुछ बाहर से खतोनी करते हैं।

अन्तर के आनन्द के सुख के लिये जिसकी भावना अन्दर है। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ है, उसमें जिसका यत्न है, वह जीवन्मुक्त है। वह पूर्ण पद को प्राप्त होने योग्य है। यह अस्ति की। **दूसरे नहीं**। ऐसी दशा के बिना दूसरे नहीं। आहाहा! यह अनेकान्त किया। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धन है; उसमें से उत्पन्न हुई भावना। आहाहा! अन्तर स्वरूप जो त्रिकाली भाव है, उसके अवलम्बन से उत्पन्न हुई भावना। आहाहा! उससे उत्पन्न होनेवाला सुख। उस भावना से उत्पन्न होनेवाला आनन्द। ये यति, जो आनन्द में यत्न करते हैं। आहाहा! श्लोक तो बहुत छोटा दो लाईन का है।

वे वास्तव में जीवन्मुक्त होते हैं,... उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है। आहाहा! **दूसरे नहीं**। व्यवहार क्रिया करनेवालों और निमित्त का आधार लेकर रहनेवालों को धर्म नहीं होता, उन्हें मुक्ति नहीं मिलती। आहाहा! धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसकी जो भावना, उससे उत्पन्न हुई—उस भावना से... आहाहा! उत्पन्न होनेवाला सुख। अतीन्द्रिय आनन्द का उत्पन्न होनेवाला सुख; उसके लिये जो यत्न करते हैं, वे यति और मुनि कहलाते हैं। आहाहा! वे वास्तव में मुक्ति को प्राप्त करेंगे। बहुत संक्षिप्त किया। आत्मजनित भावना से

उत्पन्न हुआ सुख, उस आनन्द में यत्न करते हैं... आहाहा! वे मुक्ति को प्राप्त करेंगे; दूसरे नहीं। आहाहा! अब इसमें व्यवहार का निषेध नहीं आया? पण्डितजी! व्यवहार का निषेध आया? व्यवहार से नहीं प्राप्त करते। आहाहा! यह २३६ (श्लोक पूरा) हुआ। आहाहा!

श्लोक-२३७

(वसंततिलका)

अद्वन्द्व-निष्ठ-मनघं परमात्म-तत्त्वं,
सम्भावयामि तदहं पुन-रेक-मेकम्।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः,
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ।।२३७।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमभक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः।

(वीरछन्द)

जो परमात्म तत्त्व रागादिक द्वन्दों में उपलब्ध नहीं।
पुनः पुनः मैं करूँ भावना केवल एक अनघ उसकी॥
मात्र मुक्ति की मुझे कामना भव सुख के प्रति मैं निष्काम।
मुझे लोक के अन्य पदार्थ समूहों से फिर है क्या काम॥२३७॥

[श्लोकार्थः] जो परमात्मतत्त्व (राग-द्वेषादि) द्वंद्व में स्थित नहीं है और अनघ (निर्दोष, मल रहित) है, उस केवल एक की मैं पुनः पुनः सम्भावना (सम्यक् भावना) करता हूँ। मुक्ति की स्पृहावाले तथा भवसुख के प्रति निःस्पृह ऐसे मुझे इस लोक में उन अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है?॥२३७॥

इस प्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) परमभक्त्यधिकार नाम का दसवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

श्लोक - २३७ पर प्रवचन

अद्वन्द्व-निष्ठ-मनघं परमात्म-तत्त्वं,
सम्भावयामि तदहं पुन-रेक-मेकम् ।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः,
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ।।२३७।।

श्लोकार्थ : आहाहा ! **जो परमात्मतत्त्व...** यह जो परमात्मा-परमस्वरूप जो भगवान आत्मा, वह **परमात्मतत्त्व (राग-द्वेषादि) द्वंद्व में स्थित नहीं है...** आहाहा ! आत्मा का जो परमात्मस्वरूप है, उसे ही आत्मा कहते हैं और उस आत्मा में राग-द्वेष का द्वन्द्व नहीं है। आहाहा ! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम का द्वन्द्व उसमें नहीं है। आहाहा ! **अनघ (निर्दोष, मल रहित) है,...** द्वन्द्व नहीं है और निर्दोष है। अस्ति-नास्ति की है। राग-द्वेष का द्वन्द्व-द्वैतपना नहीं है और अनघ है। अनघ—दोषरहित है। भगवान आत्मा अन्दर निर्दोष है, दोषरहित है। आहाहा ! **उस केवल एक की मैं...** आहाहा ! द्वन्द्व—राग-द्वेषरहित और निर्दोष भगवान आत्मा त्रिकाली; उसकी ही मैं, केवल एक की ही मैं **पुनः पुनः सम्भावना (सम्यक् भावना) करता हूँ।** आहाहा ! बारम्बार उसकी—आनन्द की भावना करता हूँ। सच्चिदानन्द प्रभु को पकड़कर बारम्बार आनन्द का अनुभव करता हूँ। आहाहा !

मुक्ति की स्पृहावाले... कहते हैं कि मैं कौन हूँ ? मुक्ति की स्पृहा। एक मुक्ति की ही इच्छा है। दूसरी किसी प्रकार की वृत्ति नहीं है। **मुक्ति की स्पृहावाले तथा भवसुख के प्रति निःस्पृह...** भव के सुख के प्रति स्पृहा बिना। भव के सुख की वृत्ति जरा भी नहीं है और पूर्ण आनन्द, आत्मा की प्राप्ति की तत्परता। आहाहा ! पूर्णानन्द ऐसा आत्मा, उसकी तत्परता। भव के सुख की जरा भी स्पृहा नहीं कि भाई यहाँ से इसमें पुण्य करूँगा तो सुख मिलेगा और सर्वार्थसिद्धि जाया जायेगा। देव का (वैभव मिलेगा)। (ऐसी) कुछ स्पृहा नहीं है। आहाहा !

मुक्ति की स्पृहावाले तथा भवसुख के प्रति निःस्पृह ऐसे मुझे इस लोक में उन अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है ? आहाहा ! इस जगत में मेरे प्रभु के अतिरिक्त मुझे अन्य पदार्थ से क्या काम है ? आहाहा ! मुझे पंच परमेष्ठी से भी क्या काम है ? ऐसा कहते

हैं। क्योंकि पंच परमेष्ठी के ऊपर नजर जायेगी तो राग होगा। आहाहा! अन्य पदार्थ समूह। अन्य पदार्थों का समूह। आहाहा! अनेक अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। आहाहा! जिनके समूह-ढेर है। उनसे मुझे क्या प्रयोजन है ? आहाहा! मेरा भगवान पूर्ण भरपूर है। उससे उत्पन्न हुए आनन्द का यत्न करनेवाला, उसकी स्पृहा करनेवाला; संसार के सुख की स्पृहा छोड़कर... आहाहा! मुझे अन्य पदार्थ के साथ क्या काम है ?

अरे! **उन अन्य पदार्थ...** ऐसी भाषा क्यों ली! इस लोक में वे-अन्य, ऐसा। उस अर्थात्। मुझसे जो अन्य ऐसे **अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है ?** आहाहा! पंच परमेष्ठी के स्मरण से भी क्या फल है। राग है। आहाहा! मूल निज चैतन्य की कीमत की नहीं, इसलिए पर की कीमत जाती नहीं। उसका माहात्म्य नहीं आता, इसलिए परवस्तु का माहात्म्य नहीं मिटता। आहाहा! जिसे आत्मा की महिमा और महत्ता का भाव आवे, उसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी पदार्थ के प्रति महिमा नहीं आती। परमेश्वर के प्रति भी महिमा नहीं आती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मेरा परमेश्वर... आहाहा! ऐसा जो मैं आत्मा, उसे उस... उस अन्य पदार्थ समूह। उस अर्थात् अन्य पदार्थ। आहाहा! **अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है ?** उससे मुझे क्या फल ? यह भक्ति का अधिकार पूरा करते हैं। इसका-पर की भक्ति का भी मुझे क्या फल ? ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह अधिकार पूरा हुआ।

-११-
निश्चय-परमावश्यक अधिकार

गाथा-१४१

अथ साम्प्रतं व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते।

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो।।१४१।।

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम्।
कर्मविनाशन-योगो निर्वृत्ति-मार्ग इति प्ररूपितः।।१४१।।

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम्। यः खलु यथाविधि परमजिन-मार्गाचरणकुशलः सर्वदैवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः। तस्य किल व्यावहारिकक्रियाप्रपञ्चपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधानपरमावश्यक-कर्मास्तीत्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति।

किञ्च यस्त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्मविनाश-हेतुः स एव साक्षान्मोक्षकारणत्वान्निर्वृत्तिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्र

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं,
नित्यानन्द-प्रसर-सरसे ज्ञान-तत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चै-रविचलतया निःप्रकम्प-प्रकाशां,
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्।।

अब व्यवहार छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय का (शुद्धनिश्चय-आवश्यक का) अधिकार कहा जाता है।

नहिं अन्यवश जो जीव आवश्यक करम होता उसे।
यह कर्म-नाशक योग ही निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे॥१४१॥

अन्वयार्थ : [यः अन्यवशः न भवति] जो अन्यवश नहीं है (अर्थात् जो जीव अन्य के वश नहीं है) [तस्य तु आवश्यकम् कर्म भणन्ति] उसे आवश्यक कर्म कहते हैं (अर्थात् उस जीव को आवश्यक कर्म है, ऐसा परम योगीश्वर कहते हैं)। [कर्मविनाशनयोगः] कर्म का विनाश करनेवाला योग (-ऐसा जो यह आवश्यक कर्म) [निर्वृत्तिमार्गः] वह निर्वाण का मार्ग है [इति प्ररूपितः] ऐसा कहा है।

टीका : यहाँ (इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है, ऐसा कहा है।

विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव सदैव अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है परन्तु साक्षात् स्ववश है [1]ऐसा अर्थ है, उस व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को [2]स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है, ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। और, सकल कर्म के विनाश का हेतु ऐसा जो [3]त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षण परम योग, वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निर्वाण का मार्ग है। ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका नामक टीका में पाँचवें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(मंदाक्रांता)

''आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्॥''

---

१. 'अन्यवश नहीं है' इस कथन का 'साक्षात् स्ववश है' ऐसा अर्थ है।

२. निज आत्मा जिसका आश्रय है, ऐसा निश्चयधर्मध्यान परम आवश्यक कर्म में प्रधान है।

३. परम योग का लक्षण तीन गुप्ति द्वारा गुप्त (-अन्तर्मुख) ऐसी परम समाधि है। [परम आवश्यक कर्म ही परम योग है और परम योग, वह निर्वाण का मार्ग है।]

[श्लोकार्थ:] इस प्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप से परिणमित होता हुआ नित्य आनन्द के विस्तार से सरस (अर्थात् जो शाश्वत आनन्द के विस्तार से रसयुक्त हैं) ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलपने के कारण, दैदीप्यमान ज्योतिवाले और सहजरूप से विलसित (-स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्नदीपक की निष्कम्प-प्रकाशवाली शोभा को प्राप्त होता है (अर्थात् रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही निष्कम्परूप से अत्यन्त प्रकाशित होता रहता है—जानता रहता है)।

गाथा - १४१ पर प्रवचन

निश्चय परमआवश्यक-११वाँ अधिकार। उसमें पहले ही यह लिखा है, देखो! **अब व्यवहार छह आवश्यक...** व्यवहार सामायिक, व्यवहार चौबीसंथो, व्यवहार वन्दन, सामायिक करना, वन्दन, प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिक्रमण, काउसग्ग.. और प्रत्याख्यान। यह **व्यवहार छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष...** यहाँ तो स्पष्ट आया। **छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष...** आहाहा! अब वह कहते हैं या नहीं, प्रतिपक्ष यहाँ नहीं। मिथ्यात्व ही एक प्रतिपक्ष लेना। आहाहा! इसमें तीन जगह आयेगा। इस आवश्यक अधिकार में तीन जगह आयेगा। आहाहा! व्यवहार छह आवश्यक। व्यवहार सामायिक, आत्मा के भान बिना, आत्मा के ज्ञान बिना भगवान की स्तुति और भक्ति और वन्दन, कायोत्सर्ग और आत्मा के भान बिना प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग इन **छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष...** छह आवश्यक का फल तो संसार है, राग है। आहाहा! यह सामायिक और चौबीसंथो, आत्मा के भानरहित जो छह (आवश्यक) उसका फल संसार है। छह आवश्यक अनन्त बार किये हैं। आहाहा! उसके फल अनन्त बार देवरूप से प्राप्त हुए हैं। चार गति में भटकना मिटा नहीं। एक भव घटा नहीं। आहाहा! क्योंकि स्वयं छह आवश्यक भवस्वरूप है, संसारस्वरूप है। आहाहा!

व्यवहार छह आवश्यक, वह संसारस्वरूप है। राग है, वह संसारस्वरूप है। राग, वह संसार है। शास्त्र में तो शरीर को संसार कहा है। यह शरीर, वह संसार है। आहाहा! शरीर, वह संसार है तो शरीर की क्रिया से आत्मा का कल्याण हो, संसार की क्रिया से

आत्मा को कल्याण हो। शरीर को सत् में जोड़ देना, सत् क्रिया में जोड़ देना। सदाचरण। यह सदाचरण नहीं है। यह तो असदाचरण है। सदाचरण तो सत् ऐसी वस्तु भगवान शुद्ध आनन्दस्वरूप में रमना, वह सदाचरण है। उस सदाचरण से विरुद्ध छह आवश्यक व्यवहार सदाचरण वह विरुद्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : सदाचरण को कहीं तो मैत्री कही और कहीं विरोध बताया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैत्री, वह तो है इतना बताते हैं। यह कलश में तो है, तथापि इसका अर्थ कलशकार ने दूसरा किया है। वह तो 'हेमचन्द्र' ने मैत्री किया है। यहाँ तो विरुद्ध किया है। विरोध है। अशुद्धता का टलना, वह मैत्री है। अशुद्धता का रहना, वह मैत्री नहीं। बाद के कलश में आता है न। है न ख्याल सब है। निश्चय और व्यवहार की मैत्री आता है, परन्तु वह व्यवहार की मैत्री अर्थात् अशुद्धता का त्याग, वह व्यवहार की मैत्री। आहाहा! कलश टीकाकार ने ऐसा अर्थ किया है। अशुद्धता का त्याग और शुद्धता का ग्रहण, वह मैत्री है। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों साथ रहे, इस अपेक्षा से मैत्री ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों साथ रहते हैं। एक का फल संसार है और एक का फल मुक्ति है। वीतराग न हो, तब तक दोनों साथ रहते हैं। यह कलश है न! जब तक कर्म की विरति पूर्ण न हो, तब तक ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों साथ रहती हैं। साथ रहने में विरोध नहीं है। मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन जैसे साथ में रहे, इसमें विरोध है; वैसे सम्यक्चारित्र को और राग को साथ रहने में विरोध नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम। निवृत्ति नहीं मिलती और यह उपदेश घट गया। आहाहा! लोग कुछ रास्ते में अटक गये बेचारे। भवभ्रमण खड़ा रहकर भवभ्रमण में चले जानेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **व्यवहार छह आवश्यकों से...** तो विरुद्ध। **प्रतिपक्ष...** कहा न ? वह ज्ञानमती कहती है, नियमसार में सार कहा वह विरुद्ध कहा, वह मिथ्यात्व का है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की क्रिया जो व्यवहार है, वह विरुद्ध नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि छह आवश्यक भी विरुद्ध है। आहाहा! अरेरे! क्या हो ? मूल जहाँ आत्मा अन्दर वस्तु। सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सर्वांग भरपूर भगवान, उसकी अन्तर रुचि-दृष्टि

और आचरण (होवे), उस आचरण से छह आवश्यक विरुद्ध है। छह आवश्यक राग है और यह आचरण तो अराग है। स्वरूप के आचरण का स्वरूप, स्वरूप के आचरण का स्वरूप वीतरागता है और यह छह आवश्यक व्यवहार है, इनका स्वरूप राग है। आहाहा! इसलिए व्यवहार प्रतिपक्ष से, व्यवहार से वह निश्चय विरुद्ध है। तीन जगह आयेगा।

अब व्यवहार छह आवश्यकों से... आहाहा! **प्रतिपक्ष...** ऐसा तो कथन है। तो भी अपनी दृष्टि से अर्थ करते हैं। ऐसा कहे, नियम है, वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है तो उसके विरुद्ध का आचरण विरुद्ध चाहिए। उसके बदले नियम के विरुद्ध में मिथ्यात्व लिया। वह ज्ञानमती महिला है न आर्यिका, हस्तिनापुर में है, वह ऐसा अर्थ करती है। अर्थ का अनर्थ किया, ऐसा लिखती है। यहाँ ये लोग छह आवश्यक से 'नियमसार' यह सार अर्थात् निश्चय से वह विरुद्ध है, उसे सार कहा है। 'विपरीत के परिहार हेतु सार शब्द परिकथित है।' आत्मा के आश्रय बिना पराश्रय से जितना विकल्प उठे—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भगवान की भक्ति, वह सब पराश्रय है, निश्चय से विरुद्ध है। आहाहा!

व्यवहार छह आवश्यकों से... यह आचार्य स्वयं कहते हैं। देखो! '**सांप्रतं**' है न? **व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते।** व्यवहार छह आवश्यकों से विरुद्ध ऐसे निश्चय आवश्यक का कथन करेंगे। क्या कहते हैं? आहाहा! यह तो व्यवहार करो, करते-करते होगा, व्यवहार से होगा। राग करते-करते शुद्ध होगा, आकुलता करते-करते निराकुलता होगी। आहाहा! यहाँ यह निषेध करते हैं।

स्व-आश्रय से होनेवाली दशा, वह मुक्ति का कारण और पराश्रय से होनेवाली दशा वह संसार का कारण-यह सिद्धान्त रखकर सब बात है। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसके आश्रय से होनेवाली दशा, वह मुक्ति का कारण है। इसके बिना तीन लोक के नाथ हों, उनके आश्रय से होने पर भी राग और संसार है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! दीये रखा होगा इनने। ऐसे होगा और वैसे होगा और अमुक होगा। आहाहा! मार्ग बहुत (सूक्ष्म), चैतन्य का मार्ग चैतन्य का आश्रय। संसार का मार्ग, परद्रव्य का आश्रय। आहाहा! दो सिद्धान्त पूरे। आहाहा!

अब व्यवहार छह आवश्यकों से... वर्णन यह करते हैं। **प्रतिपक्ष...** अर्थात् विरुद्ध। **शुद्धनिश्चय का (शुद्धनिश्चय-आवश्यक का)...** आत्मा के आश्रय से होनेवाली

दशा। सामायिक, चौबीसंथो, वन्दन आदि। आत्मा आनन्दकन्द के आश्रय से होनेवाला आनन्द, ऐसा जो अतीन्द्रिय आनन्द का निश्चय आवश्यक, उसका इसमें वर्णन करेंगे। छह आवश्यक व्यवहार से विरुद्ध का वर्णन करेंगे। आहाहा! कहा न? **(शुद्धनिश्चय-आवश्यक का) अधिकार कहा जाता है**। प्रतिपक्ष का। छह आवश्यक से विरुद्ध का इसमें वर्णन करेंगे। आहाहा!

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ।।१४१।।

नहिं अन्यवश जो जीव आवश्यक करम होता उसे।
यह कर्म-नाशक योग ही निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे ॥१४१॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को... आहाहा! श्रीमद् में एक पत्र आता है। भाई ने कल पूछा नहीं था? चेतनजी। ऐसा कि निश्चय में से जरा व्यवहार में आवे इसलिए... एक पत्र है। वह व्यवहार आता है परन्तु वह मार्ग नहीं है। आहाहा! अन्दर स्थिर नहीं हो सकता। दृष्टि होने पर भी, अनुभव होने पर भी उपयोग उसमें रह नहीं सकता, तब उपयोग राग में-व्यवहार में आता है परन्तु उस व्यवहार में राग बन्ध का कारण है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! चिल्लाहट मचाये ऐसा है न? सामायिक और आवश्यक करते हैं न सब! लड़कियाँ लड़के सामायिक और प्रोषध और आठ-आठ उपवास चारों प्रकार के आहार का त्याग और तपस्या (करते हैं)। धूल में भी तपस्या नहीं है। लंघन है। आहाहा!

जहाँ भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य निरन्तर स्ववश है। आहाहा! ....उसे परवश की गन्ध उसमें नहीं है। **निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है...** क्या कहा? निरन्तर जो आत्मा आनन्द प्रभु, उस आनन्द के आश्रय से छह आवश्यक है। आहाहा! निरन्तर। किसी समय भी व्यवहार के आश्रय से छह आवश्यक धर्म के हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! **निरन्तर...** बीच में व्यवहार आवे तो भी उसका आश्रय नहीं। **निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है...** आत्म भगवान पूर्णानन्द का स्वभाव, उसके आश्रय से जो दशा, वह आवश्यक कर्म है, वह सामायिक कार्य है, वह चौबिसंथो का कार्य है। आहाहा! अब यह बात सुनी न हो, वह बाहर में सिरपच्ची कर डाले। आहाहा!

(इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को... अन्तर पड़े बिना ज्ञानानन्दस्वभाव नित्य

और ध्रुव है, उसके आश्रय से निश्चय आवश्यक कार्य होता है। कर्म अर्थात् कार्य। निश्चय आवश्यकरूपी कर्म अर्थात् कार्य, अर्थात् मोक्ष का मार्ग। आहाहा! ऐसा कठिन पड़ता है। व्यवहार साधन है... व्यवहार साधन है। शास्त्र में आवे, हों! ऐसा।

मुमुक्षु : दोनों को साधन कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो साध्य हुआ है, पश्चात् यह साधन का आरोप दिया जाता है। हुए बिना का साधन, अकेला साधन-फाधन है ही नहीं। आहाहा! आत्मा का अनुभव हुआ, स्थिरता हुई, पूर्ण स्थिरता नहीं है, वहाँ राग की मन्दता आवे, उसे व्यवहार साधन का आरोप दिया जाता है। आहाहा! निश्चय साधन है, उसे व्यवहार साधन का आरोप दिया जाता है। निश्चय साधन अन्तर का आश्रय जहाँ नहीं, उसे व्यवहार साधन आरोप से भी नहीं कहा जाता। आहाहा! ऐसा मार्ग! **ऐसा कहा है।**

(इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को... आहाहा! भगवान की भक्ति का विकल्प उठे, वह परवश है। आहाहा! सामायिक का पाठ बोलकर बैठना कि मुझे सामायिक हुई, वह सब परवश है। आहाहा! वह पराधीन राग है, संसार है। आहाहा! **(इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है, ऐसा कहा है।** ऐसा भगवान ने कहा है, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी भावना के लिये भी यह बनाया है। आहाहा! नियमसार अपनी भावना के लिये बनाया है। भगवान ऐसा कहते हैं कि स्ववश के आश्रय आवश्यक कर्म है, ऐसा कहा है। पराश्रय जितना लक्ष्य जाता है... आहाहा! उतना बन्ध का कारण है। चाहे तो भगवान की भक्ति का स्मरण रहे, अन्दर पंच परमेष्ठी का स्मरण हो परन्तु है बन्ध का कारण। परद्रव्य के आश्रय से भाव (हो, वह) बन्ध का कारण है। स्वद्रव्य के आश्रय से भाव (हो), वह मुक्ति का कारण है। दोनों एकदम विरुद्ध हैं। आहाहा!

विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव... आहा! **विधि अनुसार...** आत्मा की अनुकूलता में अन्दर में जाना, यह विधि के अनुसार है। आहाहा! **विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल...** परम जिनमार्ग-वीतरागमार्ग के आचरण में कुशल। आहाहा! **ऐसा जो जीव सदैव अंतर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है...** आहाहा! विधि के अनुसार, आत्मा के अनुसार, ऐसा कहते हैं। विधि अर्थात् यह। आत्मा चैतन्य आनन्दस्वरूप अनाकुल निराकुल निर्विकल्पस्वरूप है। आहाहा! उसकी

विधि के अनुसार परम जिनमार्ग में-आचरण में कुशल। आहाहा! ऐसा तो कितनों ने सुना नहीं होगा, लो! बाहर में सिरपच्ची (किया करे)। **ऐसा जो जीव...** कैसा? आत्मा की जो अन्तर में उतरने की विधि है, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जहाँ अन्तर में उतरने की, इस विधि के अनुसार।

मुमुक्षु : पहले व्यवहार लिया, फिर निश्चय लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। व्यवहार कहाँ? यह तो विधि अनुसार अन्तर लिया। व्यवहार विधि की बात ही नहीं है।

मुमुक्षु : भाई कहते हैं कि विधि का अर्थ व्यवहार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। पहले अर्थ किया न? विधि के दो अर्थ होते हैं : एक विधि कर्म और एक विधि आत्मा के अनुसार। आहाहा!

विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल... यह विधि। चैतन्यमूर्ति भगवान के सन्मुख में दृष्टि, ज्ञान और चारित्र (होवे), वह उसकी विधि। आहाहा! नहीं तो शब्द में, कर्म में विधि आती है। विधि के वश पड़ा, विधि का नाश किया, ऐसा शब्द आता है। विधि अर्थात् कर्म। यहाँ वह नहीं है। यहाँ तो पहले कहा न? स्ववश को निश्चय आवश्यक कर्म है, ऐसा कहा है। पहली ही लाईन में कहा है। आहाहा! **विधि अनुसार...** वह विधि ही यह है। चैतन्य भगवान पूर्णानन्द के नाथ को अनुसरणा, यही विधि है। आहाहा! उसे अनुसरकर होना, इसका नाम विधि है। राग के अनुसार होना, इसका नाम कविधि है, अविधि है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप सब अर्थ ही अलग करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न अन्दर! यह क्या कहा? पहले से क्या कहा? कि इसमें निश्चय आवश्यक निरन्तर स्ववश को निश्चय आवश्यक है, ऐसा कहना है। आहाहा! यह भगवान आत्मा की विधि; कर्म की विधि नहीं, वह तो संसार। इसमें वह कहना नहीं है।

भगवान चैतन्यस्वरूप के दर्शन-ज्ञान-चारित्र के चैतन्यपरिणाम, यह **विधि अनुसार परमजिनमार्ग के...** मार्ग है न? यहाँ मार्ग की बात करनी है न? **परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल...** आहाहा! वीतराग में रहने को कुशल। अन्तर वीतरागीदशा में चाहे जिस प्रकार

भी रहने में चतुर-कुशल। वीतरागभाव अन्दर। कुछ किसी चीज़ की अन्दर आशा या स्पृहा या आश्रय है ही नहीं। आहाहा! **विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव सदैव अंतर्मुखता के कारण...** लो। विधि अनुसार यह। सदा ही अन्तर्मुखपना। जहाँ भगवान पूर्ण स्वरूप है - अन्तर्मुख, वहाँ सदा अन्तर्मुख दृष्टि रखकर। आहाहा! **अंतर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है...** वह पर के वश नहीं है।

यह आवश्यक का अधिकार है न? आहाहा! पर के वश है, वह आवश्यक नहीं। स्व के वश है, वह आवश्यक है। अवश्य कर्म होवे तो यह है। आवश्यक अर्थात् अवश्य कार्य। आवश्यक और अवश्य कार्य होवे तो इस भगवान आत्मा को अनुसरकर अन्तर में दर्शन-ज्ञान-चारित्र में आना, इस विधि के अनुसार है। आहाहा! कठिन लगे। समय मिले नहीं। अभी तो निर्णय करने का समय नहीं मिलता। ध्यान पर बात आना मुश्किल पड़ती है। लोग नहीं कहते?—कि भाई! मैं कहता हूँ, उसे ध्यान में तो ले। फिर तुझे करना हो वैसा करना। तुझे करना हो, वह करना परन्तु ध्यान में तो ले। कहते हैं या नहीं ऐसा? इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि तू ध्यान में तो ले। फिर उसमें रुचि करके अन्दर में जा। ऐसा भी कहीं आता है, ध्यान में ले, फिर तुझे ठीक पड़े वैसा करना। ऐसा भी आता है। दशवैकालिक की गाथा। बात ध्यान में ले, फिर कैसे करना, वह तेरी मर्जी। आहाहा!

ऐसा जो जीव सदैव अन्तर्मुखता के कारण.... आहाहा! सदा अन्तर्मुख शुद्धोपयोग। आहाहा! आत्मा की ओर का जो उपयोग, वह शुद्धोपयोग। परपदार्थ भगवान आदि परमेश्वर की ओर का उपयोग, वह अशुद्धोपयोग। आहाहा! यह **सदैव अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है...** परवश नहीं है। **परंतु साक्षात् स्ववश है...** आहाहा! अन्तर में चैतन्यभगवान अनन्त गुण की खान है। उसका आश्रय, वह स्ववश है। आहाहा! चाहे तो फिर भगवान की भक्ति आदि विनय, वह सब परवश है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरुभक्ति होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो वह परवश है। यहाँ पहले नहीं कहा? - कि उस परपदार्थ का मुझे क्या काम? आहाहा! अभी तो यह सब इस प्रकार फूंकते हैं। सभा भरे, मैं ऐसा करूँ, मैं ऐसा करूँ। वह तो अजैनमार्ग है। आहाहा! अजैन को जैनरूप से मनाते हैं। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा!

अन्तर के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव। अन्तर के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव। आहाहा! वह सदा अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है। आहाहा! उसे विकल्प नहीं है। वह परवश नहीं है। **परन्तु साक्षात् स्ववश है...** आहाहा! **ऐसा अर्थ है,...** है? अन्यवश नहीं। इस कथन का अर्थ साक्षात् स्ववश है, ऐसा। अन्यवश नहीं, इसका साक्षात् स्ववश है ऐसा अर्थ है। अन्यवश नहीं, इसका अर्थ स्ववश है। आहाहा! देव-गुरु और धर्म के वश में भी नहीं, वह स्ववश है। आहाहा! देव-गुरु के सान्निध्य में आया था न! सान्निध्य में आया था, वह तो सुनने के लिये, परन्तु होने के काल में वह लक्ष्य छोड़ देना है। आहाहा! अन्तर में स्व का आश्रय लिये बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन काल में नहीं होते। पर के आश्रय से कुछ तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह कहते हैं।

व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख... देखो! लो, आया? **व्यावहारिक क्रियाप्रपंच...** दया, दान, सामायिक, चौबीसंथो वन्दना और यह सब व्यवहार, छह आवश्यक व्यवहार। व्यवहार आवश्यक क्रियाप्रपंच। वह तो क्रिया का प्रपंच है। आहाहा! है या नहीं? शान्तिभाई! कभी पढ़ा नहीं होगा यह। आहाहा! **यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को...** आहाहा! क्या यह टीका! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, मैंने मेरे लिये बनाया है। इसका अर्थ - टीका करनेवाले निकले पद्मप्रभमलधारिदेव। आहाहा! वे कहते हैं कि मैंने तो मेरे लिये यह बनाया है। आहाहा! **व्यावहारिक क्रियाप्रपंच...** जितनी दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, भगवान का स्तवन-स्तुति यह सब क्रिया का प्रपंच है। आहाहा! भगवान का स्मरण करना, यह क्रिया का प्रपंच है। क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द से विरुद्ध भाव है, इसलिए यह क्रियाप्रपंच है। आहाहा!

व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्म-ध्यानप्रधान... आहाहा! स्व-आश्रित, देखा! आहाहा! **निज आत्मा जिसका आश्रय है, ऐसा निश्चयधर्मध्यान परम आवश्यक कर्म में प्रधान है।** आहाहा! अवश्य कार्य में वह मुख्य है। आहाहा! **पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है...** यह परम आवश्यक। अवश्य कार्य करनेयोग्य यह है। आहाहा! निश्चय की बात तो सुने, तब ऐसा लगे कि यह तो कोई एकान्त की बात है—ऐसा लोगों को लगता है। निश्चय, वह सत्य है, परमसत्य है। व्यवहार, वह आरोपित है; वह वास्तविक सत्य नहीं है। आहाहा! आहाहा!

स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है... उसे परम-जरूरी कार्य है। आहाहा! स्व-आत्माश्रित निश्चयधर्मध्यानप्रधान। जहाँ निश्चयधर्मध्यान मुख्य है, उसे परम आवश्यक कर्म है। आहाहा! **ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन...** आहाहा! ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण अर्थात् आत्मा। आत्मा में लीन वह परम तपस्या। अपवास-वपवास करना, वह सब लंघन है। आहाहा! है ?

निरन्तर परमतपश्चरण में लीन... कौन? कि परम आवश्यक कर्म है वह। **स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान...** यह परम तपस्या है। आहाहा! इसका नाम परम तपस्या। यह आत्मा के आश्रय से (होती है)। पराश्रय **क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम...** जरूरी कार्य। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द (होना), वह जरूरी कार्य है। आहाहा! **ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन...** उसे तपस्या कहा है। देखा! अपवास किया, अमुक किया, उसे तपस्या नहीं कहा। अन्तर स्वरूप में लीन, वह परमतपश्चरण है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह सब जगह परम क्यों लगाते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परम उत्कृष्ट तप है। वह व्यवहार नाममात्र है। नाममात्र है। यथार्थमात्र यह है। परमतपश्चरण। आहाहा! अन्तर आनन्दस्वरूप में लीन होना, वही परम तपस्या है। वह तो नाममात्र है, परम नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अपवास करना और फिर अट्ठम करना और अट्ठम के पारणे पोरसी करे तो पच्चीस अपवास का लाभ हो, ऐसा सब कहते हैं। अट्ठम करे और उसमें यदि पोरसी करे तो पच्चीस का लाभ होता है। आहाहा! संसार में भटकने का लाभ होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

निरन्तर परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। वह यह बात परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। यह कहीं मैं कहता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! है? **व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है, ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वर कहते हैं।** अज्ञानी किसी को आवश्यक क्रियाकाण्ड और बाहर को कहते हैं। आहाहा! **परमजिनयोगीश्वर कहते हैं।** आहाहा!

सकल कर्म के विनाश का हेतु... पूर्ण कर्म के नाश का कारण **ऐसा जो त्रिगुप्तिगुप्त-**

परमसमाधिलक्षण... त्रिगुप्तिगुप्त। आहाहा! **परम योग का लक्षण तीन गुप्ति द्वारा गुप्त...** नीचे अर्थ है। **परम योग का लक्षण...** मन-वचन-काया तीन को गुप्त। उनकी ओर का झुकाव छोड़कर **तीन गुप्ति द्वारा गुप्त (-अन्तर्मुख) ऐसी परम समाधि है।[परम आवश्यक कर्म ही परम योग है और परम योग, वह निर्वाण का मार्ग है।]** नीचे अर्थ है। आहाहा! **त्रिगुप्तिगुप्त...** अर्थात् मन-वचन-काया तीन ओर से गुप्त। तीनों की क्रिया, वह नहीं। मन की क्रिया नहीं, वाणी की नहीं, देह की नहीं। आहाहा! वह परमजिनयोगीश्वर उसे कहते हैं।

और, सकल कर्म के विनाश का हेतु ऐसा जो त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षण परम योग... त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षण परम योग... आहाहा! अन्तर योग का लक्षण क्या? आत्मा में अन्तरयोग आनन्द में एकाग्र होना, उसका लक्षण क्या? कि त्रिगुप्तिगुप्त - परमसमाधिलक्षण, वह उसका लक्षण है। आहाहा! मन, वाणी और देह तीन से छूटकर उनके झुकाववाली क्रिया से भी छूटकर आत्मा के स्वरूप में परमसमाधि त्रिगुप्तिसहित, उसे यहाँ परमयोग कहा जाता है। परमयोग - परमव्यापार। आहाहा! परमयोगी। योग में योग जुड़े, वह परमयोगी। आहाहा!

वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से... आहाहा! वही साक्षात् अन्तर में एकाग्रता। मन-वचन-काया की क्रिया से छूटकर अन्तर में गुप्त हो जाना। आहाहा! वही एक मोक्ष का कारण होने से **साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निर्वाण का मार्ग है। ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।** ऊपर कहा न? '**पिज्जुतो**' '**णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुतो**' कहा था न? चौथा पद है न, उसका अर्थ किया। व्युत्पत्ति का अर्थ ऐसा है। '**पिज्जुतो**' व्युत्पत्ति का अर्थ ऐसा है कि स्ववश में लीन होना, इसका नाम व्युत्पत्ति है। दूसरी व्युत्पत्ति लगाकर पर और व्यवहार से ऐसा होता है, वैसा होता है, यह व्युत्पत्ति नहीं है। आहाहा! **ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।** विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१६२, श्लोक-२३८, रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल १०, दिनांक २२-०६-१९८०

नियमसार। श्लोक है। है प्रवचनसार का। अमृतचन्द्राचार्य का आधार देते हैं।

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं,
नित्यानन्द-प्रसर-सरसे ज्ञान-तत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चै-रविचलतया निःप्रकम्प-प्रकाशां,
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्॥

आहाहा! धर्म का स्वरूप ऐसा है, प्रभु! शुद्धोपयोग को प्राप्त करना, वह धर्म है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह तो शुभराग है। यह तो आत्मा को नुकसान करनेवाला है। आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, यह तो पाप है, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह भी पुण्य बन्धन और संसार का कारण है। ये दोनों शुभ-अशुभभाव अशुद्धोपयोग कहलाता है। दोनों धर्म नहीं है, दोनों अधर्म हैं। आहाहा! इस अशुद्धोपयोग से रहित शुद्धोपयोग, वह धर्म है। है ?

श्लोकार्थः इस प्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके... आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द की मूर्ति प्रभु का उपयोग लगा दे। शुभ-अशुभराग तो बन्धन का कारण है, संसार है। शुभ-अशुभभाव, दोनों संसार है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु में उपयोग जोड़ दे। इसका नाम शुद्धोपयोग कहलाता है। शुभ-अशुभ उपयोग, दोनों अशुद्धोपयोग मलिन और बन्धन का कारण है। आहाहा! शुद्धोपयोग, चैतन्य शुद्ध वस्तु है, सच्चिदानन्द मूर्ति प्रभु है, उसका उपयोग जो शुद्ध; जिसमें राग के कण की अपेक्षा नहीं... आहाहा! जिसमें अकेला चिदानन्द आत्मा ही उपयोग में वर्तता है, उस उपयोग को शुद्धोपयोग-धर्म कहा जाता है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! कभी सुना नहीं था वहाँ। भटकने में सब, भटकने में गया न ? आये न, भाग्यशाली। यह वस्तु, बापू! सुनने को मिलती नहीं, भाई! आहाहा!

प्रभु अन्दर चैतन्य ज्ञानानन्दस्वरूप विराजमान है। जिसकी सत्ता में अनन्त शक्तियाँ पड़ी है। शक्तिवान स्वयं है। प्रभु स्वयं आत्मा शक्तिवान है, उसमें अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। आहाहा! उन अनन्त शक्ति का भी भेद लक्ष्य में न लेकर... आहाहा! शुभ और अशुभराग

का उपयोग तो मैल और बन्धन का कारण है। परन्तु आत्मा में एकरूप है, तो भी अनन्त शक्तियाँ, उनका भेद भी लक्ष्य में लेने से राग हो, ऐसा है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! अरे! इसकी प्रभुता, इसे महत्ता जँचती नहीं। बाहर की चीज़ की महिमा इतनी मिठास घुस गयी कि जो देखा नहीं, उसकी मिठास ही नहीं। देखता है, उसकी मिठास घुस गयी है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप नमून चखाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यहाँ तो वस्तु यह है, प्रभु! यहाँ तो प्रभुरूप से बुलाते हैं। आचार्यों ने भगवानरूप से बुलाया है। हे भगवान! आहाहा! रंक और राजा सबको आचार्य ने (समयसार की) ७४ गाथा में तीन बार भगवानरूप से सम्बोधन किया है। आहाहा! ७४ गाथा। प्रभु! शुभ-अशुभभाव, वह मलिन है। पहला बोल है। भगवान निर्मलानन्द है - ऐसा वहाँ ७४ गाथा में कहा है। आहाहा! ७२ गाथा, ७२। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण, पंच परमेष्ठी की भक्ति और उन्हें मस्तिष्क में याद करना, वह सब संसार और राग है, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : किस धर्म की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा के धर्म की बात है।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजमान है। आहाहा! अरे रे! उनका विरह पड़ा। पंचम काल में केवलज्ञान रहा नहीं। प्रभु के पास से विरह पड़ा। आहाहा! ऐसा यह धर्म तीन लोक के नाथ अनन्त तीर्थंकरों ने स्वीकार किया। प्रभु! तेरी प्रभुता की बात क्या करें? वचनातीत-विकल्पातीत तेरी चीज़ है। उसे हम वचन द्वारा प्रभुरूप से तुझे कहते हैं। आहाहा! भगवानरूप से तुझे कहते हैं और हम ऐसा कहते हैं कि हम तो भगवान हुए... आहाहा! प्रभु! सब भगवान होओ, दुःखी न होओ! राग का विकल्प उठता है, वह दुःख है, नाथ! आकुलता है, वेदन में दुःख है। आहाहा!

इस प्रकार... प्रवचनसार **शुद्धोपयोग को प्राप्त करके...** पंचम काल के साधु पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। ऐसा नहीं कहते कि तुझे प्राप्त नहीं होगा। चन्दुभाई! आहाहा! पंचम काल के सन्त, पंचम काल के अप्रतिबुद्ध शिष्य को कहते हैं, हे शिष्य! इस प्रकार,

जो विधि कही, उस प्रकार से शुद्धोपयोग को प्राप्त कर। पुण्य-पाप के परिणाम का विकल्प है, वह वृत्ति छोड़। आहाहा!

प्रभु! शरीर में किस प्रकार की वेदना आयेगी? शरीर में किस प्रकार का रोग आयेगा? वह जड़ है, मिट्टी है। उस मिट्टी में कब क्या होगा? उसे भूल जा। आहाहा! और यहाँ त्रिकाल में कुछ होनेवाला नहीं है। उसे रोग नहीं है, राग नहीं है। ऐसी चीज़ अन्तर आनन्दकन्द प्रभु विराजता है न? आहाहा! जिसमें हीनता नहीं, अशुद्धता नहीं, विपरीतता नहीं, किसी का सम्बन्ध उसे नहीं। ऐसी चैतन्यसत्ता भगवान तुझमें विराजती है, प्रभु! आहाहा! उसका उपयोग कर, प्रभु! इसके बिना जन्म-मरण नहीं मिटेंगे। आहाहा! पण्डितजी! आहाहा!

इस प्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके... आहाहा! अभी तो ऐसा कहते हैं कि शुभयोग ही अभी होता है। अर..र..र! प्रभु! तू यह क्या करता है? इतनी भी हाँ नहीं करता कि शुद्धोपयोग से धर्म होता है और इसके बिना शुभोपयोग, वह धर्म नहीं है। अरे रे! इतना भी वीर्य काम नहीं करे, प्रभु! वह अन्तर में जाने को किस प्रकार काम करेगा? आहाहा! समझ में आया? **इस प्रकार शुद्धोपयोग...** आहाहा! कितने ही कहते हैं कि अभी शुद्धोपयोग नहीं होता। पंचम काल के आचार्य महाराज, मुनिराज हजार वर्ष पहले श्रोता को कहते हैं, हे श्रोता! हम जो विधि कहते हैं, वह पुण्य-पाप को छोड़कर... आहाहा! अन्तर में चैतन्यस्वरूप भगवान विराजता है, उसे उपयोग में जोड़ दे। आहाहा!

उसे **प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ...** आहाहा! आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ। अर्थात्? आत्मा स्वयं धर्मरूप से परिणमता हुआ। आहाहा! कोई बीच में दया, दान, भक्ति का राग, उसरूप नहीं परिणमता। आहाहा! **आत्मा स्वयं...** पर की अपेक्षा रखे बिना शुभराग और देव-गुरु-शास्त्र की अपेक्षा रखे बिना स्वयं धर्म प्राप्त करता हुआ। आहाहा! स्वयं धर्म होता हुआ, **स्वयं धर्मरूप से परिणमित होता हुआ...** आहाहा! खबर नहीं मुनिराज को कि इस पंचम काल के शिष्य को मैं कहता हूँ? भाई! तुझमें ताकत है। तेरे झुकाव के बदलने से तुझे दिखता नहीं। तेरा झुकाव पर में जाता है, प्रभु! अन्तर में भगवान विराजता है, वहाँ तेरा झुकाव नहीं जाता और उसका माहात्म्य तथा कीमत नहीं आती।

बाहर का माहात्म्य जरा... आहाहा! कहो, मधुभाई! पैसा-वैसा मिले, वहाँ हांगकांग में लाखों रुपये। अब यह धर्म... आहाहा!

कहते हैं **स्वयं धर्मरूप से परिणमित होता हुआ...** अर्थात् राग और निमित्त की अपेक्षा बिना। व्यवहार और निमित्त, दो की अपेक्षा रखे बिना निरपेक्षरूप से, **स्वयं धर्मरूप से परिणमित होता हुआ...** आहाहा! यह जैन वीतरागधर्म। परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर अनन्त तीर्थंकरों का यह ध्वनि है। अनन्त तीर्थंकरों का यह उपदेश है। आहाहा! इस पंचम काल के साधारण प्राणी अबुध जैसे को भी कहते हैं कि हे शिष्य! तू शुद्धोपयोग को प्राप्त कर न, प्रभु! आहाहा! इससे वह स्वयं धर्म परिणमित होता हुआ। हमारी भी आशा रखे बिना। आहाहा! देव, गुरु और धर्म की भी आशा रखे बिना, उनका भी लक्ष्य किये बिना स्वयं-स्वयं धर्मरूप से परिणमता हुआ। आहाहा! स्वयं धर्म अर्थात् वीतरागरूप से, शुद्धोपयोगरूप से, आनन्दरूप से कहेंगे। (परिणमता) हुआ। स्वयं धर्मरूप से परिणमता हुआ। ओहोहो! गजब श्लोक है।

नित्य आनन्द के विस्तार से सरस... कैसा है प्रभु? तुझे जब उसका उपयोग होगा और उसका परिणमन होगा, तब नित्य आनन्द का विस्तार होगा। जो आनन्द शक्तिरूप से है, जो आनन्द सत्ता के अस्तित्वरूप से है, अतीन्द्रिय आनन्द अन्दर सत्तारूप से है, वह तुझे व्यक्तरूप से अनुभव में आयेगा। आहाहा! ऐसा धर्म! और इस धर्म का रूप ऐसा दिया कि ऐसा कहे उसे उड़ा दे, मजाक करे कि यह निश्चयधर्म... निश्चयधर्म। बापू! निश्चयधर्म, प्रभु! अर्थात् सच्चा धर्म - ऐसा कह। निश्चय अर्थात् सच्चा / सत्य। व्यवहार अर्थात् उपचार, कथन, वास्तविकता नहीं। आहाहा!

इस प्रकार परिणमित होता हुआ नित्य आनन्द के फैलाव... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नित्य फैलाव। समय के विरह बिना कायम अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव का फैलाव। **सरस (अर्थात् जो शाश्वत आनन्द के विस्तार से रसयुक्त हैं)...** आहाहा! श्लोक तो बहुत अच्छा आया है। आहाहा! शाश्वत आनन्दस्वरूप प्रभु, जिसकी सत्ता अनादि की है, अनन्त काल रहेगी, वह स्वभाव से खाली नहीं है, स्वभाव से परिपूर्ण भरपूर है। वह अतीन्द्रिय आनन्द के रसवाला शाश्वत् है। आहाहा! उस **(शाश्वत आनन्द के विस्तार से रसयुक्त हैं)...** शाश्वत् आनन्द शक्तिरूप से, सत्तारूप से है, उसमें उपयोग को

जोड़, तो उसका पर्याय में-अवस्था में आनन्द का फैलाव रससहित आयेगा। आहाहा! बात में ऐसा फेरफार हो गया। व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार (करो)। व्यवहार, राग और जहर है। व्यवहार अर्थात् राग और जहर। उससे कल्याण माने, अरे! प्रभु! तू उस स्वरूप नहीं, नाथ! अतीन्द्रिय कहा न?

(शाश्वत आनन्द के विस्तार से रसयुक्त हैं)... आहाहा! आत्मा में जो शाश्वत् आनन्द है, नित्यानन्द प्रभु है, उसमें उपयोग लगाने से अन्दर पर्याय में आनन्दसहित होता है। शाश्वत् आनन्द है, उसकी व्यक्तता / प्रगटतासहित होता है। आहाहा! पैसा जरा पाँच लाख हो और पाँच लाख पैदा करे, वहाँ तो मानो ऐसा... ओहोहो! क्या हमने किया! और क्या मानो... अरे! प्रभु! क्या किया तूने? वह जहर का प्याला है।

मुमुक्षु : बाप-दादा ने नहीं किया था, वैसा किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाप-दादा ने क्या किया? वह भी जहर किया था। आहाहा! यह सब देखा है न! हमारे बड़ी दुकान चलती थी। कुँवरजीभाई की दुकान। दो दुकानें। एक हमारी पिताजी की दुकान और एक कुँवरजीभाई की दुकान। मेरे बड़े भाई वहाँ (बैठते थे)। दो दुकानें चलती थीं। बड़ी आमदनी, दो-दो लाख की। उस समय, हों! अभी तो बढ़ गया है। चार लड़के हैं, चालीस लाख रुपये होंगे, इससे अधिक होंगे। लाख-सवा लाख की आमदनी तो वर्षों से। उसमें क्या हुआ? उसमें क्या हुआ? आहाहा!

आत्मा में आनन्द भरा है, उसे शक्ति में से व्यक्तता में न करे, प्रभु! तूने क्या किया तब तक? आहाहा! तुझे कहीं चैन नहीं पड़ना चाहिए। आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कहीं चैन नहीं पड़ना चाहिए। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

पंचम काल में छोटे मुँह बड़ी बातें लगे। बड़ी बात नहीं, प्रभु! पंचम काल के मुनि स्वयं कहते हैं। आहाहा! पंचम काल के मुनि स्वयं कहते हैं, प्रभु! तुझमें शाश्वत् आनन्द पड़ा है न! उसे व्यक्त / प्रगट कर न! प्रभु! प्रगट करने का तो यह है। आहाहा! शाश्वत् अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है न! यह इन्द्रिय के सुख तो जहर के प्याले हैं। आहाहा! विष। एक जगह आया है। विष है, वह तो एक बार मारता है, परन्तु विषय की वेदना अनन्त भव में मार डालती है। ऐसा कहीं आया है।

मुमुक्षु : शीलपाहुड़ में।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाहुड़ में आया है। पाहुड़ में शब्द आया है। याद नहीं रहता कहाँ था! भाव याद रहता है। उसमें – पाहुड़ में यह आया है। आहाहा!

आनन्द का रस... आहाहा! विषय के वेदन से, विषय का दु:ख तो थोड़ा है। विषय का जहर का, विष के जहर का दु:ख तो विषय के दु:ख के समक्ष बहुत थोड़ा है। जहर एक बार मारता है और आत्मा के आनन्द को भूलकर विषय में आनन्द मानने में अनन्त भव करता है। आहाहा! अष्टपाहुड़ में है। आहाहा! यह विषय की वेदना की तुझे जो मिठास लगती है, प्रभु! परन्तु वह काले नाग का जहर है। आहाहा! वह शाश्वत्, अन्दर शाश्वत् आनन्द पड़ा है, भगवान! उसके फैलाव से, उसका विस्तार कर... आहाहा! उसे पर्याय में ला। द्रव्य में जो अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, उसे पर्याय में – प्रगट में ला। आहाहा! जो पर्याय की दृष्टि में रुके और दृष्टि आगे जाए तो राग और द्वेष पर जाए, परन्तु वह पर्याय अन्दर में जाने पर पर्याय में आनन्द आवे, आहाहा! उस आनन्द का फैलाव हो, वह आनन्द विस्तरित हो। आहाहा! ऐसा उपदेश है। वे तो (कहें), एकेन्द्रिय की दया पालो, व्रत करो, यह छोड़ो, यह छोड़ो। समझना सीधा-सट (था) भटकने का। आहाहा! भटकने का।

भगवान आत्मा शाश्वत् आनन्द से भरपूर, उसका पर्याय में फैलाव कर, प्रभु! आहाहा! उस आनन्द को पर्याय में विस्तार—शक्ति में से व्यक्तता कर, शक्ति में से प्रगटता कर। उससे रसयुक्त है। **ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर,...** आहाहा! जिस ज्ञानतत्त्व में अतीन्द्रिय आनन्द है, ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर। ज्ञान अर्थात् आत्मा। आहाहा! ज्ञानतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व। जिसमें शाश्वत् आनन्द के फैलाव से पर्याय में विस्तार होता है, ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर आहाहा! गजब कलश है न!

अत्यन्त अविचलपने के कारण,... अत्यन्त चले बिना। आहाहा! जैसे अनादि से विकार में से चलता नहीं और हटता नहीं। वह तो कृत्रिम में से हटता नहीं था। यह तो अकृत्रिम शाश्वत् वस्तु है, उसमें अविचलपने के कारण। आहाहा! उसमें एकाग्र होने से अविचल-चलतापन नहीं, ऐसी वह चीज़ है। आहाहा! अरे रे! सुनने को मिलता नहीं, वह कब प्रगट करे। आहाहा! मनुष्यभव चला जाता है। आहाहा! एक घड़ी में देखो न, यहाँ नहीं देखा? भाईलालभाई का। ऐसे चलकर आये और बैठे। कुर्सी में बैठे, वहाँ मेरी नजर गयी। नहीं तो कौन सामने देखता? ऐसा हो गया। असाध्य हो गये। हार्ट का अटैक आया।

छूट गये, नौ बजे पहले देह छूट गयी। आहाहा! परन्तु वह तो छूटी ही पड़ी है। एकक्षेत्रावगाह में है, इसलिए ऐसा इकट्ठा लगता है। बाकी तो एक क्षेत्र में भी उसका क्षेत्र तो भिन्न है। आत्मा का क्षेत्र और शरीर का क्षेत्र दोनों भिन्न है। कर्म का क्षेत्र और आत्मा का क्षेत्र दोनों भिन्न है, दोनों द्रव्य भिन्न हैं, क्षेत्र भिन्न हैं, काल भिन्न हैं, भाव भिन्न हैं। आहाहा!

अरे! शाश्वत् आनन्द के ज्ञानतत्त्व की अपेक्षा से, प्रभु! दूसरे तत्त्व अद्रव्य हैं, आहाहा! तू है, वहाँ तेरे कारण दूसरे अद्रव्य हैं। आहाहा! तीन लोक के नाथ भी तेरे द्रव्य की अपेक्षा से अद्रव्य है, तेरे क्षेत्र की अपेक्षा से अक्षेत्र है, तेरे भाव की अपेक्षा से अभाव है। आहाहा! तेरे स्वकाल की अपेक्षा से परमेश्वर का काल भी अकाल है। आहाहा! इसकी अपेक्षा से, हों! उनकी अपेक्षा से तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान **ज्ञानतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलपने के कारण, दैदीप्यमान ज्योतिवाले...** आहाहा! मुनिराज को शब्द कम पड़ते हैं। कैसे कहना इसे? दैदीप्यमान ज्योति। चैतन्यज्योति दैदीप्यमान है। जलहलज्योति... जलहलज्योति प्रभु। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा तेरे स्वभाव में है न, प्रभु! तू स्वयं ही वह है। आहाहा! **और सहजरूप से विलसित...** ऐसे दैदीप्यमान ज्योतिवाले और स्वभावरूप से **(-स्वभाव से ही प्रकाशित)...** अपना जो स्वभाव है, स्व-भाव—अपना स्व, उसका भाव, उस पर्याय में अपने स्वभाव से प्रकाशित। आहाहा! स्वभाव जो त्रिकाली है, उसे पर्याय में प्रकाशित करता हुआ। आहाहा!

रत्नदीपक की निष्कम्प-प्रकाशवाली शोभा को प्राप्त होता है... रत्न का दीपक हो चाहे जैसी हवा चले परन्तु वह रत्न फिरता नहीं। चमक-चमक लगती है परन्तु क्षेत्र बदलता नहीं। रत्न का ऐसा दीपक हो। मणिरत्न। यह हीरा का। आहाहा! नब्बे हजार का हीरा देखा है एक बार तो। बेचरभाई लाये थे। राजकोट। डिब्बी में एक हीरा इतना दाने जैसा नब्बे हजार का। वह तो ठीक परन्तु कहीं-कहीं तो पाँच-पाँच करोड़ के, दस-दस करोड़ के हीरा होते हैं। ऐसी ऊँची चीज़ होती है। वह रत्न जैसे उसकी चमक के लिये अन्दर से सहज चमक उठती है, उसी प्रकार **रत्नदीपक की निष्कम्प-प्रकाशवाली शोभा...** रत्नदीपक की भाँति निष्कम्प प्रकाशवाली तेरी शोभा है। तू रत्न का दीपक, चैतन्य रत्नदीपक अन्दर प्रकाश का है। आहाहा! मुनिराज को शब्द थोड़े पड़ते हैं। किस प्रकार

इसे कहना ? आहाहा! उसे यहाँ दो बीड़ी में बेच डालना, दो रोटी में और पूरणपोली और जरा... आहाहा! अरबी के पत्ते, पतरवेलिया... यह अरबी के पत्ते घी में तले हुए और लड्डू खावे और... आहाहा! अरे! प्रभु! तूने क्या किया ? तू कहाँ गया ? नाथ! तेरी ऋद्धि में कितना भरा है, प्रभु! तुझे तेरी ऋद्धि की भी खबर नहीं, तुझे उसका विश्वास नहीं। आहाहा!

ऐसे रत्नदीपक का प्रकाश। आहाहा! जैसे रत्न को उसके प्रकाश के लिये उसमें कोई तेल डालना नहीं पड़ता। आहाहा! रत्न के प्रकाश के लिये तेल डालना नहीं पड़ता। स्वाभाविक ही रत्न का प्रकाश है, वैसे ही भगवान आत्मा का प्रकाश, उसे कोई राग की मन्दता का तेल नहीं डालना पड़ता। आहाहा! उसे कहीं सुनने का या बहुत सुने तो वह दीप्त हो, ऐसा वह भगवान नहीं है। आहाहा!

रत्नदीपक की निष्कम्प-रत्नदीपक जैसे निष्कम्प है और प्रकाश करता है, वैसे भगवान शाश्वत् चैतन्यमूर्ति निष्कम्प है और प्रकाश करता है। आहाहा! **प्रकाशवाली शोभा को प्राप्त होता है...** ऐसी शोभा को वह भगवान (आत्मा) प्राप्त होता है। आहाहा! एक कलश में तो गजब काम करते हैं न! एक-एक कलश पद्मप्रभमलधारिदेव... समयसार के २७८ कलश हैं। इसके (नियमसार के) ३११ हैं। स्वयं के बनाये हुए और आधार के दिये हुए ३११ हैं। आधार के दिये हुए अधिक होंगे, ३११ तो इनके स्वयं के बनाये हुए हैं। आहाहा!

पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि, नग्न मुनि जंगल में अतीन्द्रिय आनन्द के साथ लहरें करते हैं। सिद्ध भगवान के साथ लहरें करते हैं। आहाहा! दिगम्बर मुनि अर्थात् क्या ? आहाहा! सच्चे दिगम्बर मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द के साथ लहर करते हैं। आहाहा! और परीषह तथा उपसर्ग की तो खबर भी नहीं पड़ती। विकल्प आवे तो ख्याल आवे कि यहाँ कुछ है। बाकी तो अन्दर में कुछ नहीं है। आहाहा! ऐसी अपने प्रकाश के रत्न के दीपक की भाँति। रत्नदीपक को कहीं घासलेट डालना नहीं पड़ता। इसी प्रकार तेरे प्रकाश के लिये किसी पर की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! ऐसी शोभा को प्राप्त होते हैं।

(अर्थात् रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही निष्कम्परूप से अत्यन्त प्रकाशित होता रहता है—जानता रहता है)। बस! यह इसका स्वरूप है। यह तो निष्कम्परूप से

जाना ही करता है। आहाहा! ऐसा धर्म किस प्रकार का? वह तो दया पालो, व्रत पालो, अपवास करो, दान करो, मन्दिर बनाओ...

मुमुक्षु : गरीब व्यक्ति को क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : गरीब है ही कौन? आत्मा आनन्द का नाथ गरीब है? प्रभु! आहाहा! आनन्द के जवाहरात से भरपूर है, उसे गरीब कैसे कहना? आहाहा! स्वयं मानकर बैठा है। आहाहा! जरा कुछ पैसा मिले, कुछ स्त्री अच्छी मिले, उसमें लड़का कुछ ठीक हो, पाँच-सात-दस हजार महीने में कमाता हो। आहाहा! बस मजा करता हो दु:ख में। दु:ख में, हों! आहाहा!

यहाँ कहते हैं... एक श्लोक में तो गजब किया है! **रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही...** रत्नदीपक का प्रकाश स्वभाव से ही। उसे किसी पर की सहायता की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार भगवान के प्रकाश के लिये कोई परप्रकाश और परसाधन की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! ऐसा निष्कम्परूप से प्रकाशित किया ही करता है। आहाहा! ऐसा श्लोक है। देवचन्दजी! आहाहा! अरे रे! ऐसी बात सुनने को नहीं मिलती। प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? देह छूटकर चला जाता है।

तीन दिन पहले यहाँ भाईलालभाई यहाँ बैठे थे। कुर्सी पर। उनके दामाद आये थे। तो मिलने जाते थे। कुछ नहीं होता। मिलने गये वहाँ से ऐसे आये, बैठे। मेरी नजर ऐसे जरा गई, लोगों की नजर तो ऐसे रही नहीं। मेरी नजर ऐसे जरा गयी। ऐ... यह कैसे हो गया? ऐ... सा...। जहाँ देखे वहाँ असाध्य। हार्टअटैक। हार्ट का अटैक। आहाहा! बाहर ले गये। नौ बजे पहले तो गुजर गये। देह छूट गयी। डॉक्टर बहिन आयी थी। माधुरी बहिन डॉक्टर है। आयी थी। ...कुछ किया था। ऐसा कि हार्ट है या नहीं कुछ? छह तो इंजैक्शन दिये। क्या करे इंजैक्शन, बापू! जिसकी स्थिति पूरी हुई... आहाहा!

यह तो रत्नदीपक की भाँति भगवान आत्मा अपनी शोभा से शोभित हो रहा है। उसकी शोभा के लिये पर की कोई आवश्यकता नहीं है। राग की मन्दता, पुण्य और कोई तीर्थंकरगोत्र बाँधे, तब ही उसकी शोभा कहलाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह पवित्रता में भी पूरा है और तीर्थंकर होवे, वह तो पुण्य में भी पूरा है। इससे साधारण प्राणी पुण्य में नहीं होता। वस्तु में पूर्ण है। आहाहा!

श्लोक-२३८

और (इस १४१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

(मंदाक्रांता)

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्द-मूर्तौ,
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम् ।
सोऽयं कर्म-क्षय-कर-पटुर्निर्वृते-रेकमार्गः,
तेनैवाहं किमपि तरसा यामिं शं निर्विकल्पम् ।।२३८।।

(वीरछन्द)

जो उत्पन्न स्ववशता से आवश्यक-कर्मस्वरूप अहो।
सत्-चित्-आनन्दमूर्ति आत्म में निश्चित अतिशय धर्म अहो ॥
कर्मक्षय में कुशल यही यह शिवपुर का है पन्थ कहा।
अद्भुत निर्विकल्प सुख को मैं शीघ्र इसी से हूँ पाता ॥२३८ ॥

[श्लोकार्थः] स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप यह साक्षात् धर्म नियम से (निश्चित) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में (सत्-चिद्-आनन्दस्वरूप आत्मा में) अतिशयरूप से होता है। ऐसा यह (आत्मस्थित धर्म), कर्मक्षय करने में कुशल ऐसा निर्वाण का एक मार्ग है। उसी से मैं शीघ्र किसी (-अद्भुत) निर्विकल्प सुख को प्राप्त करता हूँ ॥२३८ ॥

श्लोक -२३८ पर प्रवचन

और (इस १४१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

स्वयं टीका करनेवाले श्लोक कहते हैं।

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्द-मूर्तौ,
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम्।
सोऽयं कर्म-क्षय-कर-पटुर्निर्वृते-रेकमार्गः,
तेनैवाहं किमपि तरसा यामिं शं निर्विकल्पम्।।२३८।।

आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने काम किया है... आहाहा! केवली को भुला दिया है। अन्दर से ऐसे भाव निकाल-निकाल कर रखे हैं, यह वस्तु अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! दूसरे को दुःख लगे, जिस सम्प्रदाय में जन्मा हो उसे। जिसकी संग नहीं, जिस कुल में जन्मा हो, उसकी मान्यता पर चोट पड़े, तब कठोर लगता है। आहाहा!

आचार्य तो ऐसा कहते हैं, प्रभु! मैं गत काल के दुःख को जहाँ स्मरण करता हूँ, दुःख को लक्ष्य में लेता हूँ, वहाँ चोट लगती है। हम आनन्द के भोगनेवाले... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन करनेवाले, गत काल के-भूत (काल) के दुःख, यह अवतार अनन्त काल किये। आहाहा! निगोद के भव किये। एक अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार। एक निगोद, लहसुन में, प्याज में एक अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस भव (किये)। आहाहा! एक श्वास में अठारह भव। ऐसे अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस भव। वह एक बार नहीं परन्तु प्रभु अनादि अनन्त काल हुआ, प्रभु! अनन्त बार वहाँ वह भव हुए। ऐसे भव अनन्त बार किये। आहाहा! यह कहीं यहाँ जरा सुविधा, मान और पैसा मिले, वहाँ तो मानों हमें क्या हुआ और हम क्या! आहाहा!

वहाँ कहा न! अफ्रीका में। सात लाख की आबादी है। साढ़े चार सौ तो करोड़पति। मधुभाई! कौन सा गाँव कहा? नैरोबी। छब्बीस दिन रहे न अभी। साढ़े चार सौ तो करोड़पति और पन्द्रह अरबपति। आहाहा! सिर फिर जाए न! अरबपति-सौ करोड़। सौ हजार के लाख और सौ लाख के करोड़ और सौ करोड़ के अरब। हमारे समय में तो अधिक था। सौ अरब का खर्ब और सौ खर्ब का निखर्ब और। खर्ब, निखर्ब, महापद्म जल्दी, अन्त्य, मध्यम, और प्राब्ध उस समय में था। पाठशाला में था। पिहत्तर वर्ष पहले। अरब के ऊपर ले जाते थे। सौ अरब का खर्ब, सौ खर्ब का निखर्ब। खर्ब, निखर्ब, महापद्म, जल्दी, अन्त्य, मध्यम और प्राब्ध यहाँ तक तब आँकड़ा था। आहाहा! ऐसे भव करके प्राब्ध के अनन्त-अनन्त बार प्रभु जिसकी आदि नहीं होती... आहाहा!

अब यहाँ कहते हैं। इसका अर्थ – **स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप...** स्ववश। आत्मा आनन्द और ज्ञानमूर्ति प्रभु के वश होकर जो उत्पन्न हुई दशा, पुण्य-पाप के वश होकर उत्पन्न हुई दशा, वह अधर्म है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, दया, दान, भक्ति, पूजा, आदि ये दोनों भाव अधर्म हैं। आहाहा! यह **स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप...** आहाहा! आवश्यकतावाला कार्य। आवश्यक अर्थात् आवश्यकतावाला कार्य। आहाहा! जिसे आवश्यकता ज्ञात हो, वहाँ पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। रुचि अनुयायी वीर्य। जिसका पोषाण आवे, उसका पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता; इसी प्रकार जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो, उसका अन्तरपुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। ब्रह्मचारीजी! ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

अरे! एकान्त कह-कहकर शास्त्र खोटे हैं, ऐसा कहकर, अरे रे! प्रभु! गजब कर गये हैं। वर्णीजी कह गये हैं न कि 'सोनगढ़ की पुस्तकें, शास्त्र संसार में डुबो देंगे।' ऐसा कह गये हैं। अर..र..र! प्रभु! क्या किया? प्रभु! आहाहा! चलता नहीं था, इसलिए उन बेचारों को... वैसे तो नरम व्यक्ति थे। आहाहा! निमित्त से पर में बिल्कुल नहीं होता। धारावाही पर्याय बहती है, उसमें और... निमित्त की पर्याय निमित्त में, उपादान की पर्याय उपादान में। किसके कारण कौन होता है? कि नहीं। निमित्त से किसी समय होता है। आहाहा! और क्रमबद्ध की एक के बाद एक होगी, वही होगी कहा। जो होनेवाली हो, वही होगी। एक के बाद एक होगी। वे कहें, ऐसा नहीं। एक के बाद एक होगी परन्तु वही होगी, ऐसा नहीं। बड़ी चर्चा चली। (उन्होंने कहा) सोनगढ़ के सिद्धान्त संसार में डुबो देंगे। आहाहा! अरे! प्रभु! प्रभु!

यह तो तीन काल के त्रिलोकनाथ के सिद्धान्त हैं, प्रभु! यह कहीं सोनगढ़ की बात नहीं है। आहाहा! परमेश्वर महाविदेह में साक्षात् विराजमान हैं। आहाहा! ***अरे! हम वहाँ थे और समवसरण में सुनते थे परन्तु परिणाम में अन्तर पड़ गया, अवतार आ गया यहाँ। मरते समय परिणाम में जरा अन्तर पड़ गया। आहाहा!*** यह वाणी और यह वस्तु भगवान के घर की है। आहाहा! लोगों को नया लगता है। नया नहीं। अनादि-अनन्त तीर्थंकर यही कह गये हैं और यही वस्तु का स्वरूप है। जैनधर्म कोई पक्ष और वाड़ा नहीं है। जैनधर्म, वह वस्तु जो है, उसे जीतना अर्थात् राग-अज्ञान है, उसे जीते और स्वरूप में

आवे, उसका नाम जैन है। यह तो वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! 'जिन सो हि है आत्मा...' 'घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन, मत-मदिरा के पान सौं मतवाला समझे न।' आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप...** देखा! आवश्यक कर्म उसे कहते हैं कि आत्मा के वश से जो कार्य उत्पन्न हो, उसका नाम आवश्यक। उसमें दया, दान और व्रत वह तो पर के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। वे आवश्यक नहीं हैं। प्रतिक्रमण में णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, मिच्छामि दुक्कडम् (बोले), वह आवश्यक नहीं है। **स्ववशता से उत्पन्न...** भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसके वश से उत्पन्न आहाहा! मुनि की भाषा तो देखो! संक्षिप्त सार।

स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप यह साक्षात् धर्म... आहाहा! भाषा तो बहुत सादी-सरल-सीधी है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है। वह पुण्य और पाप के विकल्प से भगवान! तू भिन्न है न, प्रभु! बाल, युवा, और वृद्ध न देख। बाल उसे कहते हैं कि जो शुद्धस्वरूप को न मानकर राग को अपना माने, उसे बाल कहते हैं। राग रहा होने पर भी राग से भिन्नता का भान करे, उसे युवा कहते हैं और रागरहित होकर अकेला आत्मा रहे, उसे वृद्ध कहते हैं। आहाहा! बाहर का बाल, युवा, वृद्ध, वह तो देह -जड़-मिट्टी की अवस्था है। तेरी अवस्था तो यह है। बाहिर-जो आत्मा में नहीं, उस बाहर की चीज़ को अपनी मानना, इसका नाम बहिर्‌आत्मा। आत्मा में नहीं पुण्य और पाप, दया और दान, रागादि आत्मा में नहीं। उन दोनों को अपने मानना, उसका नाम बहिरात्मा। आहाहा! शान्तिभाई! कभी सुना नहीं यह सब। भाषण कर-करके दिये रखा।

मुमुक्षु : दिल्ली में कोई है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! परन्तु अब आये न फिर से। आहाहा! ऐसी बातें।

स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप... आहाहा! पर से नहीं। देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय से भी नहीं। व्यवहाररत्नत्रय के आश्रय से भी नहीं। **स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक...** आवश्यक कार्यस्वरूप। आवश्यक अर्थात् अवश्य कार्यस्वरूप। आहाहा! आवश्यकता इसकी है कि जिससे इसे मुक्ति मिले। आहाहा! है न? अन्दर है। **स्ववशता**

से उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप... आवश्यक कार्य आत्मा के अवलम्बन से हुआ। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ अन्दर से गरज उठा। आहाहा! राग और पुण्य को तो कहीं झिंझोड़ दिया। आहाहा! गर्जना करके उठा अन्दर से (कि) मैं तो आनन्द का नाथ हूँ, अतीन्द्रिय आनन्द हूँ। दूसरे प्रकार से मुझे मत मान। आहाहा! ऐसे स्ववश से उत्पन्न हुआ आवश्यक कार्यस्वरूप **यह साक्षात् धर्म नियम से (निश्चित) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में...** आहाहा! शब्द भी कम पड़ते हैं इन्हें।

साक्षात् धर्म... आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु, उसके स्ववश से उत्पन्न हुआ अवश्य का आवश्यक शुद्धोपयोग, वह साक्षात् धर्म। **(निश्चित) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में (सत्-चिद्-आनन्दस्वरूप आत्मा में) अतिशयरूप से होता है।** यह धर्म आत्मा में होता है, कहते हैं। आहाहा! जैनधर्म यह कोई वाड़ा-पक्ष नहीं है। वस्तु है, उसके स्वरूप का वर्णन भगवान ने देखा, वैसा कहा। आहाहा! **स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक...** आवश्यक अर्थात् जरूरी कार्य - वीतरागीपर्याय। **यह साक्षात् धर्म नियम से (निश्चित) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में (सत्-चिद्-आनन्दस्वरूप आत्मा में) अतिशयरूप से होता है।** वह धर्म आत्मा में होता है। वह धर्म पुण्य और पाप के परिणाम में नहीं होता। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति में धर्म नहीं होता। आहाहा! कितनों ने तो बेचारों ने सुना भी नहीं होगा। ३०-३० वर्ष, ३५-३५ वर्ष चले गये हों, मजदूरी निकाल-निकालकर। अकेली संसार की मजदूरी की। आहाहा! वे मजदूर तो अभी आठ से बारह काम करें और दो से छह। और यह मजदूर सवेरे छह से रात्रि के दस बजे तक।

मुमुक्षु : वे मजदूर तो बीच में बीड़ी पीने जाएँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बीड़ी पीने जाएँ, दिशा को जा आवें, इतना काल बचे। देखा है न। चार घण्टे में नजदीक में दिशा को जा आवे। इसलिए इतना काल बच जाए, पेशाब कर आवे इतना काल बच जाए। आहाहा! सवेरे आठ से बाहर, दोपहर दो से छह। आहाहा! उन्हें यह आठ घण्टे, उनमें भी बचाव करे। पेशाब कर आवे, दिशा करने जाए। थोड़ी देर कोई न देखता हो तो बैठे रहें। आहाहा! और यह मजदूर तो चौबीस घण्टेवाला मजदूर। स्वप्न भी उसी के आवें।

हमारे एक भगत थे न। राणपुर। नाराणभाई के... दीक्षा लेनेवाले थे हमारे पास से,

परन्तु हमने दीक्षा से इनकार किया। अभी दीक्षा है नहीं, अभी साधुपना है नहीं। दीक्षा लेने आये थे। दो-तीन व्यक्ति आये थे। एक राणपुर का था। गुजर गया, जवान कोई था। नाम भूल गये। विशाश्रीमाली थे। वे दीक्षा लेने आये थे। एक गढडा के पास छोटा गाँव है, वहाँ से दीक्षा लेने आया था। अरे! यह दीक्षा हमारे पास तो है। उत्तमचन्द, वडिया-वडिया। उत्तमचन्दभाई ने मन्दिर बनाया और दीक्षा लेने आये। छोटा भाई विवाहित। स्वयं कुँवारे और फिर कहे, महाराज! मुझे दीक्षा दो। मैंने कहा, भाई! हम किसी को दीक्षा नहीं देते। उसे कैसे कहना कि अभी साधुपना है ही नहीं। आहाहा! इच्छा थी। फिर तो बेचारे ने घर में मन्दिर बनाया। हमेशा भक्ति। घर की जमीन में वडिया में स्वयं घर में मन्दिर बनाया। घर में दिगम्बर मन्दिर। हमेशा भक्ति, वाँचन, लड़कों को साथ लेकर वह सब बेचारे पूरे दिन करते। आहाहा! वह भी दीक्षा लेने आये थे, परन्तु कहा हम दीक्षा नहीं देते। उसे ऐसा कहना कि साधुपना है नहीं। बापू! साधु किसे कहना? हमें सब बाहर का त्यागी देखे और सबसे बड़ा देखे। यह साधु है, ऐसा कैसे मानें? बापू! साधुपना अलग प्रकार है, भाई! वस्तु का टुकड़ा भी रखकर साधुपना माने तो नरक और निगोद में जाएगा। आहाहा! ऐसा वचन है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे। उन्होंने यहाँ आकर यह पुकार करके शास्त्र में रचा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यह साक्षात् धर्म तो सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में होता है। अतिशयरूप से अन्दर होता है-आत्मा में होता है। बाहर में नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! टीका-टपका और बड़ी माला गर्दन में डाली... आहाहा! माला डालकर ऐसे घूमते हैं कि हम भगत हैं। ऐसे बाहर में धर्म नहीं है, प्रभु! धर्म तो अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा में है। **ऐसा यह (आत्मस्थित धर्म),...** आहाहा! **कर्मक्षय करने में कुशल ऐसा निर्वाण का एक मार्ग है।** लो, वे दो कहते हैं। व्यवहार से निश्चय होता है। आहाहा! है न वह आर्यिका ज्ञानमती। कुछ पुण्यशाली है। पच्चीस लाख का वहाँ दिल्ली में जम्बूद्वीप और हस्तिनापुर में अस्सी फीट का मानस्तम्भ बनाया। वह ऐसा कहती है। आहाहा! और वह तो ऐसा कहती है कि हम भव्य हैं या अभव्य, काललब्धि पकी है, यह तो भगवान जाने। अर..र..! प्रभु! प्रभु! हम अभव्य हैं या नहीं, इसका निर्णय नहीं। और तू बात किसकी करता है? अरे रे! दुनिया क्या करती है यह? उसकी हाँ करनेवाले भी कैसे? हम अभव्य हैं, या भव्य,

इसकी अपने को खबर नहीं, वह तो भगवान जाने। अर..र..र..! देवचन्दभाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह साक्षात् धर्म तो आत्मा में होता है। अतिशयरूप से होता है। आहाहा! **ऐसा यह (आत्मस्थित धर्म), कर्मक्षय करने में कुशल ऐसा निर्वाण का एक मार्ग है।** दो नहीं। व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग दो नहीं है। आहाहा! एक ही मार्ग है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' **उसी से मैं शीघ्र किसी...** आहाहा! मुनिराज अपनी दशा का वर्णन करते हैं। निर्मानरूप से। कुछ मान नहीं चाहिए। लोग माने, न माने। आहाहा! **निर्वाण का एक मार्ग है। उसी से मैं शीघ्र किसी (-अद्भुत) निर्विकल्प सुख को प्राप्त करता हूँ।** वर्तमान प्राप्त करता हूँ। आहाहा! **कर्मक्षय करने में कुशल ऐसा निर्वाण का एक मार्ग है।** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। **उसी से...** व्यवहार से नहीं। **मैं शीघ्र...** अल्प काल में, **किसी (-अद्भुत) निर्विकल्प सुख को प्राप्त करता हूँ।** आहाहा! दो कलश भी बहुत अच्छे आये। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१४२

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं त्ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।।१४२।।

न वशो अवशस्य कर्म वाऽवश्यकमिति बोद्धव्यम्।
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः।।१४२।।

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मावश्यं भवतीत्यत्रोक्तम्। यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परजिन-योगीश्वरस्य निश्चयधर्मध्यानात्मकपरमावश्यककर्मावश्यं भवतीति बोद्धव्यम्। निरवयव-स्योपायो युक्तिः। अवयवः कायः, अस्याभावात् अवयवाभावः। अवशः परद्रव्याणां निरवयवो भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति।

जो वश नहीं वह 'अवश' आवश्यक अवश का कर्म है।
वह युक्ति है वह यत्न है, निरवयव कर्ता धर्म है॥१४२॥

अन्वयार्थ : [न वशः अवशः] जो (अन्य के) वश नहीं है, वह 'अवश' है [वा] और [अवशस्य कर्म] अवश का कर्म, वह [आवश्यकम्] 'आवश्यक' है [इति बोद्धव्यम्] ऐसा जानना; [युक्तिः इति] वह (अशरीरी होने की) युक्ति है, [उपायः इति च] वह (अशरीर होने का) उपाय है, [निरवयवः भवति] उससे जीव निरवयव (अर्थात् अशरीर) होता है। [निरुक्तिः] ऐसी निरुक्ति है।

टीका : यहाँ *अवश परमजिनयोगीश्वर को परम आवश्यक कर्म अवश्य है, ऐसा कहा है।

जो योगी निज आत्मा के परिग्रह के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता और इसीलिए जिसे 'अवश' कहा जाता है, उस अवश परमजिनयोगीश्वर को

---

* अवश=पर के वश न हों ऐसे; स्ववश; स्वाधीन; स्वतन्त्र।

निश्चयधर्मध्यानस्वरूप परम-आवश्यक-कर्म अवश्य है, ऐसा जानना। (वह परम-आवश्यक कर्म) निरवयवपने का उपाय है, युक्ति है। अवयव अर्थात् काय; उसका (काय का) अभाव, वह अवयव का अभाव (अर्थात् निरवयवपना)। परद्रव्यों को अवश जीव निरवयव होता है (अर्थात् जो जीव परद्रव्यों को वश नहीं होता, वह अकाय होता है)। इस प्रकार निरुक्ति-व्युत्पत्ति है।

प्रवचन-१६३, श्लोक-२३९, गाथा-१४२, सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण ११, दिनांक २३-०६-१९८०

नियमसार, गाथा १४२

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं त्ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।।१४२।।
जो वश नहीं वह 'अवश' आवश्यक अवश का कर्म है।
वह युक्ति है वह यत्न है, निरवयव कर्ता धर्म है॥१४२॥

टीका : यहाँ अवश... अवश का अर्थ स्वाधीन। पर के वश नहीं। राग या दया, दान ऐसे विकल्प के वश नहीं परन्तु अकेला आत्मा के वश। सच्चिदानन्द प्रभु शुद्धोपयोग स्वयं के वश है, उसे अवश कहा जाता है। आहाहा! दया, दानादि व्यवहाररत्नत्रय भेदोपचार का आश्रय, वह तो पराधीन है, परवश है। वह वस्तु धर्म नहीं। आहाहा! **यहाँ अवश...** अर्थात् पर के वश नहीं। **परमजिनयोगीश्वर...** परम जिनयोगीश्वर। आत्मा के आनन्द में जिसका उग्र आलम्बन है। अपने आनन्दस्वरूप में ज्ञानानन्द में जिसका आलम्बन है, वह **परम आवश्यक कर्म अवश्य है...** उसे परम अवश्य का कार्य है, वह अवश्य होता है। आवश्यक कार्य है, वह अवश्य होता है। आहाहा! यह आवश्यक तो हमेशा धन्धा करना, यह करना, वह अवश्य का कार्य... नहीं। आहाहा! यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय के जो विकल्प हैं, देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, भक्ति, पूजा, व्रत, नियम, वह भी परवशपना है। क्योंकि राग है, वह परवशपना है। वह आवश्यक नहीं। वह आवश्यक—अवश्य करनेयोग्य नहीं। आहाहा! करनेयोग्य तो यह एक ही वस्तु है। है?

जो योगी... जो कोई आत्मा के स्वरूप में जुड़ान करनेवाला, पुण्य और पाप के

विकल्प के राग में जुड़ान नहीं करनेवाला। आहाहा! यह आवश्यक क्रिया। आहाहा! ऐसी **निज आत्मा के परिग्रह के अतिरिक्त...** निज आत्मा के परिग्रह के अतिरिक्त – अपने आत्मा की पकड़ के अतिरिक्त। आहाहा! अन्तर भगवान आत्मा पूर्णानन्द आदि अन्दर सर्वांग आनन्द से भरपूर प्रभु ऐसा जो निज परिग्रह, उसे पकड़ा है जिसने, वह उसका परिग्रह है। आहाहा! परिग्रहधारियों को स्त्री, पुत्र, पैसा, इज्जत परिग्रह है। वे सब दु:ख के निमित्त हैं। वे दु:खरूप नहीं हैं।

मुमुक्षु : उन पर लक्ष्य करे तो दु:ख होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : दु:ख का निमित्त है। उसके ऊपर मेरा–तेरा लक्ष्य करे तो दु:ख होगा। परचीज़ कोई नुकसान करनेवाली (नहीं है), वह तो परज्ञेय है। ज्ञेय भी एकरूप है, उसके दो भाग करना कि यह ठीक है और अठीक है, वह तो कल्पना का भाव है। वह कहीं संयोगिक भाव कराते नहीं। संयोगिक जो चीज़ ज्ञेय और यहाँ ज्ञान। (ज्ञेय) पूरी दुनिया, ज्ञान स्वयं। ज्ञेय के दो भाग करना, इस ज्ञेय में भाग नहीं है। परन्तु अज्ञानी भाग करता है कि यह मुझे ठीक है और यह मुझे ठीक नहीं है। यह ठीक और अठीक भाव, वह दु:खरूप परवश पराधीन है। आहाहा! ऐसी बात है।

निज आत्मा के परिग्रह के अतिरिक्त... आहाहा! अपना आत्मा परिग्रह। धूल-बूल तो कहीं रह गयी तुम्हारी। धूल में धूल आयी। आहाहा! धूल किसी की हुई नहीं। वह तो ज्ञेय में है। ज्ञान में पूरी दुनिया ज्ञेय है और आत्मा उसका ज्ञाता ज्ञान है। बस, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। आहाहा! ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी चीज़ को ज्ञेयरूप से न जानकर भाग करना कि यह ज्ञेय ठीक है और यह ज्ञेय ठीक नहीं, ऐसा जो भाव, वह मिथ्यात्वभाव, वह दु:खरूप है। चीज़ नहीं। चीज़ दु:खरूप नहीं। वह तो जगत की चीज़ (जगत में रही है)। आहाहा!

यहाँ तो आवश्यक स्ववश की बात करनी है। इसलिए **जो योगी निज आत्मा के परिग्रह के अतिरिक्त...** आहाहा! एक आत्मा के अतिरिक्त **अन्य पदार्थों के वश नहीं होता...** आहाहा! राग के वश नहीं होता, दया, दान के वश नहीं होता। आहाहा! विकल्प के वश नहीं होता, वह धर्मी जीव है। **इसीलिए जिसे 'अवश' कहा जाता है,...** इसीलिए

उसे अवश—पर में वश नहीं हुआ और स्व के आश्रय से स्व में वश हुआ, इसलिए उसे अवश कहा जाता है। आहाहा!

आत्मा आनन्द और ज्ञान और अनन्त गुणस्वरूप है। वह एक ही परिग्रह ज्ञानी को है, इसके अतिरिक्त दूसरी सभी चीज़ें ज्ञान में परज्ञेयरूप से ठीक-अठीक किये बिना जाननेयोग्य है। वह जाननेयोग्य है, यह व्यवहार है। आहाहा! परचीज़ कोई सुख-दुःख का कारण नहीं है। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी यह कहीं सुख-दुःख का (कारण नहीं है)। वह तो जगत की जड़ चीज़ है। आहाहा! उसमें भाग करना... ज्ञेय एक ही प्रकार है। एक ओर ज्ञान तथा एक ओर पूरी दुनिया ज्ञेय। जाननेयोग्य ज्ञेय, वह व्यवहार। उसके भी दो भाग करना कि यह मुझे ठीक पड़े और यह मुझे ठीक नहीं पड़ता... आहाहा! वह परवश स्वाधीनपना खोकर बैठता है। आहाहा! उसे आवश्यक कर्म नहीं होता। अवश्य कार्य-अवश्य कर्म उसे नहीं होता। अनावश्यक भटकने का होता है। आहाहा! देखो न! कहाँ संसार... ओहोहो! अब इन्दिरा को कितना विचार होगा कि लड़के को लाकर बड़ा प्रधान बनाना। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : विचारा हुआ किसका होगा? विचारा हुआ होगा। अपने स्ववश में झुकना, यह विचारा होगा। धारा हुआ होगा। अपने आनन्दादि गुण जो हैं, उसमें आवे तो वह विचारा हुआ होगा। पर में विचारा हुआ जरा कुछ नहीं होगा। आहाहा! दुश्मन आकर छुरा मारे, वह दुःख नहीं। उसके प्रति लक्ष्य जाने पर यह... यह... चिन्ता और कल्पना खड़ी होती है, वह दुःख है। आहाहा!

मुमुक्षु : छुरा कहाँ इसे छूता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : छूता नहीं। छुरा छूता नहीं परन्तु कल्पना करता है न? आहाहा!

अभी वहाँ हुआ। उसका सामनेवाला इन्दिरा का कोई व्यक्ति। क्या कहलाता है वह? जनता-जनता। जनता का। तुम्हारे शब्द याद नहीं रहते। यह शास्त्र के जो शब्द झट आवें, ऐसे ये शब्द याद नहीं रहते। आहाहा! वह जनता का व्यक्ति था... वहाँ दूसरा जनता के विरुद्ध के बैठे थे। इन्दिरा के। वे आओ... आओ... छुरा मार दिया। मार डाला।

आहाहा! उस छुरे का दु:ख नहीं है, उस दुश्मन का दु:ख नहीं है। जगत में कोई दुश्मन है ही नहीं। सब चीज़ जाननेयोग्य ज्ञेय है। एक ही प्रकार है। तीन लोक के नाथ से दुश्मन जीव तक सब ज्ञेय है। उसमें यह ठीक है और यह अठीक है, ऐसे दो भाग ज्ञेय में नहीं है। आहाहा! ऐसे दो भाग करना, वही परवश और पराधीन है। राग आवे, राग आवे तो भी उसके वश नहीं होता। आहाहा! यहाँ तक पहुँचना अब। शान्तिभाई! वे लाखों रुपये पैदा हों, वहाँ हुकम... क्या कहलाता है वह? आहाहा! पैदा किसे कहना? कहते हैं। पैसा आया, वह मेरा आया, मुझे आया, यह कहना किसे? वह चीज़ तो ज्ञेय है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आया तो उसके कारण से। उसकी क्रियावतीशक्ति के कारण क्षेत्रान्तर आया। वह तेरे कारण आया नहीं। आहाहा! वास्तव में तो उसके पुण्य के कारण (भी) आया नहीं। पुण्य के परमाणु अलग और यह चीज़ आवे, वह अलग। कहलाता अवश्य है कि पुण्य के कारण आया, परन्तु फिर भी वह स्वतन्त्र चीज़ उस समय में आयी है। उसे ऐसा कहा जाता है कि यह मुझे मिली और मैंने पैदा किया, यह भ्रम है, भ्रमणा है। आहाहा! कठिन काम है।

जो धर्मी। योगी अर्थात् धर्मी। **निज आत्मा के परिग्रह के अतिरिक्त...** आहाहा! अपना भगवान ज्ञान और दर्शन, आनन्दमय है। **अन्य पदार्थों के वश नहीं होता और इसीलिए जिसे 'अवश' कहा जाता है,...** पर के वश नहीं होता, इसलिए उसे अवश, अवश अर्थात् वश नहीं होता। आहाहा! जो धर्मी, आत्मा के सिद्धस्वरूप में जुड़ान करता है,... आहाहा! वह पर के वश नहीं होता। उस धर्मी जीव को अवश्य आवश्यक कर्म जानना। आवश्यक कार्य अवश्य उसके पास है। अवश्य कार्य अवश्य उसके पास है। आहाहा! बाकी तो पूरे दिन अनावश्यक अकेला पाप का काम करके पाप का पोटला बाँधे। आहाहा!

परमजिनयोगीश्वर... परम धर्मी जीव को **निश्चयधर्मध्यानस्वरूप परम-आवश्यक-कर्म अवश्य है...** कहते हैं कि निश्चयधर्मध्यानस्वरूप परम आवश्यक कर्म निज आत्मा के वश हुए को अवश्य होता है। पर के वश हुआ चाहे तो तीन लोक का नाथ हो, उसके आश्रय से भी यदि होवे तो वह परवश और राग है, वह पराधीनता है।

आहाहा! उसे अवश्य, परम आवश्यकवाला कार्य अवश्य है, ऐसा जानना। **(वह परम-आवश्यक कर्म) निरवयवपने का उपाय है,...** यह क्या कहते हैं? अवयव अर्थात् शरीर। शरीररहित होने का यह उपाय है। अवयव अर्थात् शरीर, निरवयव अर्थात् शरीररहित। स्व के आश्रय से चिदानन्द विकल्परहित के आश्रय से हुआ जो भाव, वह अवश्य है, स्वाधीन है और वह निरवयवपने का, शरीररहितपने को प्राप्त करने का कार्य है। आहाहा! उसको निश्चय लगे। भाई! सत्य ही यह है। गप्प मारकर व्यवहार कर-करके अनादि से यह मर गया है। आहाहा! आत्मा व्यभिचार आदि करे और मरकर वापस नरक में जाना। आहाहा! नरक में भी प्रतिकूल संयोग का पार नहीं होता। उसके ऊपर लक्ष्य जाए तो दु:खी... दु:खी। दु:ख की पीड़ा सहन नहीं होती, ऐसा दु:ख। आहाहा! आनन्द का नाथ स्ववश न पड़े और परवश पड़े, उसे शरीर मिलता है और दु:खी होता है।

यहाँ कहते हैं, स्ववश देखे, वह कर्म निर्भयपने का उपाय है। शरीर का नहीं मिलना, उसका यह उपाय है। आहाहा! भगवान आत्मा जिसमें भव और भव के भाव का अभाव है, उसका जिसने भाव किया और आश्रय लिया, वह कार्य शरीररहित होने का वह कार्य है। बाकी दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहाहा! पर की सेवा करे, पर को... जाए, पर को जिला दे... आ जाए। कृपा हो जाए। अभयदान दे। आहाहा! सब जगत से उल्टा है। अभयदान दे। अभयदान किसका? स्वयं अपने आनन्दगुण में दान स्वयं दे। सम्प्रदान नाम का गुण है। आत्मा में सम्प्रदान नाम का गुण है। वह स्वयं अनन्त गुण पर लक्ष्य करे तो स्वयं गुण को स्वयं अपने को दे। स्वयं ही ले और स्वयं ही दे, इसका नाम दान है। आहाहा! यह पैसा और लक्ष्मी और मुनि को आहार (देना), उसमें कोई स्ववशपना नहीं है। वह सब परवशपना है। आहाहा! गजब बात है। तीन लोक का नाथ तीर्थंकर जब छद्मस्थरूप से होते हैं, तब आहार लेने जाते हैं, उन्हें भी आहार दे, वह परवश है, राग है। आहाहा!

अपने स्वरूप में से बाहर हट जाना और पर का आश्रय लेना, वह दु:ख की खान है। अपना आश्रय लेना, वह आनन्द की खान है। आहाहा! और वह जीव का आवश्यक कर्म स्व के आश्रय से हुआ, वह शरीररहित होने का उपाय है। बाकी दूसरे शरीररसहित होने के उपाय हैं। आहाहा! है? **निरवयवपने का उपाय है, युक्ति है।** युक्ति... युक्ति...

अवयव अर्थात् काय;... इसका अर्थ करते हैं। निरवयवपने का अर्थ करते हैं।

अवयव अर्थात् काय; उसका (काय का) अभाव, वह अवयव का अभाव (अर्थात् निरवयवपना)। परद्रव्यों को अवश जीव निरवयव होता है... आहाहा! परद्रव्य के आधीन नहीं होता, वह अवश्य कर्मरहित, शरीररहित होता है। आहाहा! एक-एक गाथा... क्या है? यह तो पंचम काल के टीकाकार मुनि हैं। अभी नौ सौ वर्ष पहले हो गये हैं। गाथा दो हजार वर्ष पहले की है और ये कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं कि मैंने तो मेरे लिये बनाया है। आहाहा! उसमें और टीका करनेवाले ऐसे मिले, पद्मप्रभमलधारिदेव! आहाहा! ...अनुभव करते हैं और आनन्द को अनुभवते-अनुभवते हम मुक्ति को प्राप्त करनेवाले हैं। आहाहा! पंचम काल के साधु। आहाहा! क्योंकि आत्मा स्वयं मुक्तस्वरूप है। इसलिए उसकी दृष्टि जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ से मुक्ति की शुरुआत हो गयी। आहाहा! समझ में आया?

समयसार में पीछे कलश में है कि साधक जीव-धर्म का साधनेवाला जीव ऐसा जहाँ लक्ष्य करें तो राग और भव है; ऐसा लक्ष्य करे, वहाँ मुक्ति है। एक समय में, हों! आहाहा! अभी साधक है न? केवल (ज्ञान) हुआ नहीं। तब तक ऐसे लक्ष्य करे, वहाँ भव है। उसी समय में ऐसे लक्ष्य करे वहाँ मुक्ति है। अन्तर में लक्ष्य करे, वहाँ मुक्ति है। बाहर में जितना लक्ष्य करे, उतना संसार है। आहाहा! इसमें तो इसे कुछ करना और कुछ करे तो हो, ऐसा है परन्तु करे तो हो, यह करे तो हो। करना तो है। आहाहा!

शुद्धचैतन्य भगवान परम ज्ञान और आनन्द का सागर, उसके वश होकर जो क्रिया होती है, वह तो शरीररहित होने की क्रिया है। भगवान के स्मरण आदि की जितनी परवश होने की क्रिया है, वह भी भव का कारण है। आहाहा! पंच परमेष्ठी का स्मरण, वह राग भव का कारण है। आहाहा! स्व और पर दो चीज़ है। स्व चैतन्यमूर्ति का आश्रय, वह शरीररहित होने का उपाय है। उसे छोड़कर पर का आश्रय लेना, वह शरीर का कारण है। भव होने का, भव उत्पन्न होने का कारण है। आहाहा! पूरे दिन धन्धा करना, ऐसा सब करना। फुरसत कब? ऐई! मधुभाई! क्या करना? यह सब हीरा और माणिक में अन्दर घुस गये हैं। आहाहा! उसमें घुस तो नहीं जाता परन्तु वे मेरे हैं और मैं उनका व्यापार करता हूँ, ऐसा जो भाव, उसमें घुस जाता है। आहाहा!

परद्रव्यों को अवश जीव निरवयव होता है... परद्रव्य के वश नहीं होता, वह अवश शरीररहित होता है। आहाहा! **(अर्थात् जो जीव परद्रव्यों को वश नहीं होता, वह**

अकाय होता है)। उसे काया–वाया मिलती नहीं। आहाहा! वह शरीररहित हो जाता है। आहाहा! समयसार जब पहले हाथ में आया (संवत्) १९७८ के वर्ष में। तब मैंने तो तुरन्त बाहर प्रसिद्ध किया था कि यह शरीररहित होने का उपाय है, सेठ! कहा। परन्तु तब तो उसमें (स्थानकवासी में) थे, इसलिए कुछ विरोध नहीं करे। फिर तो विरोध किया। १९७८ के वर्ष में समयसार हाथ में आया। सेठ था, दामोदर सेठ। दस लाख रुपये तब साठ वर्ष पहले थे। अभी तो उनकी कीमत बढ़ गयी। परन्तु वह कुछ... आहाहा! उससे कहा– यह अशरीरी पुस्तक है, सेठ! कहा। यह शरीररहित होना हो तो यह पुस्तक है। यह पुस्तक है, इसका अर्थ कि यह पुस्तक स्वयं नहीं, इसकी ओर लक्ष्य करने से विकल्प छोड़कर निर्विकल्प हो। आहाहा! उसमें यह कहा है। उसमें समयसार में निर्विकल्प होने को कहा है। निर्विकल्प होना, यही शरीररहित होने का उपाय है। आहाहा! यह सब काम सिर पर लिये हों, उनका क्या करना?

वह लड़का सवेरे मर नहीं गया? इन्दिरा का लड़का। सवेरे आठ बजे जाना पड़ेगा, वहाँ तो वह मर गया। बहुत काम सिर पर लिये थे। आहाहा! इन्दिरा को भी उसे बड़ा प्रधान बनाना था।

मुमुक्षु : किसी का विचारा कुछ होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसे यह करना था। उसमें यह हुआ। आहाहा! किसकी क्या स्थिति / अवस्था होगी? बापू! वह पर की वस्तु कहीं आत्मा के आधीन नहीं है। आहाहा! यह देह की स्थिति की अवस्था ही इतनी वहाँ आत्मा की रहने की थी। कर्म के कारण नहीं। आत्मा की योग्यता के कारण शरीर में इतना ही रहना था, तब आयुकर्म था उतना, ऐसा कहने में आता है। बाकी कर्म है, वह पर है। आत्मा भगवान पर है, कर्म को आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! इसलिए आयुप्रमाण जीता है, ऐसा भी नहीं है। उसकी अपनी पर्याय की योग्यता प्रमाण जीता है। आहाहा! व्यवहार के रसियों को यह सब कठिन लगता है। एकदम व्यवहार–व्यवहार यह करो.. यह करो... यह करो... व्यवहार साधन है। आहाहा! आर्यिका ने अर्थ किया। नियमसार 'सार अर्थात् मिथ्यात्व का अभाव' उसके विरुद्ध की व्यवहार क्रिया का अभाव नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह निश्चय है, उससे विरुद्ध है, वह संसार का कारण है। व्यवहाररत्नत्रय संसार का कारण है। आहाहा! परन्तु पुण्य जरा... ऐई... दिल्ली में बड़ा पच्चीस लाख का जम्बुद्वीप बनाया। तीस फुट का यहाँ हस्तिनापुर में मानस्तम्भ (सुमेरु) बनाया है। लोग बहुत इकट्ठे होते हैं। आहाहा! श्रद्धा बीस पन्थी की और हस्तिनापुर में प्रमुख हैं, उनकी श्रद्धा तेरापंथी की है। फिर अन्दर से विवाद उठते हैं... श्वेताम्बर के पश्चात् नाम बहुत आया, वह श्वेताम्बर में... थे। अरे रे! आहाहा! वह तो ऐसा कहे कि पर के अच्छे काम करें, देशसेवा आदि, उससे जन्म-मरण मिटने का उपाय है। व्यवहाररत्नत्रय, वह निश्चय का कारण है। वह निश्चय से विरुद्ध उसे कहो, वह मिथ्या बात है। निश्चय से विरुद्ध तो मिथ्यात्व है। आहाहा! परन्तु यहाँ निश्चय की जो क्रिया चलती है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र और निश्चय, उससे विरुद्ध, वह उसकी व्यवहारक्रिया है। आहाहा!

व्यवहारक्रिया, वह पराधीन शरीर का कारण है। शरीर मिलेगा और चार गति में भटकेगा। आहाहा! परन्तु क्या हो ? कौन किसे कहे ? और कौन किसकी माने ? कोई किसी की माने, ऐसा है ? भगवान की भी कोई माने, ऐसा है ? उसे-स्वयं को माने, तब भगवान का माना, भगवान का निमित्त कहने में आता है। आहाहा! भगवान को मानने में भी भगवान कोई कारण नहीं है। यह तो अपने को विकल्प उठा और माने, तब भगवान को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! वह भी माने, वह राग संसार है। शुभराग, वह संसार है, वह घोर संसार है। नियमसार में है। यह शुभराग, वह घोर संसार है। ऐसा नहीं कि अशुभ की अपेक्षा शुभ ठीक है। घोर संसार।

भगवान आनन्द के नाथ से विरुद्ध भाव, तीन लोक का नाथ चैतन्य निरंजन नाथ से-अमृत के सागर से विरुद्ध भाव। वह अमृत का सागर भरपूर प्रभु है। राग उससे विरुद्ध है, वह तो जहर है। आहाहा! चाहे तो शुभराग परन्तु अन्दर से जहर है। जीव का जीवन वह नहीं है, नाथ! आहाहा! वह जीव का जीवन नहीं है। जीव का जीवन तो शुद्धोपयोग, वह जीव का जीवन है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

(जो जीव परद्रव्यों को वश नहीं होता, वह अकाय होता है)। इस प्रकार निरुक्ति-व्युत्पत्ति है। निरवयव कहा न ? निरवयव की व्याख्या की है। निरवयव की व्युत्पत्ति अर्थात् अवयवरहित। अवयव अर्थात् शरीररहित। आहाहा! यहाँ तो दो बातें हैं।

या शरीर संसार और या मुक्ति। कोई बीच की दशा नहीं है। आहाहा! जितना स्ववश होता है, उतनी मुक्ति क्योंकि स्वयं मुक्तस्वरूप है, वह मुक्ति का कारण होता है और राग बन्ध का कारण है, वह संसार का कारण होता है। पुण्य-पाप (अधिकार) में आता है। यह राग स्वयं बन्धस्वरूप है, वह बन्ध का कारण है और आत्मा तो मुक्तस्वरूप है। अन्दर में राग से मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप, वह मुक्ति का कारण है। आहाहा! ऐसी बात सुनी भी नहीं होगी, बाहर में उलझ गया। विपरीतता। आहाहा!

मुमुक्षु : बहुत घोटाला किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : घोटाला है। पहले से अनादि से। अनादि के जीव... आहाहा! उसमें से बदल जाना। यह... बात है। आहाहा! अरे! भगवान! एक ओर संसार तथा एक ओर मुक्ति। दो है। अब जितना चैतन्य भगवान का अवलम्बन, उनकी शरीररहित होने की दशा और जितना पर का अवलम्बन, वह शरीरसहित होने की दशा। रहित - सहित। आहाहा! एक-एक गाथा में कितनी बात की है!

श्लोक-२३९

[अब इस १४२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

योगी कश्चित्स्वहितनिरत: शुद्धजीवास्तिकायाद्,
अन्येषां यो न वश इति या सन्स्थिति: सा निरुक्ति:।
तस्मादस्य प्रहत-दुरित-ध्वान्त-पुञ्जस्य नित्यं,
स्फूर्जज्ज्योति:स्फुटितसहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात् ।।२३९।।

(वीरछन्द)

कोई योगी लीन स्वहित में शुद्ध जीवघन के अतिरिक्त।
पर-पदार्थ के वश नहिं होता यह सुस्थिति ही अवश निरुक्ति।

निज में सदा लीन रहकर ही दुरित तिमिर का नाश किया।
प्रगट ज्योति से सहज दशा है अतः उसे बिनमूर्तपना॥२३९॥

[श्लोकार्थ :] कोई योगी स्वहित में लीन रहता हुआ शुद्धजीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता। इस प्रकार जो सुस्थित रहना, सो निरुक्ति (अर्थात् अवशपने का व्युत्पत्ति-अर्थ) है। ऐसा करने से (-अपने में लीन रहकर पर को वश न होने से) *दुरितरूपी तिमिरपुंज का जिसने नाश किया है, ऐसे उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा सहज अवस्था प्रगट होने से अमूर्तपना होता है॥२३९॥

श्लोक -२३९ पर प्रवचन

[अब इस १४२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्,
अन्येषां यो न वश इति या सन्स्थितिः सा निरुक्तिः।
तस्मादस्य प्रहत-दुरित-ध्वान्त-पुञ्जस्य नित्यं,
स्फूर्जज्ज्योतिःस्फुटितसहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात्॥२३९॥

श्लोकार्थ : आहाहा! **कोई योगी स्वहित में लीन रहता हुआ...** योगी अर्थात् कोई बाबा-बाबा योगी, ऐसा नहीं। योगी अर्थात् यह आत्मा का जुड़ान करे, वह योगी। आहाहा! कोई भी धर्मी **स्वहित में लीन रहता हुआ...** आहाहा! अपने स्वहित में लीन रहता हुआ। परहित करने में लीनता छोड़कर, पर का हित कर नहीं सकता। आहाहा! पर को मदद नहीं कर सकता, पर को एक पाई भी नहीं दे सकता। पर को रोटी का टुकड़ा भी नहीं दे सकता। आहाहा! परचीज़ है, उसे दे कौन और ले कौन? वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। पररूप से जाननेयोग्य है। वह भी व्यवहार। आहाहा! एक रोटी का टुकड़ा भी दूसरे को दे सके... आहाहा! बहुत तृषा लगी हो और तृषा से तड़पता हो, उसे पानी पिलाना, वह पानी दे सके, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! यह बात कैसे जँचे? पूरे दिन या व्यवहार के... हो

* दुरित=दुष्कृत; दुष्कर्म। (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तव में दुरित हैं।)

और यहाँ कहे वह कर नहीं सकता। करना माने तो संसार खड़ा है। शरीर है। नरक और निगोद में जाएगा। आहाहा! भव में जाते हुए किस जगह भव जाएगा, यह कहाँ ठिकाना है? यह चौरासी के अवतार भवभ्रमण पड़े हैं, बापू! आहाहा!

आया था न? भव का भय। इसमें आया था। **संसार की घोर भीति से सर्व जीव...** एक पृष्ठ पहले ही। टीका में। २३३। **संसार की घोर भीति से सर्व जीव नित्य वह उत्तम भक्ति करो।** आहाहा! संसार से डरो। आहाहा! ऐसा कहते हैं। अरे! भव होगा, उसमें क्या होगा? डरो। परवश है। किस समय वहाँ क्या होगा? भवरहित होने की दशा को प्रगट करो, प्रभु! आहाहा! क्योंकि तू भवरहित ही है। भवरहित है, वह भवरहित हो सकता है। राग और पुण्य भवसहित है, वह तो संसार है; इसलिए उसमें से तो संसार मिलेगा। पुण्यभाव का, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव संसार है। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसा सुना नहीं होगा। दिये रखे वहाँ भाषण। ऐसा है और वैसा है, अमुक है और अमुक है। आहाहा!

कोई योगी... उसे योगी कहा। जो आत्मा में जुड़े, वह योगी; बाकी सब भोगी। आहाहा! ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु में जो जुड़े, वह योगी। **स्वहित में लीन रहता हुआ...** आहाहा! स्वहित में, स्वहित में लीन रहता हुआ। परहित का करना, करना कुछ है नहीं। आहाहा! गौशाला करना और यह सब (करते हैं), भूखे के लिये अनाज इकट्ठा करके रोटिया देना। आहाहा! लोगों को नौकरी में रखना कि जिससे... दे। यहाँ तुम्हारे भी देते थे कुत्ते को रोटियाँ। एक बार सुना अवश्य था। अपने को बहुत खबर नहीं है, कोई... रोटियाँ देता था। पोपटभाई की तरफ से था। पोपटभाई की तरप से। पोपटभाई की तरफ से था। यहाँ कुत्ते को रोटियाँ देते थे। परन्तु रोटियाँ पर, कुत्ता पर, दे कौन? ले कौन? शान्तिभाई! ऐसा है, बापू! आहाहा!

एक ओर सारा राग संसार तथा ओर भगवान। जिसमें संसार है ही नहीं और संसार में आत्मा है ही नहीं। संसार की दशा में आत्मस्वरूप है ही नहीं और आत्मस्वरूप में संसार है ही नहीं। आहाहा! ऐसे धर्मी स्वहित में लीन रहता हुआ **शुद्धजीवास्तिकाय...** भाषा कैसी ली है, देखा! शुद्धजीव नहीं लिया। वीतराग सर्वज्ञदेव ने असंख्य प्रदेशी जीव देखा है। इसके अतिरिक्त—सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी ने नहीं देखा। किसी जगह यह बात नहीं

है। आहाहा! श्वेताम्बर में भी जो असंख्य प्रदेशी है, उसमें उनकी भूल है क्योंकि ३४३ राजू (कहे हैं), उसमें उनकी भूल है। स्वयं स्वीकार किया है। अपने यह ३४३ (राजू की) भूल है, तो फिर जीव के प्रदेश ३४३ राजू प्रमाण है, तो उसमें भूल है तो इसमें भी भूल हुई। आहाहा! जगत का भाग्य कि यह रह गया, यह वस्तु (रह गयी)। आहाहा! भवरहित की बात। आहाहा! इसके कान में पड़ना भी मुश्किल पड़ती है, इसे हाँ करना तो मुश्किल पड़े, इसका परिणमन होना तो महामुश्किल पड़े। आहाहा! ऐसा जो मार्ग... आहाहा!

कहते हैं, यह **शुद्धजीवास्तिकाय...** भाषा कैसी ली है? वीतराग के अतिरिक्त जीवास्तिकाय, काय, अस्तिकाय। असंख्य प्रदेशी है, इसलिए उसे अस्तिकाय कहा। एक जीव असंख्य प्रदेशी है, भले निगोद के राई जितने टुकड़े में असंख्य शरीर, एक शरीर में अनन्त जीव, एक-एक जीव के असंख्य प्रदेश और एक-एक जीव के साथ तैजस और कार्मणशरीर। आहाहा! सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात किसी ने देखी नहीं। वस्तुस्थिति भी यह है। आहाहा! असंख्य प्रदेशी। इसलिए यहाँ शुद्धजीवास्तिकाय शब्द प्रयोग किया है। शुद्ध जीव अकेला शब्द प्रयोग नहीं किया। शुद्धजीवास्तिकाय। अस्तिकाय अर्थात् असंख्य प्रदेशी। आहाहा!

असंख्यप्रदेश में भी विरोध करते हैं। यह तो विरोध है। वस्तु का स्वरूप ही यह है। संकोच-विकास होता है। उस असंख्यप्रदेशी के संकोच-विकास नहीं। असंख्यप्रदेश घटते-बढ़ते नहीं। संकोच-विकास में असंख्यप्रदेश घटते-बढ़ते नहीं। लोकप्रमाण समुद्घात करे तो इतने प्रदेश और राई के टुकड़े जितने में असंख्य भाग में... आहाहा! आत्मा अनन्त, उसके प्रदेश भी एक-एक के असंख्य। आहाहा!

कोई योगी स्वहित में लीन रहता हुआ शुद्धजीवास्तिकाय के अतिरिक्त... आहाहा! शुद्ध जीवास्तिकाय। जीव अस्ति और असंख्यप्रदेशी काय। आहाहा! उस **शुद्धजीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता।** राग के विकल्प में भी वश नहीं होता। आहाहा! भेदज्ञान होने के बाद पर के वश होता ही नहीं। वस्तु होती है। राग आता है तो भी परवश नहीं होता। आहाहा! **अन्य पदार्थों के वश नहीं होता। इस प्रकार जो सुस्थित रहना...** ऐसा जो आत्मा में सुस्थित रहना। आहाहा! ऐसा करने जाए। अब लड़के छोटे (हों)। दो वर्ष का, चार वर्ष का, छह वर्ष का और आठ वर्ष का। दो-

दो वर्ष में एक-एक लड़का हो। सोलह वर्ष में आठ हों। एक, दो और एक चार और एक छह और एक आठ और एक दस। इन सबको सम्हालना... आहाहा! बारह भाया है। बीछिया में... बीछिया में। बारह भाया। उसमें क्या है ? चक्रवर्ती को चौंसठ हजार लड़के हैं। आहाहा! परन्तु समकिती है, वह अपने स्वभाव में और पर में कुछ भी स्पर्श नहीं करने देता। आहाहा! मेरा यह है और मैं इसका, यह स्वप्न में नहीं होता। आहाहा! सोलह-सोलह हजार देव सेवा करते हों, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें हजार सैनिक। मेरे प्रभु आत्मा के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं है। आहाहा!

यहाँ यह कहते है। **जो सुस्थित रहना सो निरुक्ति (अर्थात् अवशपने का व्युत्पत्ति-अर्थ) है।** अवशपना अर्थात् पर के वश न होना और स्व के वश होना, ऐसी उसकी व्युत्पत्ति का अर्थ है। **ऐसा करने से (-अपने में लीन रहकर पर को वश न होने से)...** आहाहा! **दुरितरूपी तिमिरपुंज....** पुण्य और पाप दोनों दुरित हैं। आहाहा! दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, परमात्मा का स्मरण, यह सब दुरित है। यह आत्मा की रीति नहीं है। आहाहा! है न नीचे। **दुरित=दुष्कृत; दुष्कर्म। (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तव में दुरित हैं।)** आहाहा! इसमें भी कहा न ? मोक्षपाहुड़ में। '**परदव्वादो दुग्गई**' कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में ऐसा कहा है कि यदि तेरा लक्ष्य स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य में जाएगा तो दुर्गति है। आहाहा! दुर्गति अर्थात् वह चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों को जगत की पड़ी नहीं है। ऐसा कहेंगे तो समाज सुगठित रहेगी या नहीं ? समाज में भाग पड़ जाएँगे या नहीं ? यह वाणी आयी, वह आयी - निकली। उसमें वे कर्ता-वर्ता नहीं हैं। आहाहा! उस वाणी का फल आयेगा या नहीं ? लोग समझेंगे या नहीं ? उनकी संख्या बढ़ेगी या नहीं ? इसकी भी जिन्हें दरकार नहीं है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! परन्तु उसका फल भी कठिन है न! मोक्ष! आहाहा! 'सादि अनन्त अनन्त समाधि सुख में।' भूतकाल की अपेक्षा भविष्य अनन्त गुणा। वह इस आत्मा के स्ववश होकर हुआ जाता है। अवयवरहित अर्थात् शरीररहित। उस शरीररहित होकर काल (जाएगा, वह) भूतकाल की अपेक्षा अनन्त गुना भविष्य काल है। आहाहा! भूतकाल का तो अभी अन्त भी आया और भविष्य का शुरु होगा, उसका कहीं अन्त ही नहीं है। आहाहा! फिर भूतकाल की अपेक्षा भविष्य काल अनन्त गुना। अनन्त-अनन्त आनन्द में रहना। आहाहा!

'अनुभवी को अकेला रे आनन्द में रहना... भजना परिब्रह्म को दूसरा कुछ न कहना

रे' आहाहा! परिब्रह्म अर्थात् स्वयं आत्मा। आहाहा! कठिन काम पड़े। साधारण प्राणी को निवृत्ति नहीं, फुरसत नहीं और यह अत्यन्त निवृत्तस्वरूप, जिसे राग का-विकल्प का तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस विकल्प का भी जिसे स्पर्श नहीं। जिसे आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! अब उसे इस दुनिया की सब चीज़ से दूर रखना... आहाहा! वह यहाँ कहा।

ऐसा करने से **(-अपने में लीन रहकर पर को वश न होने से) दुरितरूपी तिमिरपुंज का...** पुण्य और पाप दोनों दुरित है। आहाहा! पर की दया का भाव, वह दुरित है। आहाहा! वह राग है। आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध जितना भाव, उतना दुरित है। उस **दुरितरूपी तिमिरपुंज...** इस पुण्य को भी अन्धकार का ढ़ेर कहा। आहाहा! तिमिर अर्थात् अन्धकार का पुंज है। आहाहा! क्योंकि वह शुभ अन्धेरा है। शुभ में प्रकाश नहीं है। शुभ और अशुभभाव दोनों अन्धकार है। उनमें चैतन्य का प्रकाश नहीं है। आहाहा! चैतन्य के प्रकाश के अभाव में वह अन्धकार है, इसलिए उसे दुरित तिमिर कहा है। अन्धकार, बुरा अन्धकार, दुरित अन्धकार। आहाहा! दिगम्बर सन्तों को कहाँ पड़ी है। यह सुनते हुए लोग कैसे होंगे? आहाहा!

दुरितरूपी तिमिरपुंज... यह पुण्य और पाप का भाव दुरित और अन्धकार का ढ़ेर। आहाहा! **जिसने नाश किया है...** आहाहा! ऐसे पुण्य-पापरूपी तिमिर अन्धकार के पुंज का जिसने नाश किया है। **ऐसे उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति...** उस अन्धकार का नाश हुआ और प्रकाश प्रगट हुआ। अन्दर चैतन्य प्रकाश प्रगट हुआ। आहाहा! **उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति...** सदा प्रकाशमान ज्योति। किसी समय भी राग के वश नहीं। राग आवे, परन्तु उसे ज्ञेयरूप से अपने में रहकर उसे भिन्न जाने। ज्ञान में रहकर, राग आवे उसे भिन्न जाने। आहाहा! व्यवहार के सब दिल्ली में इकट्ठे हुए हों, वहाँ ऐसा रखते हैं। क्या है यह?

यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य के परिणाम, जिन्हें तू अच्छा कहता है, वे दुरित हैं और वह अन्धकार है, ले! आहाहा! अन्धकार **जिसने नाश किया है, ऐसे उस योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा सहज अवस्था प्रगट होने से...** आत्मा की स्वाभाविक दशा प्रगट होने से **अमूर्तपना होता है**। आहाहा! वह अमूर्त आत्मा हो जाता है। पूर्णानन्द की प्राप्ति में अशरीरी अमूर्त आत्मा हो जाता है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१४३

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सय-लक्खणं ण हवे ।।१४३।।

वर्तते यः स श्रमणोऽन्यवशो भवत्यशुभभावेन।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यक-लक्षणं न भवेत् ।।१४३।।

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशत्वं न समस्तीत्युक्तम्। अप्रशस्तरागाद्यशुभ-भावेन यः श्रमणाभासो द्रव्यलिङ्गी वर्तते स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति। अशनार्थं द्रव्यलिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन् परमतपश्चरणादिकमप्युदास्य जिनेन्द्रमन्दिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति मनश्चकारेति।

वर्ते अशुभ परिणाम में वह श्रमण है वश अन्य के।
अतएव आवश्यक-स्वरूप न कर्म होता है उसे ॥१४३॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [अशुभभावेन] अशुभभाव सहित [वर्तते] वर्तता है, [सः श्रमणः] वह श्रमण [अन्यवशः भवति] अन्यवश है; [तस्मात्] इसलिये [तस्य तु] उसे [आवश्यकलक्षणं कर्म] आवश्यकस्वरूप कर्म [न भवेत्] नहीं है।

टीका : यहाँ, भेदोपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को अवशपना नहीं है ऐसा कहा है।

जो श्रमणाभास—द्रव्यलिंगी अप्रशस्त रागादिरूप अशुभभावसहित वर्तता है, वह निज स्वरूप से अन्य (-भिन्न) ऐसे परद्रव्यों के वश है; इसलिए उस जघन्य रत्नत्रय-परिणतिवाले जीव को स्वात्माश्रित निश्चय-धर्मध्यानस्वरूप परम-आवश्यक-कर्म नहीं है। (वह श्रमणाभास) भोजन हेतु द्रव्यलिंग ग्रहण करके स्वात्मकार्य से विमुख रहता हुआ परम तपश्चरणादि के प्रति भी उदासीन (लापरवाह) रहकर

जिनेन्द्र मन्दिर अथवा उसका क्षेत्र, मकान, धन, धान्यादिक सब हमारा है, ऐसी बुद्धि करता है।

प्रवचन-१६४, श्लोक-२४० से २४२, गाथा-१४३, मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण १२, दिनांक २४-०६-१९८०

नियमसार, गाथा १४३। आवश्यक का अधिकार है।

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सय-लक्खणं ण हवे।।१४३।।

वर्ते अशुभ परिणाम में वह श्रमण है वश अन्य के।
अतएव आवश्यक-स्वरूप न कर्म होता है उसे॥१४३॥

टीका : यहाँ, भेदोपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को... व्यवहाररत्नत्रयवाले जीव को देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, ऐसी उसकी श्रद्धा बराबर होती है। व्यवहार। उस व्यवहार भेदोपचार रत्नत्रयपरिणतिवाले को जब अशुभभाव आता है, इससे अत्यन्त परवश-अवश है। उसे आवश्यक नहीं है। बाहर के काम में जुड़ता है, तब उसे अशुभभाव हो जाता है। इसलिए यहाँ कहते हैं **भेदोपचार...** व्यवहार कहो, भेद कहो या उपचार कहो। **भेदोपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को अवशपना** अर्थात् कि स्ववशपना। अवशपना अर्थात् स्ववशपना **नहीं...** है। आहाहा! **ऐसा...** (यहाँ) **कहा है।**

भेद तो पाँचवीं गाथा में आता है न, भेद? अन्त:तत्त्व, बाह्यतत्त्व और परमात्मतत्त्व की श्रद्धा होवे तो वह व्यवहार है। अकेला परमात्मस्वभाव त्रिकाल स्व के आश्रय से होती दृष्टि-अनुभव, वह निश्चयसम्यक्त्व है। उसके बिना परमात्मतत्त्व, अन्त:तत्त्व, बहिरतत्त्व की श्रद्धा भी व्यवहार है। आहाहा! तब कहते हैं, ग्यारह अंग पढ़ा हो, उसमें यह बात तो आयी हो। नवपूर्व पढ़ा हो, यह बात आयी थी, उसे श्रद्धा में तो होवे व्यवहार। परन्तु यह सब व्यवहार है। यहाँ तो और अधिक लेते हैं।

जो श्रमणाभास—साधु नहीं, परन्तु साधु का लिबास है। आहाहा! **द्रव्यलिंगी...** अन्तर समयग्दर्शन-ज्ञान नहीं और नग्नपना धारण किया है। आहाहा! और **अप्रशस्त रागादिरूप अशुभभावसहित वर्तता है,...** साथ में यह। अशुभराग। अप्रशस्त अर्थात्

अशुभ। राग-द्वेष, रति, अरति बाह्य पदार्थ में (होती है)। अन्तरपदार्थ की तो दृष्टि नहीं, इससे बाह्य पदार्थ में उसे अशुभभाव हो जाता है। उस अशुभभावसहित वर्तता है। आहाहा! दिगम्बर नग्न मुनि। **वह निज स्वरूप से अन्य (-भिन्न) ऐसे परद्रव्यों के वश है;...** वह निजस्वरूप चिदानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा, वह निज स्वरूप। उससे वह भिन्न ऐसे परद्रव्यों के वश है। अशुभराग के वश है। आहाहा! आर्तध्यान हो। अशुभराग, इसका ऐसा करना... इसका ऐसा करना। मन्दिर को ऐसा बनाना, अमुक ऐसा बनाना। यह आगे आयेगा। धन-धान्य, मन्दिर, क्षेत्र, मकान, धनधान्य आदि—यह सब बाहर में किसी भी परद्रव्य का आश्रय लेकर जो अशुभभाव में वर्तता है... आहाहा! वह परद्रव्य के वश है। वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! लोगों को यह कठिन पड़ता है, इसलिए सोनगढ़वालों को ऐसा कहते हैं न कि एकान्त है.. एकान्त है.. एकान्त है।

ऐसा कहे, नग्न मुनि हैं, अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं। वहाँ अट्ठाईस मूलगुण भी कहाँ है? उनके लिये चौका करके आहार लेते हैं। चौका बिना (अनुद्दिष्ट) आहार अभी मिलता नहीं। चौका समझते हो? उनके लिये बनावे। उस बिना तो बनता नहीं। अष्टपाहुड़ में तो ऐसा कहा है कि जिसके गुण में मूलगुण का ठिकाना नहीं, उसका एक भी ठिकाना नहीं। ऐसी वस्तुस्थिति कोई हो गयी है। उसके आत्मा के लिये कुछ है नहीं। उसकी जवाबदारी तो उसे है, परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति है। जैसा स्वरूप है, वैसा वर्णन होता है, इससे कोई उनकी निन्दा (करना है) या ऐसी बात नहीं है। अरे! वे भी भगवान हैं। ऐसी स्थिति बदलकर भगवान होगा। आहाहा! परन्तु जब तक उसे भगवान आत्मा की चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु, पुण्य और पाप के विकल्प के रागरहित की दृष्टि, अनुभव और आश्रय नहीं है, तब तक उसे... यहाँ तो अशुभभाववाला लिया है। पश्चात् शुभभाववाला लेंगे। आहाहा!

अप्रशस्त... अर्थात् खोटा **रागादिरूप अशुभभावसहित वर्तता है, वह निज स्वरूप से अन्य (-भिन्न) ऐसे परद्रव्यों के वश है;...** आहाहा! **इसलिए उस जघन्य रत्नत्रय-परिणतिवाले जीव को...** जघन्य रत्नत्रय कहा, इसलिए कुछ होगा अवश्य? जघन्य अर्थात् हलका-खोटा। खोटा रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को। जघन्य अर्थात् कुछ न कुछ उसका अंश है, ऐसा नहीं। हलका, खोटा। आहाहा! ऐसे **जघन्य रत्नत्रय-परिणतिवाले जीव को स्वात्माश्रित...** भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु, **स्वात्माश्रित निश्चय-**

धर्मध्यानस्वरूप... जिस स्वभाव के आश्रय से सच्चा निश्चयधर्म प्रगट होता है, वह उसे नहीं है। आहाहा! 'लाख बात की बात...' आहाहा! दूसरा छोड़ दो, कहते हैं। निज आत्मा एक आनन्दकन्द प्रभु महा आनन्द से विराजमान (है), उसका आश्रय लो तो कल्याण है और धर्म है।

यहाँ तो कहते हैं कि वह **निश्चय-धर्मध्यानस्वरूप...** स्व-आत्माश्रित, वह निश्चयधर्म है, उससे यह रहित है। आहाहा! स्व यह जघन्य रत्नत्रय अर्थात् हलके रत्नत्रयवाले को, स्वात्माश्रित, स्व-आत्मा के अवलम्बन से, **निश्चय-धर्मध्यानस्वरूप परम-आवश्यक-** खास आवश्यक जो कार्य, वह **कर्म** (उसे) **नहीं है**। उसे निश्चय आवश्यक नहीं है। आहाहा! यहाँ तो अभी देव-शास्त्र-गुरु किसे कहना, उसका ठिकाना (नहीं), उसे भेद-उपचार भी नहीं है। देव-अरिहन्त, वे आहार करें, उन्हें रोग हो, उनके दो माता-पिता हो, उसे तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। आहाहा! यह तो व्यवहार में बराबर है। देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा है, नवतत्त्व की-भेद की श्रद्धा है; ऐसा होने पर भी, स्व आत्मा का आश्रय नहीं है, पर के आश्रय से वह वर्तता है। उसमें भी अशुभभाव वर्तता है। आहाहा!

(वह श्रमणाभास)... साधु नहीं, परन्तु साधु कैसा है ? **भोजन हेतु द्रव्यलिंग...** धारण किया है। आहाहा! गजब करता है। यह रोटियाँ खाने के लिये द्रव्यलिंग धारण किया है। आहाहा! इसलिए उसे अशुभभाव कहा है। साधु होंगे तो निश्चिंतता से आहार मिलेगा, अच्छा मिलेगा, बढ़िया मिलेगा। आहाहा! एक व्यक्ति यहाँ कहता था। क्षुल्लक, क्षुल्लक नहीं, परन्तु आठ प्रतिमावाला था। वह आया था। कहे, अभी आठ प्रतिमा है, तब तक लोग आदर नहीं करते; इसलिए आदर कराने के लिये ग्यारह प्रतिमाएँ लेनी पड़ेगी। आहाहा! ऐसा कहता था। (संवत्) १०९६ के वर्ष की बात है। राजकोट। आहाहा! तीस वर्ष हुए। ऐसा कहे, आठ प्रतिमा है, परन्तु जब तक लोगों को ऐसे त्यागी नहीं दिखते, तब तक निमन्त्रण और आमन्त्रण नहीं देते। ग्यारह प्रतिमायें धारण करूँगा तो आदर होगा। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **(वह श्रमणाभास) भोजन हेतु द्रव्यलिंग ग्रहण करके** नग्नपना ग्रहण करके, **स्वात्मकार्य से विमुख रहता हुआ...** अपना जो कार्य है श्रद्धा-ज्ञान

अन्दर, उससे विमुख रहता हुआ। स्व आत्मा का कार्य तो यह है। अपना आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरपूर प्रभु पूर्ण, उसके आश्रयरहित, उसके कार्यरहित.... आहाहा! **स्वात्मकार्य से विमुख...** यह व्यवहार की क्रिया आदि जो करनेवाला शुभभाव यहाँ तो कहते हैं। वह **स्वात्मकार्य से विमुख रहता हुआ परम तपश्चरणादि के प्रति भी उदासीन** परम तपस्या अर्थात् आत्मा का ध्यान। आत्मा के आनन्द में उग्ररूप से आनन्द का होना। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का उग्ररूप से होना, इसका नाम परम तपश्चर्या। आहाहा!

उस **परम तपश्चरणादि के प्रति...** आदि अर्थात् निश्चय द्रव्य के आश्रय से होती क्रिया, उसके आश्रय के प्रति **उदासीन (लापरवाह) रहकर...** बाहर का बराबर सँभालना। लोगों को पसन्द आवे, लोग आदर करे, वह बाहर का सँभालना, अन्दर के स्वात्मकार्य से विमुख, आहाहा! यहाँ तो स्पष्ट ना करते हैं। ऐसे **(लापरवाह) रहकर जिनेन्द्र मन्दिर...** उसका ध्यान रखे। मन्दिर बना या नहीं? बनाया या नहीं? देखते हैं हम। आहाहा! वे सब अशुभभाववाले हैं, कहते हैं। शुभभाववाले भी नहीं। आहाहा!

जिनेन्द्र मन्दिर अथवा उसका क्षेत्र,... इस मन्दिर के लिये कितना चौड़ा क्षेत्र लिया है? कितना रहेगा? अमुक ध्यान रखे साधु होकर। आहाहा! स्वात्मा का कार्य छोड़कर परक्षेत्र और परद्रव्य का के कार्य में जुड़ता हुआ। आहाहा! **क्षेत्र, मकान,...** पर के मकान में, इस मकान में इतना ठीक पड़ेगा, इसको इतना रहने का ठीक पड़ेगा और इसमें ऐसा, इतने कमरे बनाओ और इसमें यह बनाओ। आहाहा!

धन... धन की-पैसे की दरकार। आहाहा! इस ट्रस्ट में पैसे होते हैं न, देखो न! ट्रसट में पैसे... करोड़ रुपये इकट्ठे करना है न? आर्यनन्दी है और इकट्ठे करते हैं। एक करोड़। उसमें इतने अभी हुए नहीं। यहाँ भी मन्दिर है। समन्तभद्राचार्य ने उन्हें दीक्षा दी है। आहाहा! वे पैसे उगाहते हैं यह तीर्थक्षेत्र के उद्धार के लिये एक करोड़ एकत्रित करने का निश्चय किया है। उसमें कितने ही लाख हो गये हैं। आहाहा! यह कहते हैं कि द्रव्यलिंगी भी अशुभभाववाला है। आहाहा! अब यह शास्त्र ऐसा पुकारता है। यह पैसे का ध्यान रखे, यह रखे, वैसा करे। आहाहा! एक पूर्णचन्दजी क्षुल्लक थे न, गुजर गये। यहाँ रहते थे, यहाँ प्रेम था। परन्तु... करते सब। पैसे रखते। आठवीं प्रतिमा के बाद पैसे नहीं होते। ग्यारह प्रतिमाओं में आठ प्रतिमा के बाद पैसे नहीं रखे जाते। वे पैसे रखें, सँभाल करें,

बहियों का ध्यान रखें, दूसरे का ऐसा करें। तब वे बचाव करते। वह नियमसार में आता है न ? गाथा नहीं ? कि ऐसा जरा-सा होवे तो भी उसे....

मुमुक्षु : परमार्थवचनिका का आधार लेकर कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परमार्थवचनिका। सबका उदय एक सरीखा नहीं होता। ऐसा आधार लेते थे। हमारा उदय यह है। पैसा-बैसा रखना, इकट्ठा करना। भले क्षुल्लक हैं परन्तु हमारा उदय ऐसा है। सबका उदय एक सरीखा नहीं होता। अरे! परन्तु यह किसकी अपेक्षा से बात है ? अरे रे! बात करते हुए भी शर्म आये ऐसा है। किसी की बात किसलिए आलोचना। परन्तु यह तो कथन ऐसा आया है। आचार्य महाराज ने कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने स्वयं के लिये बनाया है और उसकी टीका करनेवाले पद्मप्रभमलधारिदेव हैं। आहाहा! मैं तो आनन्द में रहता हूँ, ऐसा कहते हैं। मैं तो परम अतीन्द्रिय आनन्द में रहता हूँ। वे यह बात करते हैं। बात करते हुए कहीं कोई राग-द्वेष नहीं है। वह तो वस्तु बतलाते हैं। आहाहा!

ऐसे **धन, (मकान) धान्यादिक...** अनाज का ध्यान रखे। आहाहा! आदि। आहाहा! मकान के कारण इत्यादि-इत्यादि, मन्दिर का पैसा, ट्रस्ट का पैसा, मन्दिर के ट्रस्ट के उद्धार का यह सब ध्यान रखे। वह **सब हमारा है, ऐसी बुद्धि करता है**। आहाहा! वह श्रमणाभासी द्रव्यलिंगी है। आहाहा! अब यह तो इसमें कथन है और वह भी द्रव्यलिंगी उसके लिये भोजन (बनाया हुआ ले)। यहाँ तो यह लिया, भोजन के लिये द्रव्यलिंग ग्रहण किया। बाकी उसके लिये भोजन बनाकर ले तो वह भी द्रव्यलिंगी नहीं है। वहाँ द्रव्य में छह मूलगुण में पूरा अन्तर है। अष्टपाहुड़ में कहते हैं मूलगुण में अन्तर है, उसे सब पूरा अन्तर है। आहाहा! ऐसी बात! आचार्य तो कहते हैं, वह जगत को प्रत्यक्ष सत्य करते हैं। किसी की व्यक्ति का कुछ नहीं है। किसी व्यक्ति के आदर-अनादर की बात नहीं है। आहाहा! वस्तु का ऐसा स्वरूप है, वह वर्णन करते हैं। आहाहा!

श्लोक-२४०

[अब इस १४३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं:]

(मालिनी)

अभिनव-मिद-मुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां,
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वान्तपुञ्जायमानम् ।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्,
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ।।२४०।।

(वीरछन्द)

तीन लोकमय महा निलय में जो करता है वास सदा।
महातिमिरवत् मुनि को कोई तीव्र मोह का उदय कदा॥
पहले तीव्र विरक्त भाव से घास फूस का घर छोड़ा।
फिर भी 'मेरा वह अनुपम घर' याद करें वे मुनि ऐसा॥२४०॥

[श्लोकार्थ :] त्रिलोकरूपी मकान में रहे हुए (महा) तिमिरपुंज जैसा मुनियों का यह (कोई) नवीन तीव्र मोहनीय है कि (पहले) वे तीव्र वैराग्यभाव से घास के घर को भी छोड़कर (फिर) 'हमारा वह अनुपम घर!' ऐसा स्मरण करते हैं!॥२४०॥

श्लोक -२४० पर प्रवचन

[अब इस १४३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं:] २४० (श्लोक)

अभिनव-मिद-मुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां,
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वान्तपुञ्जायमानम् ।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्,
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ।।२४०।।

श्लोकार्थ :.. आहाहा! **त्रिलोकरूपी मकान में रहे हुए (महा) तिमिरपुंज जैसा मुनियों का यह (कोई) नवीन तीव्र मोहनीय है...** आहाहा! मुनि होकर यह क्या किया? कहते हैं। उसे तो आत्मा के ध्यान में आनन्द में रहना चाहिए। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द में रहना। उसमें विकल्प आवे, उसे भी दु:खरूप देखे। उसमें रहना नहीं चाहे। बाहर में दुनिया के आचरण में कोई शुभभाव में रहना नहीं चाहे। आवे, परन्तु अतीन्द्रिय आनन्द में रहना चाहते हैं, मुनि तो उसे कहते हैं। आत्मा का जो अतीन्द्रिय आनन्द, उसमें लीन हों। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं **त्रिलोकरूपी मकान में रहे हुए (महा) तिमिरपुंज जैसा मुनियों का यह (कोई) नवीन...** अरे! घर छोड़कर, मकान छोड़कर, कुटुम्ब छोड़कर, दुकान छोड़कर। यह सब नया-नया कहाँ से आया? कहते हैं। आहाहा! यह मोह का उदय नया तीव्र मोह कहाँ से आया? आहाहा! **कि (पहले) वे तीव्र वैराग्यभाव से घास के घर को भी छोड़कर...** आहाहा! अर्थात् साधारण घर था, उसे भी छोड़कर '**हमारा वह अनुपम घर!**' है। हम रहते हैं, वह हमारा मकान है, वह हमारा है। अरे! यह तीव्र मोह नया कहाँ जागृत हुआ? कहते हैं। आहाहा!

यह वस्तुस्थिति का वर्णन है, भाई! किसी व्यक्ति के लिये कुछ नहीं है। काल बहुत हल्का हो गया, इसलिए ऊँची वस्तु, मुनिपना, भावलिंग रहा नहीं और द्रव्यलिंग में मुनिपना मनाकर, द्रव्यलिंग में भी उसके लिये चौका-आहार-पानी करके मनवाना है। पूरा काल बहुत बदल गया है। मुनिराज यह वर्णन करते हैं, वह मध्यस्थ से कहते हैं। आहाहा! अरे! घर छोड़कर और यह क्या दूसरे घर की लगायी? स्त्री, पुत्र छोड़कर और दूसरे नये लड़के और... आहाहा! शास्त्र में तो यहाँ तक आता है कि शिष्य को दीक्षा देनी हो, ऐसे शिष्य के प्रति मोह भी करे तो वह भी साधु नहीं है। आहाहा! आता है न? जिसे दीक्षा देनी है, उस पर राग करे और मोह करे, वह मुनि नहीं है। आहाहा! लड़के के प्रति राग करे। आहाहा! वह शिष्य के प्रति करे। बात तो सब एक की एक हुई। आहाहा! श्लोक है, हों! अरे! यह नया मोह कहाँ से जागृत हुआ? कहते हैं। घर छोड़ा, दुकान छोड़ी, व्यापार छोड़ा और यह मेरा घर, यह हमारा मकान, हमारा मन्दिर... आहाहा! यह हमारा रहने का स्थान। यह नया मोहनीय कहाँ से जागृत हुआ? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'अनुपम घर!' ऐसा स्मरण करते हैं! याद करते हैं, हों! भले वे बाहर में न जाए। अन्दर याद करे कि यह घर हमारा और यह अमुक और यह अमुक। वह भी परवश मुनि पराधीन है। आहाहा! मुनि तो परमेश्वरपद है। आहाहा! जिन्हें क्षण-क्षण में सातवाँ गुणस्थान, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। क्षण में विकल्प उठे, वह दुःख लगता है और क्षण में सातवें में अन्दर जाते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में लवलीन हो जाते हैं। आहाहा! बाहर निकलना रुचता नहीं, तथापि पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण बाहर विकल्प में आवे परन्तु दुःख लगता है। आहाहा! ऐसा मुनिपना होता है। जैनदर्शन का मुनिपना ऐसा होता है। अकेला नग्नपना (धारण किया), वस्त्र छोड़ दिये और बाहर में आहार लेने की क्रिया करे, इसलिए साधु है, ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! कठिन बात है। श्वेताम्बर और स्थानकवासी को तो यहाँ गिना ही नहीं है। उन्हें तो साधु के व्यवहार में भी (नहीं रखा है) क्योंकि वे तो मिथ्यादृष्टि होकर अलग पड़े हैं। भगवान के पश्चात् दो हजार वर्ष में-अभी से दो हजार वर्ष में। भगवान के पश्चात् पाँच सौ वर्ष में। आहाहा! यहाँ तो दिगम्बर में रहे हुए मुनि घर छोड़कर फिर यह शिष्य की, मकान की, पैसे की ममता लगावे... आहाहा! यह तो नवीन प्रकार का मोह कहाँ से उगा? ऐसा कहते हैं। **यह (कोई) नवीन तीव्र मोहनीय...** आहाहा! पहले नहीं था और नया कहाँ से आया यह? घर छोड़ते समय तो वैराग्य था। उसमें यह फिर वापस कहाँ आया? यह २४० हुआ।

श्लोक-२४१

(शार्दूलविक्रीडित)

कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलङ्कपङ्करहितः सद्धर्मरक्षामणिः।
सोऽयं सम्प्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च सम्पूज्यते,
मुक्तानेक-परिग्रह-व्यतिकरः पापाटवी-पावकः ।।२४१।।

(वीरछन्द)

कोई कहीं भाग्यशाली जन मोह महामल रहित हुए।
सत्य धर्म की रक्षा को मुनि, मणि समान सामर्थ्य धरें॥

परिग्रह का विस्तार तजा जो अघ कानन को अग्नि समान।
भूतल में या देवलोक में ऐसे मुनि हैं पूज्य महान॥२४१॥

[श्लोकार्थः] कलिकाल में भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादिरूप मलकीचड़ से रहित और *सद्धर्मरक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है। जिसने अनेक परिग्रहों के विस्तार को छोड़ा है और जो पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है, ऐसा यह मुनि इस काल भूतल में तथा देवलोक में देवों से भी भलीभाँति पुजता है॥२४१॥

श्लोक -२४१ पर प्रवचन

२४१ (श्लोक)

कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलङ्कपङ्करहितः सद्धर्मरक्षामणिः।
सोऽयं सम्प्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च सम्पूज्यते,
मुक्तानेक-परिग्रह-व्यतिकरः पापाटवी-पावकः॥२४१॥

श्लोकार्थ :.. आहाहा! **कलिकाल में भी...** ऐसे पंचम कलिकाल में भी **कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादिरूप मलकीचड़ से रहित...** होकर। आहाहा! मिथ्यात्व की भ्रमणा। मिथ्यात्व के असंख्य प्रकार हैं। उसके असंख्य प्रकार के मिथ्यात्व से छूटकर... आहाहा! **और सद्धर्मरक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है।** कलिकाल में भी होता है। आहाहा! पद्मनन्दिपंचविंशति में तो ऐसा कहा है, दो-तीन होते हैं। इस काल में दो-तीन धर्मी जीव होते हैं, ऐसा लिखा है। पद्मनन्दिपंचविंशति। दो-तीन अर्थात् कम। संख्या भले (लिखी)। मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्टीकरण किया है। दो-तीन अर्थात् थोड़े, ऐसा। ज्ञानार्णव में भी ऐसा कहा है, उसका अर्थ थोड़ा। आहाहा!

यहाँ **कलिकाल में भी...** ऐसा काल वर्तता है, तो भी। **कहीं कोई भाग्यशाली**

* सद्धर्मरक्षामणि=सद्धर्म की रक्षा करनेवाला मणि। (रक्षामणि=आपत्तियों से अथवा पिशाच आदि से अपने को बचाने के लिए पहिना जानेवाला मणि।)

जीव... आहाहा! **मिथ्यात्वादि...** अव्रतादि, प्रमादादि छोड़कर। **मिथ्यात्वादि...** है न सब? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद आदि। अरे! पाँच में से पाँचों का अंश छूटता है। मिथ्यात्व सर्वथा छूटता है। अव्रत का अंश, प्रमाद का अंश, कषाय का अंश और योग का अंश, वह अंश भी चौथे (गुणस्थान में) छूट जाता है। आहाहा! **मिथ्यात्वादिरूप मलकीचड़ से रहित...** ऐसे भी मुनि होते हैं। इस काल में भी ऐसे मुनि होते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कहीं और कोई।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं कोई है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि अभी हंस कहे हैं परन्तु हंस न दिखायी दे तो कहीं कौवे को हंस कहा जाएगा? कौवे को हंस माना जाएगा? उसमें लिखा है। अभी है, परन्तु दिखते नहीं। हंस दिखते नहीं, इसलिए कहीं कौवे को हंस माना जाएगा। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में है। टोडरमलजी!

यहाँ कहते हैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय आदिरूप महाकादव। महाकादव। आहाहा! उससे रहित **और सद्धर्मरक्षामणि...** नीचे अर्थ है। **सद्धर्म की रक्षा करनेवाला मणि। (रक्षामणि=आपत्तियों से अथवा पिशाच आदि से अपने को बचाने के लिये पहिना जानेवाला मणि।)** यह सद्धर्ममणि। अपने धर्म की रक्षा करनेवाली मणि। आहाहा! यहाँ तो स्व आश्रय... स्व आश्रय, एक बात। यह बात करने पर सूक्ष्म पड़ती है परन्तु बात दूसरी है नहीं। पर का आश्रय, तीन लोक के नाथ का आश्रय लेने जाएगा तो भी राग होगा। धर्म नहीं (होगा) और वह धर्म नहीं परन्तु वह राग, इसलिए फिर... यह कठिन पड़ता है कि तुम उसे-राग को अधर्म कहते हो? ऐसा कहते हैं। परन्तु वह तो धर्म नहीं, वह अधर्म है। दूसरा क्या? आहाहा! फिर शुभभाव आयेगा, वह शुभभाव भी राग है। राग, वह अधर्म है। आहाहा! धर्म नहीं। धर्म से विरुद्ध, वह अधर्म है। आहाहा! कठिन पड़ता है।

सम्प्रदाय में (संवत्) १९८५ के वर्ष में कहा था। १९८५। १५ और ३६=५१ वर्ष पहले। हजारों लोग थे। बोटाद में तो बड़ी सभा भर गयी थी। तीन सौ घर और लोग बहुत भरते थे, लोग समाते नहीं। तब कहा था कि भाई! देखो! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव धर्म नहीं है। धर्म नहीं है अर्थात् दूसरी भाषा से कहें तो अधर्म है। आहाहा! सम्प्रदाय में कहा था।

मुमुक्षु : तब किसी ने विरोध नहीं किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई सामने नहीं देखता। एक साधु था, हमारा गुरुभाई वह अन्दर जरा वोसरे.. वोसरे.. करे। धीरे-धीरे वोसरे.. वोसरे... वोसरे.. (बोले)। ऐसी श्रद्धा नहीं। दो बार की। १९८५ के पौष महीने की बात है। पंच महाव्रत के परिणाम, वह आस्रव और दुःख है।

मुमुक्षु : आस्रव, वह संवर नहीं। आस्रव में दुःख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख है। और तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधे, वह आस्रव और दुःख है। सब समझते थे। तब तो बहुत मान था न! सम्प्रदाय में बहुत मान था। वह चाहे जो कहते होंगे, इनकी बात तो सत्य ही है। इनका कोई विरोध करे नहीं। एक गुरुभाई बैठे थे। यह सुनते थे। वे जरा (बोले) वोसरे... वोसरे... ऐसी श्रद्धा (नहीं)। कौन सुने। मैंने कहा, सुनना किसी ने ? न बोले होते तो क्या दिक्कत थी ? किसी ने सुना नहीं तुमने यह क्या कहा ? ऐसा कि ऐसी श्रद्धा नहीं चाहिए, ऐसी श्रद्धा नहीं चाहिए। जो शुभभाव पंच महाव्रत भी दुःखरूप है, यह श्रद्धा नहीं चाहिए। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह राग। धर्म से बँधे ? तब अधर्म से बँधता है। आहाहा! सम्प्रदाय में स्पष्ट बात की थी। १९८५ के वर्ष में। ५१ वर्ष पहले। कुछ खलबलाहट नहीं हुई थी। वह एक बोला परन्तु उसे कोई सुनते नहीं। फिर सब उठ गये, फिर मैंने उससे कहा - परन्तु तुम्हें नहीं जँचता तो बोलना किसलिए था ? किसने माना ? कहा, तुम क्या बोले, यह किसी को - सभा को खबर है ?

बात यह, पंच महाव्रत के परिणाम दुःख ? और तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव दुःख ? परन्तु राग है न ? राग है, वह दुःख है या सुख है ? आहाहा! मन्दराग आयेगा, अभी कहेंगे। १४४ में। आहाहा! धर्म नहीं। मन्दराग भी धर्म नहीं अर्थात् अधर्म है। सीधी भाषा से कहा, कठिन कहें तो अधर्म है। ऐसा कहे तो वह शुभराग है। आहाहा! खलबलाहट... खलबलाहट हो गयी। आहाहा! विकल्प है न ? शुभभाव, वह विकल्प है। विकल्प है, वह कषाय है। कषाय है, वह कष अर्थात् संसार का लाभ है। उसमें संसार-भव का लाभ है। उसमें आत्मा का लाभ नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव से भी आत्मा को लाभ नहीं, क्योंकि उस भाव से प्रकृति बँधेगी। (जब) उस भाव का नाश करेगा, तब उस प्रकृति का उदय आयेगा। क्या कहा ?

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधा था, उस भाव का नाश होगा, तब उस प्रकृति का उदय आयेगा। प्रकृति जड़ बँधेगी। शुभभाव है, इसलिए तीर्थंकरगोत्र की जड़ प्रकृति बँधेगी। समकिती है न! परन्तु उस प्रकृति का उदय कब आयेगा?—कि यह जो भाव-शुभराग किया था, इसका नाश करके वीतराग होगा, तब उसका तेरहवें गुणस्थान में उदय आयेगा। उसमें तुझे लाभ क्या हुआ? शुभराग से क्या लाभ हुआ? समझ में आया इसमें? तीर्थंकरगोत्र प्रकृति का उदय तेरहवें में ही आता है। चौथे-पाँचवें में तीर्थंकरगोत्र की प्रकृति का उदय नहीं होता। आहाहा! तीर्थंकरगोत्र का बन्धन चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में होता है परन्तु उसका उदय नहीं होता। वह प्रकृति बँधती है, वह जहर के वृक्ष में है। समयसार में १४८ प्रकृति को जहर का वृक्ष कहा है। १४८ प्रकृति को जहर का-विष का वृक्ष कहा है। वह प्रकृति जहर का वृक्ष है। प्रकृति संयोग देगी। वह भी केवल (ज्ञान) होने के बाद समवसरण देगी। उसमें आत्मा को क्या हुआ? आहाहा! समझ में आया पण्डितजी? आहाहा! मार्ग तो यह है, भाई! यहाँ तो अभी... आहाहा!

कलिकाल में भी कहीं कोई... कहीं और कोई। आहाहा! **भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि...** अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि **मलकीचड़ से रहित और सद्धर्मरक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है।** अपने आत्मा के आनन्द के ज्ञान को, आत्मा के स्वभाव की रक्षा करनेवाला ऐसा वह सद्धर्मरक्षामणि होता है। अपना अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति, उसे रखने के लिये मणिरत्न समान वह मुनि है। आहाहा! यह मणि बाँधते हैं न? पिशाच को, यह नीचे लिखा है न? **(रक्षामणि=आपत्तियों से अथवा पिशाच आदि से अपने को बचाने के लिए पहिना जानेवाला मणि।)** आता है। यह तो सद्धर्म आत्मा है कि अपनी रक्षा स्वयं करता है। आहाहा! शुद्धोपयोग। शुभ और अशुभरहित शुद्धोपयोग अपनी रक्षा करता है। वह सद्धर्ममणिरत्न है। आहाहा!

ऐसी-ऐसी ऊँची बातें, लोगों ने फिर सुनी न हो, इसलिए ऐसा लगता है। ऐई! एकान्त है। बापू! वस्तु तो एकान्त ही है। निश्चयनय कहा जाता है, जो नय वह सम्यक् एकान्त है। आहाहा! दूसरी चीज़ है। व्यवहारनय नहीं? व्यवहारनय का विषय नहीं? उसका फल नहीं? सब है। व्यवहारनय है, व्यवहारनय का विषय है। नय तो विषयी है, तो उसका विषय है (परन्तु) आदरणीय नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। दो नय का

उपदेश है। वीतराग का दो नयों का उपदेश है। दो नय का उपदेश है। इसमें भी आता है न? पहले शुरुआत में। पंचास्तिकाय में आता है और इसमें भी आता है।

देखो! **दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है...** यह दूसरा बोल (श्लोक) है, पृष्ठ दूसरा है। दूसरा पृष्ठ। उसकी पाँचवीं लाईन। **दो नयों के आश्रय से...** है? **दो नयों के आश्रय से सर्वस्व...** सर्वस्व, सब जगह कहने की पद्धति है। वस्तु है न! वह आदरणीय नहीं। व्यवहारनय नहीं? व्यवहारनय का विषय नहीं? राग नहीं? आहाहा! है; इसलिए आदरणीय है—ऐसा नहीं। वह ज्ञान कराने के लिये है। आहाहा! दो नय का उपदेश है, ऐसा यहाँ कहा। एक नय का ही उपदेश है, ऐसा नहीं। आदरणीय (नहीं) क्योंकि दोनों जब पड़े, तब एक आदरणीय है और एक आदरणीय नहीं, नहीं तो दो पड़े कैसे? यदि दोनों आदरणीय समान हों तो दो पड़े किसलिए? आहाहा! समझ में आया? न्याय से समझे तो भाई! समझ में आये, बापू! यह तो ऐसी बात है। यह कहीं कोई बलजोरी से हठ से मना देना और मानना, ऐसी कोई यह चीज़ नहीं है। यह तो अन्दर की चीज़ है। आहाहा!

व्यवहारनय का विषय है। तीर्थंकरपना बँधता है, वह व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! आदरणीय नहीं है। यह बड़ा प्रश्न हुआ था। बोटाद में मूलचन्दजी साधु थे। वहाँ एक गृहस्थ थे 'गोपाणी'। है न वहाँ? अहमदाबाद में मन्दिर। उसके पास दुकान है। भूरा, भूरा गोपाणी। वह एक प्रश्न उनके पास लाये थे कि यह जो तीर्थंकरगोत्र बँधता है और यह सब शुभभाव होता है तो वह भी आदरणीय है या नहीं? कहा, नहीं। वह तो सम्प्रदाय में गढडा में चातुर्मास था तब। गढडा, १९८१ की बात है। (संवत्) १९८१ का वर्ष, गढडा में चातुर्मास था न, इसलिए ऐसे जाते थे। उसमें बीच में बोटाद नहीं गये थे। वहाँ मूलचन्दजी एक थे। फिर एक गाँव है, गाँव का नाम क्या? भूल गये। वहाँ उतरे थे। वहाँ उनने ऐसा एक प्रश्न किया था कि... 'उत्तराध्ययन' २९वें बोल में आता है। २९वें अध्याय में। वैयावृत्त्य... कैसे बतलाया? वैयावृत्त्य तीर्थंकरगोत्र बाँधे। आहार, वैयावृत्त्य से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह आदरणीय नहीं? कहा, नहीं। तब १९८१ की बात है। उस साधु की ओर से बात लाये थे। गोपाणी। अभी खाडिया में। ...यह खाडिया है न अहमदाबाद। खाडिया के मन्दिर के पास उसकी दुकान है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **सद्धर्मरक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है**। पंचम काल में मुनि नहीं, ऐसा नहीं। परन्तु मुनि हैं। हंस है, इसलिए हंस न दिखे तो कहीं कौवे को हंस माना जाएगा? इसी प्रकार मुनि हैं, परन्तु मुनि के लक्षण न दिखे तो कहीं मुनि माना जाएगा? समझ में आया? मोक्षमार्गप्रकाशक में है। आहाहा! अभी मुनि नहीं दिखते। मुनि कहे हैं। हंस नहीं दिखते, वह कहीं कौवे को हंस माना जाएगा? ऐसा लिखा है। अरे! प्रभु! बहुत कठिन काम। सरलता होकर कषाय को मन्द करके मान छोड़ देना चाहिए। आहाहा! चाहे जैसी सत्य बात आवे छोटी, परन्तु भूल होवे तो उसे छोड़ देना चाहिए। बापू! मान में कब तक रहेगा? मान में मर जाएगा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि समर्थ मुनि है। **जिसने अनेक परिग्रहों के विस्तार को छोड़ा है...** आहाहा! वस्त्र का टुकड़ा भी मुनि तो रखते नहीं। आहाहा! शिष्य को मेरा शिष्य है, इसरूप भी नहीं मानते। परचीज़ है, उसे अपनी कहाँ माने? आहाहा! ऐसी बात है। **परिग्रहों के विस्तार को...** अनेक परिग्रहों का विस्तार। आहाहा! मकान, इज्जत, कीर्ति, शिष्य-शिष्या उसे माननेवाले, लाखों लोग माननेवाले हों, इसलिए मैं बड़ा हूँ। यह सब छोड़ दे, भाई! आहाहा! यह मान काम नहीं आयेगा। आत्मा का आश्रय, निर्मानता, यह काम आयेगी। आहाहा! ऐसी बात है।

और जो पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है... मुनि। पाप अर्थात् पुण्य और पाप दोनों। **पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है...** आहाहा! उसे रखनेवाला तो नहीं, रचनेवाला नहीं। आहाहा! रचता है अवश्य, परन्तु रचूँ, रखूँ - ऐसा नहीं है। उसे तो नाश करनेवाली अग्नि समान है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव को जला डालने को अग्नि-समान है। उससे लाभ माननेवाला मुनि नहीं है। लाभ माननेवाला मुनि होवे तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! शुभ या अशुभभाव दोनों। आहाहा! **ऐसा यह मुनि इस काल भूतल में...** वर्तमान में ही। **तथा देवलोक में देवों से भी भलीभाँति पुजता है**। आहाहा! ऐसा मुनिपना जो हो, वह तो इस लोक में भी पुजता है और देवलोक में देव भी पूजते हैं। आहाहा! २४१ कहा।

श्लोक-२४२

(शिखरिणी)

तपस्या लोकेऽस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता,
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मर-तिमिर-संसार-जनितं,
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जडमतिः ।।२४२।।

(वीरछन्द)

है सुबुद्धि जन को इस जग में प्राणप्रिया यह तपचर्या।
इन्द्रों को भी वन्द्य निरन्तर है सुयोग्य यह तपचर्या॥
तप कर भी यदि सांसारिक कामान्धकारमय सुख चाहे।
तो वह जड़मति अरे अरे रे! कलि के द्वारा घायल है॥२४२॥

[श्लोकार्थः] इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है; वह योग तपश्चर्या सो इन्द्रों को भी सतत वन्दनीय है। उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है, वह जड़मति अरे रे! कलि से हना हुआ है (-कलिकाल से घायल हुआ है)॥२४२॥

श्लोक -२४२ पर प्रवचन

---

२४२ (श्लोक)

तपस्या लोकेऽस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता,
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मर-तिमिर-संसार-जनितं,
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जडमतिः ।।२४२।।

श्लोकार्थः इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है;... तपस्या अर्थात् आनन्दस्वरूप। आहाहा! 'तपयन्ते इति तपः' आनन्द का सागर तप से तपकर सोने

में जैसे गेरु लगे और शोभे। सोने में जैसे गेरु लगे और ओपे तथा शोभे; उसी प्रकार आत्मा अन्दर आनन्द से शोभ उठे। अतीन्द्रिय आनन्द से जलहला उठे, उसे तपस्या कहते हैं। आहाहा! है? **इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है;...** परन्तु यह तपस्या। यह अपवास किये और यह किया और सम्यग्दर्शन बिना... आहाहा! बहुत कठिन काम। सम्यग्दर्शन बिना शास्त्र पढ़ा, ग्यारह अंग पढ़ा, उसका मान लिया, वह कोई वस्तु नहीं। आहाहा!

इस लोक में... तपश्चर्या शब्द से मुनिपना। मुनि शब्द से (आशय) भावलिंगी। भाव मुनिपना। भगवान का दीक्षा महोत्सव कहा जाता है न? दीक्षा महोत्सव अर्थात् तप का। तप महोत्सव कहो या दीक्षा महोत्सव कहो। दीक्षा को तप कहा जाता है, चारित्र को तप कहा जाता है। चारित्र अन्दर में रमणता की उग्रता को तप कहा जाता है। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो हो, तदुपरान्त चारित्र में पुरुषार्थ की उग्रता, उसे तपस्या कहा जाता है। शब्द-शब्द में अन्तर है। आहाहा! वापस इसमें मान ले। तपस्या में लीन यह अपवास-बपवास करे, वहाँ लीन हो जाए। उसकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो तपयन्ते इति तपः। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ अन्तर की पर्याय में जागती ज्योत जगे और आनन्द की लहर में उठे और उससे शोभित हो, उसे तपस्या कहा जाता है। आहाहा! कहो, ऐसी तपस्या कभी सुनी थी?

मुमुक्षु : सुनानेवाला कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ भी भाषण करते थे। भाषण देते थे। भाषण सुनते थे। विपरीत श्रद्धा का अन्दर आता था। आहाहा! स्थानकवासी में पत्र निकलता है न? पहले तो भाई की ओर से निकलता था। वाडीलाल मोतीलाल, अहमदाबाद। वह मैं दुकान पर मँगाता था। (संवत्) १९६५ के वर्ष। १९६५ के वर्ष से वाडीलाल मोतीलाल का जैन समाचार का पत्र था। वह निकलता। क्या कहा?

मुमुक्षु : अब जैन... नाम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। परन्तु वह दिगम्बर जैन समाचार। खबर है। घर में आता था। आहाहा! और भेंटरूप से कबीर की पुस्तक आयी थी। कबीर की बनायी हुई।

वह मूर्ति मानते नहीं न। वह कबीर मूर्ति को नहीं मानते। पत्थर पूजे हरि पूजे मोटा पूजे पहाड़, कबीर ऐसा कहे। 'पत्थर पूजे हरि मिले, तो मोटा मैं पूजूँ पहाड़।' ऐसा आता था। वह पुस्तक भेंट में आती थी। तब की बात है।

मूर्ति है, मूर्ति पूजा है, अनादि की है। शाश्वत् आठवें द्वीप में-नन्दीश्वरद्वीप में मूर्ति शाश्वत् है, बावन जिनालय है, एक-एक में एक सौ आठ प्रतिमाएँ हैं। इन्द्र एकावतारी जाकर पूजते हैं परन्तु समझते हैं कि यह शुभभाव है। मूर्ति निकाल डाले (निषेध करे) वह दृष्टि विपरीत है। आहाहा! तथा मूर्ति में धर्म माने, वह मिथ्यात्व है। धर्म नहीं है परन्तु शुभभाव आता है, तब मूर्ति आदि की पूजा होती है। होती है। भाव शुभभाव आता है। आहाहा! परन्तु उसे धर्म के कारणरूप से स्वीकार नहीं करता। धर्मरूप से तो नहीं परन्तु धर्म के कारणरूप से भी नहीं। आहाहा! तथापि मूर्ति और पूजा नहीं है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! अनादि से शाश्वत प्रतिमाएँ हैं। इन्द्र एकावतारी पूजते हैं। आहाहा! जिनालय है। अष्टम नन्दीश्वर द्वीप में आठ-आठ दिन कार्तिक शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा (इसी तरह आषाढ़ और फाल्गुन माह में भी) इन्द्र वहाँ जाते हैं। मनुष्य तो जा नहीं सकते। ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं जा सकते। देव पूजा करते हैं और महाभक्ति करते हैं। धूमधाम चलती है। समझे! घुंघरू पहनकर नाचते हैं, समझते हैं कि यह क्रिया जड़ की है। अन्दर मेरा भाव है, उतना शुभभाव राग है, परन्तु वह बन्धन का कारण है। मैं उससे भिन्न हूँ। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं। आहाहा!

इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को... वह तपश्चर्या अर्थात् यह। **वह योग तपश्चर्या सौ इन्द्रों को भी सतत वन्दनीय है।** ऐसी तपस्या तो इन्द्रों को भी वन्दनीय है। **उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है,...** ऐसी दशा पाकर और विषय में कामान्धकार होकर रमता है। **वह जड़मति अरे रे! कलि से हना हुआ है (-कलिकाल से घायल हुआ है)।** आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१६५, श्लोक-२४२ से २४४, गाथा-१४४, बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल १३, दिनांक २५-०६-१९८०

कलश २४२

तपस्या लोकेऽस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता,
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मर–तिमिर–संसार–जनितं,
सुखं रेमे कश्चिद्धत कलिहतोऽसौ जडमतिः ।।२४२।।

श्लोकार्थः इस लोक में तपश्चर्या... तपश्चर्या अर्थात् क्या? दीक्षा; और दीक्षा अर्थात् चारित्र। सम्यग्दर्शनसहित स्वरूप में लीनता, स्वरूप में चरना, इसका नाम तपश्चर्या है। **इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है;...** आहाहा! सुबुद्धियों का—सम्यग्ज्ञानियों को अन्तर के स्वभाव की लीनता, रमणता, सुबुद्धि—सम्यग्ज्ञानी को प्यारी है। परन्तु यह तपश्चर्या। **वह योग तपश्चर्या सो इन्द्रों को भी...** वह योग्य तपश्चर्या सौ इन्द्रों को, सौ इन्द्रों को भी **सतत वन्दनीय है**। इन्द्रों को भी वह तपश्चर्या वन्दनीय है। आहाहा!

उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है,... आहाहा! इच्छा करके, परपदार्थ में प्रेम करके जो रहता है। अपने आनन्द और ज्ञानानन्द को छोड़कर.... जो सौ इन्द्रों को भी पूजनीय है और सुबुद्धि को भी प्यारी है, ऐसी अन्तर आनन्द की धारा, ऐसी तपस्या पाकर भी जो जीव कामान्धकारयुक्त–काम में अन्धा होकर संसार से जनित... आहाहा! संसार में राग से जनित सुख में रमता है, वह राग से जनित राग में रमता है। आहाहा!

वह जड़मति... राग है, वह वास्तव में जड़ है। शुभराग हो या अशुभराग हो, परन्तु वह जड़ है। चैतन्य का संग्रहालय स्वभाव जो भगवान आत्मा का, उससे राग, वह जड़–विपरीत है, तथापि कहते हैं, अज्ञानी, **वह जड़मति अरे रे! कलि से हना हुआ है...** कलिकाल के कारण हना गया है। **(-कलिकाल से घायल हुआ है)**। वह राग से सुख में रमता है। आहाहा! अपना स्व आनन्द अन्दर है, अतीन्द्रिय आनन्द की खान

है, उसमें नहीं रमता और उसे छोड़कर राग में रमता है, वह जड़मति है। अरे रे! कलिकाल ने घात डाला है। उसे कलिकाल ने घात डाला है, कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी बातें।

यह तपश्चर्या वापस यह अपवास और वह नहीं, हों! यह तो कहेंगे १४४ में। वे सब क्रियाएँ तो शुभराग हैं। अपवास और उनोदरी और रस परित्याग और... अरे! बारह प्रकार का तप, सब शुभराग है। आहाहा! वह कोई चारित्र नहीं है, वह तपस्या नहीं है। यहाँ कहते हैं, ऐसी जो अन्तर की आनन्द की दशारूप तपस्या, जो सुबुद्धियों को-ज्ञानियों को प्रिय है और सौ इन्द्रों से पूजनीय है, उसे छोड़कर राग की रमणता में सुख मानता है... आहाहा! विकल्प में सुख मानता है, वह जड़मति कलिकाल से घायल हुआ है। आहाहा! २४२ (श्लोक पूरा) हुआ।

श्लोक-२४३

(आर्या)

अन्यवशः सन्सारी मुनिवेषधरोऽपि दुःखभाङ्नित्यम्।
स्व-वशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्न्यूनो जिनेश्वरा-देषः ।।२४३।।

(वीरछन्द)

मुनिवेषी हो किन्तु अन्यवश, संसारी दुःख भोगी है।
जीव स्ववश तो जीवन्मुक्त, जिनेश्वर से किंचित कम है ॥२४३ ॥

[श्लोकार्थः] जो जीव अन्यवश है, वह भले मुनिवेषधारी हो, तथापि संसारी है, नित्य दुःख का भोगनेवाला है; जो जीव स्ववश है, वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है (अर्थात् उसमें जिनेश्वरदेव की अपेक्षा थोड़ी-सी कमी है)॥२४३ ॥

श्लोक -२४३ पर प्रवचन

२४३ (श्लोक)

अन्यवशः सन्सारी मुनिवेषधरोऽपि दुःखभाङ्नित्यम्।
स्व-वशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्न्यूनो जिनेश्वरा-देषः ।।२४३।।

श्लोकार्थः आहाहा! **जो जीव अन्यवश है...** जो जीव भगवान आत्मा के वश नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर प्रभु, उसके वश नहीं है। **वह भले मुनिवेषधारी हो...** नग्न मुनि हो, अट्ठाईस मूलगुण पालता हो, पंच महाव्रत पालता हो, **तथापि संसारी है,...** आहाहा! क्योंकि वह राग है, वह स्वयं संसार है। रागरहित भगवान मुक्तस्वरूप स्वयं है। मुक्तस्वरूप का अवलम्बन छोड़कर बन्धभाव का अवलम्बन लेकर रमता है, वह संसारी है। नग्नमुनि हो, दिगम्बर हो तो भी वह संसारी प्राणी है। आहाहा!

वह **नित्य दुःख का भोगनेवाला है;...** अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ प्रभु को न संभालकर वह मान और इज्जत-कीर्ति के राग को याद करके अति दुःख को भोगनेवाला है। आहाहा! प्रतिकूल संयोग, वह कहीं दुःख नहीं है। संयोग प्रतिकूल है, वह कहीं दुःख नहीं है। मात्र उनकी ओर का झुकाव होकर, स्वभाव सन्मुख का झुकाव छोड़े, वह दुःख है। आहाहा! आनन्द का सागर सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय और अवलम्बन छोड़कर राग के अवलम्बन की क्रीड़ा में रमे, वह मुनिवेशधारी हो... आहाहा! वह नग्नपना हो, पंच महाव्रत पालता हो... आहाहा! तो भी संसारी है। ऐसी बातें कठिन (लगती है)। नग्नमुनि, हों! तुम्हारे वस्त्रवाले की तो बात ही नहीं है। वह तो साधु नहीं और मिथ्यादृष्टि है। कपड़े का टुकड़ा रखकर मुनि माने, मनावे, वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

यह तो नग्न मुनि है, पंच महाव्रत पालते हैं, अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं परन्तु चैतन्यस्वरूप भगवान को छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता, वेदन नहीं करता, अनुभव नहीं करता, वह राग को वेदता है। राग को वेदन करनेवाला, वह संसारी है। आहाहा! ऐसी बात है। एक ओर भगवान वीतराग चैतन्यस्वरूप तथा एक ओर पुण्य के विकल्प से लेकर पूरा संसार। उसमें कहीं भी प्रेम रखा, वह दुःख को भोगनेवाला है। आहाहा!

जो जीव स्ववश है... भाषा सादी है परन्तु वस्तु अलौकिक है। भाषा में 'जीव

स्ववश है' इतना शब्द है। आहाहा! परन्तु इसका अर्थ अनन्त गुण का धनी निर्विकल्प प्रभु, उस निर्विकल्प के वश जो है, वह स्ववश है। विकल्प के वश, राग के वश, वह परवश है। आहाहा! **जो जीव स्ववश है, वह जीवन्मुक्त है,...** लो! यहाँ तो जीवन्मुक्त कहा। चौथे गुणस्थान से एक न्याय से जीवन्मुक्त कहा। आहाहा! शरीर के परमाणु... आहाहा! जलकर राख होंगे यह तो। यह तो राख होनेवाली है। यह कहीं आत्मा नहीं है। इसे स्ववश को छोड़कर राग के वश पड़कर, शरीरादि के वश पड़कर जो राग को वेदता है, वह मुनि वेशधारी हो तो भी वह संसारी है और जो स्ववश है... बहुत संक्षिप्त भाषा! जो कोई अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसा जो स्वभाव, उसके सन्मुख होकर वश हुआ है, राग से भिन्न पड़ गया है, वह जीवन्मुक्त है। आहाहा!

जिनेश्वर से किंचित् न्यून है... वीतराग से किंचित्-जरा न्यून है। आहाहा! आगे तो यह कहेंगे कि दोनों समान है। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागता को प्राप्त हैं, परन्तु यहाँ आत्मा के वश है, वह भी जीवन्मुक्त, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है। जिनेश्वर वीतराग परमात्मा अरिहन्तदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर देवाधिदेव... आहाहा! उनसे स्ववश मुनि थोड़ा कम है-थोड़ा न्यून है। आहाहा! छद्मस्थ है न, अभी थोड़ा राग है और अल्पज्ञ है। आहाहा!

(अर्थात् उसमें जिनेश्वरदेव की अपेक्षा थोड़ी-सी कमी है)। आहाहा! यह मुनिपना, यह साधु, यह दिगम्बर साधु। आहाहा! सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वरदेव से जरा न्यून है, उसे यहाँ मुनि कहा जाता है। आहाहा! यहाँ तो जरा वस्त्र छोड़कर... विधवा स्त्री हो और वस्त्र बदले तो साध्वी हो गयी। साध्वी। फिर सब जय नारायण करे। आहाहा!

मुमुक्षु : फिर कहे धर्म लाभ।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म कहाँ था? अधर्म लाभ है। आहाहा!

स्ववश है, वह सुखी है और परवश—राग के वश है, चाहे तो मुनि वेश धारण कर पड़ा हो परन्तु किसी भी जगत की चीज़ में राग होकर राग में रमता है... आहाहा! वह दुःखी है, वह संसारी है। आहाहा! है न? आहाहा! २४३ (श्लोक पूरा हुआ)।

श्लोक-२४४

(आर्या)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे।
अन्य-वशो भात्येवं भृत्य-प्रकरेषु राज-वल्ल-भवत् ।।२४४।।

(वीरछन्द)

अतः स्ववश मुनि जिनशासन में मुनिसमूह में शोभित है।
और अन्यवश मुनि भृत्यों में नृपवल्लभ सम शोभित है ॥२४४॥

[श्लोकार्थः] ऐसा होने से ही जिननाथ के मार्ग में मुनिवर्ग में स्ववश मुनि सदा शोभा देता है; और अन्यवश मुनि नौकर के समूहों में *राजवल्लभ नौकर समान शोभा देता है (अर्थात् जिस प्रकार योग्यता रहित, खुशामदी नौकर शोभा नहीं देता; उसी प्रकार अन्यवश मुनि शोभा नहीं देता) ॥२४४॥

श्लोक - २४४ पर प्रवचन

---

२४४ (श्लोक)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे।
अन्य-वशो भात्येवं भृत्य-प्रकरेषु राज-वल्ल-भवत् ।।२४४।।

श्लोकार्थ : आहाहा! **ऐसा होने से... ऐसा होने से ही जिननाथ के मार्ग में...** जिनेश्वरदेव वीतराग परमात्मा के मार्ग में **मुनिवर्ग में स्ववश मुनि सदा शोभा देता है;...** मुनि के समुदाय में आत्मा के वश है, वह शोभता है। आहाहा! जिसने वीतरागी स्वरूप प्रगट किया है, और उसके वश पड़ा है, वह मुनिवर्ग में शोभता है। आहाहा! **और अन्यवश मुनि...** स्वरूप को भूलकर राग के वश पड़ा हुआ... आहाहा! वह **मुनि नौकर के समूहों में राजवल्लभ नौकर समान...** खुशामदिया होते हैं न? खुशामदिया। सबकी खुशामद

---

* राजवल्लभ=जो (खुशामद से) राजा का मानीता (माना हुआ) बन गया हो।

(करे)। दूसरे को अनुकूल दिखाने के लिये ऐसी सब खुशामद करे। आहाहा! खुशामदिया। राजवल्लभ जो खुशामदिया नौकर समान शोभता है।

(अर्थात् जिस प्रकार योग्यता रहित, खुशामदी नौकर शोभा नहीं देता, उसी प्रकार अन्यवश मुनि शोभा नहीं देता)। आहाहा! कोई गृहस्थ हो, राजा हो, सेठ हो, उसके मक्खन लगाये, उसके अनुकूल (वर्ते), मानो... ओहो! कहते हैं कि वह सब नौकर जो राजवल्लभ—खुशामदिया होवे, वैसे वे हैं। आहाहा! शास्त्र में तो ऐसा चला है। यदि मुनि राजा का संग करे तो पराधीन हो जाता है या दबता है। बड़ा पुण्यशाली हो और दब जाए। धूल में पुण्यशाली हो, उसमें क्या है? आहाहा! आत्मा के वश बिना प्राणी भले पुण्य से चाहे तो बड़ा चक्रवर्ती हो, वह सब बहिरात्मा दुःखी है। आहाहा! और गरीब हो, पैसा मिले नहीं, निर्धन हो, एक समय खाने का भी न मिलता हो... आहाहा! ऐसा जीव भी स्ववश चैतन्य के वश जो हो... आहाहा! वह सुखी है। व्याख्या ही पूरी अलग।

अन्तर के आनन्द में रहनेवाला, वह सुखी है। आहाहा! और राग के किसी भी कार्य में रमनेवाला और प्रेम से उसे अपना मानकर रमनेवाला वह खुशामदी नौकर जैसा है। दूसरे को अनुकूल करने के लिये मक्खन लगावे। आहाहा! ऐसे लोग होते हैं न? हाँ, भाईसाहब... हाँ, भाईसाहब... हाँ, भाईसाहब... किया करे। अनुकूल बोला ही करे। सामने भले गप्प मारता हो। ऐसे पर को अनुकूल खुशामदिया नौकर जैसे ऐसे मुनि वेशधारी हैं, कहते हैं। आहाहा!

गाथा-१४४

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे।।१४४।।

यश्चरति संयतः खलु शुभ-भावे स भवेदन्यवशः।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यक-लक्षणं न भवेत्।।१४४।।

अत्राप्यन्यवशस्याशुद्धान्तरात्मजीवस्य लक्षणमभिहितम्। यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्द-विनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुभोपयोगे चरति, व्यावहारिकधर्मध्यान-परिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिसृषु सन्ध्यासु भगवदर्हत्परमेश्वरस्तुति-शतसहस्रमुखरमुखारविन्दो भवति, त्रिकालेषु च नियमपरायणः इत्यहोरात्रेऽप्येकादश-क्रियातत्परः, पाक्षिकमासिकचातुर्मासिकसाम्वत्सरिकप्रतिक्रमणाकर्णनसमुपजनितपरितोषरोमाञ्चकञ्चुकित-धर्मशरीरः, अनशनावमौदर्यरसपरित्यागवृत्तिपरिसन्ख्यानविविक्तशयनासन-कायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च सन्ततोत्साहपरायणः, स्वाध्यायध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रत्यवस्थापनात्मक-प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गनामधेयेषु चाभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वाद-न्यवश इत्युक्तः।

अस्य हि तपश्चरणनिरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलोकादिक्लेशपरम्परया शुभोपयोग-फलात्मभिः प्रशस्तरागाङ्गारैः पच्यमानः सन्नासन्नभव्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादा-सादितपरमतत्त्वश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति।

संयत चरे शुभभाव में वह श्रमण है वश अन्य के।
अतएव आवश्यक-स्वरूप न कर्म होता है उसे॥१४४॥

अन्वयार्थ : [यः] जो (जीव) [संयतः] संयत रहता हुआ [खलु] वास्तव में [शुभभावे] शुभभाव में [चरति] चरता—प्रवर्तता है, [सः] वह [अन्यवशः

भवेत्] अन्यवश है; [तस्मात्] इसलिए [तस्य तु] उसे [आवश्यकलक्षणं कर्म] आवश्यकस्वरूप कर्म [न भवेत्] नहीं है।

टीका : यहाँ भी (इस गाथा में भी), अन्यवश ऐसे अशुद्धअन्तरात्मजीव का लक्षण कहा है।

जो (श्रमण) वास्तव में जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुए परम-आचारशास्त्र के क्रम से (रीति से) सदा संयत रहता हुआ शुभोपयोग में चरता—प्रवर्तता है; व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है, इसीलिए चरणकरणप्रधान है; स्वाध्याय काल का अवलोकन करता हुआ (स्वाध्याययोग्य काल का ध्यान रखकर) स्वाध्यायक्रिया करता है, प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करता है, तीन सन्ध्याओं के समय (-प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) भगवान अर्हत परमेश्वर की लाखों स्तुति मुखकमल से बोलता है, तीनों काल नियम परायण रहता है (अर्थात् तीनों समय के नियमों में तत्पर रहता है)—इस प्रकार अहर्निश (दिन-रात मिलकर) ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है; पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण सुनने से उत्पन्न हुए सन्तोष से जिसका धर्म शरीर रोमांच से छा जाता है; अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश नाम के छह बाह्य तप में जो सतत उत्साहपरायण रहता है; स्वाध्याय, ध्यान, शुभ आचरण से च्युत होने पर पुनः उनमें स्थापनस्वरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य और व्युत्सर्ग नामक अभ्यंतर तपों के अनुष्ठान में (आचरण में) जो कुशलबुद्धिवाला है; परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यक-कर्म को—निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान को तथा शुक्लध्यान को—नहीं जानता; इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से उसे अन्यवश कहा गया है। जिसका चित्त तपश्चरण में लीन है, ऐसा यह अन्यवश श्रमण देवलोकादि के क्लेश की परम्परा प्राप्त होने से शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्त रागरूपी अंगारों से सिकता हुआ, आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानस्वरूप शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है (अर्थात् कभी शुद्ध-निश्चयरत्नत्रयपरिणति को प्राप्त कर ले तो ही और तभी निर्वाण को प्राप्त करता है)।

* चरणकरणप्रधान=शुभ आचरण के परिणाम जिसे मुख्य हैं ऐसा।

श्लोक -१४४ पर प्रवचन

१४४ गाथा। अब शुभभाव का आया। वह अशुभभाव का था।

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे।।१४४।।

संयत चरे शुभभाव में वह श्रमण है वश अन्य के।

(आहाहा!) साधु होकर, नग्न होकर, दिगम्बर होकर (आहाहा!)

अतएव आवश्यक-स्वरूप न कर्म होता है उसे॥१४४॥

आहाहा! **टीका : यहाँ भी (इस गाथा में भी), अन्यवश ऐसे अशुद्धअन्तरात्मजीव का लक्षण कहा है।** शुभभाव पराधीन है। शुभभाववाला अपने को शुभभाववाला माने तो मिथ्यादृष्टि है परन्तु शुभभाव में रुके तो भी वह अशुद्ध आत्मा है। आहाहा! **अन्यवश ऐसे अशुद्धअन्तरात्मजीव का लक्षण कहा है। जो (श्रमण) वास्तव में जिनेन्द्र के मुखारविन्द से...** भगवान का बदन अर्थात् मुख, अरविन्द अर्थात् कमल। भगवान के मुखरूपी कमल में से **निकले हुए परम-आचारशास्त्र के क्रम से (रीति से)...** आहाहा! व्यवहार। **सदा संयत रहता हुआ शुभोपयोग में चरता—प्रवर्तता है;...** जितनी भगवान का कहा हुआ व्यवहार का क्रियाकाण्ड, चरणानुयोग में (कही गयी) उस क्रिया में जो रमता है... आहाहा!

व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है... देखा! धर्मध्यान के दो प्रकार। निश्चय धर्मध्यान और व्यवहार धर्मध्यान। शुभभाव, वह व्यवहार धर्मध्यान कहा जाता है। है अधर्म। शुभभाव, वह धर्म नहीं; अध है-पाप है। **व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है, इसीलिए चरणकरणप्रधान है;...** उसे तो **शुभ आचरण के परिणाम जिसे मुख्य हैं...** दया, सत्य, व्यवहार, आचरण, प्रतिक्रमण... आहाहा! शास्त्र बाँटना और शास्त्र देना...

मुमुक्षु : ऐसे मुनि तो इस काल में कहीं मिलते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए मुनि-सच्चे मुनि तो दिखते नहीं। व्यवहारवाले दिखते हैं। आहाहा! क्या हो? श्रुतसागर तो ऐसा कहते हैं कि अभी शुभभाव ही होता है। यहाँ

कहते हैं कि शुभभाव के वश हुआ मिथ्यादृष्टि होता है। आहाहा! किसे कहना? किसे त्रुटक? आहाहा! ज्ञानमति आर्यिका कहती है कि हम अभव्य है या काललब्धि पकी है, वह भगवान जाने। अपने को कुछ खबर नहीं पड़ती। अर..र..र! अभी अभव्य है या नहीं, इसकी खबर नहीं पड़ती, वह धर्म की बातें करे। आहाहा! अन्ध खाता चलता है।

व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है, इसीलिए चरणकरणप्रधान है;... उसे वह क्रियाकाण्ड ही मुख्य है। **स्वाध्याय काल का अवलोकन करता हुआ...** स्वाध्याय का काल, शास्त्र कब पढ़ना, उसे अवलोकता है। वह सब तो व्यवहार है, वह सब तो विकल्प और राग है। आहाहा! स्वाध्याय-योग्य काल का ध्यान रखे। स्वाध्याय क्रिया करे। बराबर सवेरे स्वाध्याय करे, रात्रि में करे। आहाहा! यह स्वाध्याय शास्त्र की करे तो वह राग है। आहाहा! भारी कठिन काम।

प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करता है,... प्रतिदिन एक बार भोजन करके और फिर आहार-पानी का त्याग करे, तो भी वह तो शुभभाव है। वह कोई धर्मध्यान नहीं है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! **प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करता है,...** चारों ही आहार नहीं करना, ऐसा प्रत्याख्यान करता है, तथापि वह शुभभाव है। **तीन सन्ध्याओं के समय (-प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) भगवान अर्हत परमेश्वर की लाखों स्तुति...** आहाहा! भगवान की लाखों स्तुति करे, वह शुभराग है। तीर्थंकरदेव की प्रतिमा की या साक्षात् की स्तुति करे परन्तु वह परद्रव्य है, उनकी स्तुति है वह शुभराग है। आहाहा! बहुत लाखों स्तुति करे, ऐसा कहते हैं। ओहोहो! एक दिन में तो लाखों होवे नहीं। भले लाखों स्तुति करता हो। आहाहा!

स्तुति मुखकमल से बोलता है,... मुख से बोलता है। भगवान अरिहन्त ऐसे, तीर्थंकरदेव केवली तीन काल के जाननेवाले देवाधिदेव, वह सब परद्रव्य की व्याख्या है, वह कहीं वहाँ आत्मा नहीं है। आहाहा! यह वीतराग का स्मरण, वह भी शुभराग है, वह धर्मध्यान नहीं। आहाहा! सम्प्रदाय में यह बात कठिन पड़े या नहीं? एक ही यह चलता है। यह करो और यह करो और यह करो, यह करो। आहाहा!

तीनों काल नियम परायण रहता है... आहाहा! **(अर्थात् तीनों समय के नियमों में तत्पर रहता है)...** सवेरे, दोपहर में और शाम में जो नियम होते हैं, वे नियम बराबर होते

हैं। तथापि वह नियमसार नहीं है। आहाहा! **इस प्रकार अहर्निश (दिन-रात मिलकर) ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है;...** आहाहा! शास्त्र स्वाध्याय करे, शास्त्र लिखे, शास्त्र बोले। आहाहा! ये सब ग्यारह क्रियाएँ राग की हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : साधु की क्रिया कौन सी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तरध्यान में, आनन्द में रहना, वह क्रिया है।

मुमुक्षु : इसमें ग्यारह क्रिया कही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कही न, वह दूसरी, वह सब ऊपर नहीं कही? यह क्या कहा? स्वाध्यायक्रिया करे, प्रतिदिन भोजन करके चार प्रकार का आहार त्याग करे, तीन सन्ध्या भक्ति (करे), यह होकर ग्यारह है। ऊपर कही, ऐसी होकर ग्यारह है। नयी नहीं है।

भगवान अर्हंत परमेश्वर की लाखों स्तुति मुखकमल से बोलता है, तीनों काल नियम परायण रहता है (अर्थात् तीनों समय के नियमों में...) सवेरे बराबर प्रतिक्रमण करे, शाम का प्रतिक्रमण करे, बराबर ध्यान रखे। आहाहा! **इस प्रकार अहर्निश (दिन-रात मिलकर) ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है;...** ऊपर कही वह सब। **पाक्षिक, मासिक,...** आहाहा! पाक्षिक का प्रतिक्रमण करे, पन्द्रह दिन का प्रतिक्रमण करे, महीने का प्रतिक्रमण करे, चार महीने का प्रतिक्रमण करे और संवत्सरी-वार्षिक प्रतिक्रमण करे। आहाहा!

उस **प्रतिक्रमण सुनने से उत्पन्न हुए सन्तोष से...** प्रतिक्रमण में तो उसे सन्तोष हो जाता है कि... आहाहा! अपने तो बहुत किया। प्रतिक्रमण किया, यह किया, वह किया, संवत्सरी का दिन। आहाहा! सामायिक की, भगवान की स्तुति की, वन्दन किया, कायोत्सर्ग किया। आहाहा! सब क्रिया राग की है। उसमें आत्मा कहीं नहीं आया। आहाहा! यह शुभभाव की गाथा है। शुभभाव की क्रिया हो, वह परवश है। वह स्वाधीन नहीं, वह स्ववश नहीं। आहाहा!

अपना आत्मा जो चैतन्यस्वरूप, जिसमें राग और विकल्प का अभाव है, उसके आश्रय बिना चाहे जितना क्रियाकाण्ड में जुड़े। सवेरे से शाम तक क्रियाकाण्ड (करे)... आहाहा! मासिक आदि करे और वे करते हुए **जिसका धर्म शरीर रोमांच से छा जाता**

है;... क्या कहते हैं ? संवत्सरी का, मासिक का प्रतिक्रमण ऐसा करे कि क्रिया में अन्दर रोम-रोम प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए कि आहाहा ! हमने तो बहुत धर्मध्यान किया । वह सब राग है, धर्म नहीं । आहाहा ! ऐसी क्रिया को धर्म मनावे, माने, वह मिथ्यादृष्टि है । आहाहा ! कितनी क्रिया ली ? बहुत ली है । **जिसका धर्म शरीर...** क्या कहते हैं ? यह क्रिया करने में जिसे अन्दर रोम-रोम सन्तुष्ट हो जाता है (कि) हम बहुत करते हैं । पूरे दिन इसी में पड़े हैं । धर्मध्यान में ही पड़े हैं । हमने दुकान और धन्धा छोड़ दिया है । आहाहा ! तथापि वह राग है, वह धर्म नहीं । आहाहा !

अनशन,... करे । इसमें सब बात डाली है । अनशन, छह-छह महीने के अपवास करे, **अवमौदर्य,...** पेट पूरा न भरे, वह भी शुभभाव है, धर्म नहीं । **रसपरित्याग,...** यह दूध चले नहीं, दही चले नहीं, आम का रस चले नहीं, ऐसा जो रस का परित्याग, वह भी शुभभाव है; धर्मध्यान नहीं । परवस्तु की ओर के त्याग का लक्ष्य (रहना), वह सब शुभराग है । आहाहा ! **रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान,...** वृत्ति को संकुचित करे कि मुझे इस घर में ही जाना, अन्यत्र नहीं जाना । वह भी शुभभाव है, वह कहीं धर्मध्यान नहीं है । आहाहा ! **विविक्त शय्यासन...** अर्थात् अलग आसन रखे, अकेला (रहे), किसी के साथ मेल नहीं । एकान्त रहे । वह भी शुभभाव है । एकान्त तो यह आत्मा में अन्दर रहे, तब एकान्त कहलाता है । आहाहा !

है न ? **कायक्लेश...** अपवास करके शरीर जीर्ण कर डाले । तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच, आठ-आठ अपवास करके शरीर जीर्ण करे । शरीर जीर्ण क्या ? मर जाए, देह छोड़ दे । कितने ही अपवास इतने होते हैं, छोटी लड़कियाँ-बड़कियाँ करे और कुम्बजा पड़े रहे, वहाँ मर जाए । यह सब सुना है । आहाहा ! परन्तु वह कोई धर्म नहीं । आहाहा ! उन **कायक्लेश नाम के छह बाह्य तप में जो सतत उत्साहपरायण रहता है;...** उसमें निरन्तर उत्साह और तत्पर रहता है । आहाहा ! **स्वाध्याय,...** करे शास्त्र की, वह भी शुभभाव है । आहाहा ! बहुत कठिन काम । जितनी क्रियाएँ हैं, वह सब शुभराग है । शास्त्र का स्वाध्याय करे । हमारे सम्प्रदाय में रात्रि के घण्टे, डेढ़ घण्टे, दो घण्टे स्वाध्याय करते थे । रात्रि में चर्चा नहीं करते हजार-पन्द्रह सौ गाथा फिराते । हजार-पन्द्रह सौ प्रतिदिन । कण्ठस्थ किये हुए, छह हजार श्लोक कण्ठस्थ थे । कण्ठस्थ छह हजार श्लोक ! हम रात्रि में इकट्ठे होकर स्वाध्याय करते हैं ।

मुमुक्षु : ऐसे फिरावे..... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : फिरावे अर्थात् उसे ऐसा हो। आहाहा! हमने तो आज बहुत किया है। पहले पहर में स्वाध्याय आता है न श्वेताम्बर में? पढम पहोरे सज्झाय.... रात्रि के पहले पहर में सज्झाय, दूसरे पहर में ध्यान, तीसरे पहर में जरा निद्रा, चौथे पहर में फिर सज्झाय। ऐसी गाथा आती है। 'उत्तराध्ययन' की २६वीं गाथा है। २६वें अध्ययन में। उसका भी कहाँ ठिकाना है? आहाहा! यह तो उस प्रकार से बराबर करे, कहते हैं।

ऐसा **जो सतत उत्साहपरायण रहता है;...** निरन्तर उत्साहपरायण उस क्रिया में रहता है। आहाहा! शास्त्र की स्वाध्याय करे। आहाहा! एक ओर कहते हैं कि आगम का अभ्यास करना। यह कहना वह तो आत्मा का लक्ष्य रखकर करना। यह तो आत्मा के लक्ष्य बिना अकेले शास्त्र की स्वाध्याय, वह तो शुभभाव, पराधीन परवश है। धर्म नहीं। आहाहा! इसका—स्वाध्याय का भी कहाँ ठिकाना है? यह तो स्वाध्याय में निरन्तर तत्पर बराबर स्वाध्याय करे। सवेरे, शाम, रात्रि में। आहाहा! बहुत शास्त्र वांचन रखे। उससे क्या हुआ? वह तो शुभभाव है। वह कहीं धर्म नहीं है। जो करना है, वह कहते हैं, धर्म नहीं है। परन्तु यह तो बाहर की क्रिया की बात है यह तो। अन्दर आत्मा कहाँ आया? अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ अन्दर भरा है। उसका बल्लभ करके उसमें एकाग्र कहाँ हुआ है? यह तो राग का बल्लभी हुआ है। आहाहा!

स्वाध्याय... में तत्पर रहता है। है?। **ध्यान,...** करता है। ठीक! यह शुभभाव। आत्मा का ध्यान नहीं। अन्दर विकल्प कम करके ध्यान करे। अभी स्थानकवासी में ध्यान के शिविर बहुत निकालते हैं। था कब तुम्हारे धर्म? शिविर-विविर लगावे और हो। ध्यान करे। घण्टा, आधा घण्टा ध्यान में रहना। यह विकल्प में रहना, ऐसा। शुभविकल्प रखना, दूसरा विकल्प न होने देना। **ध्यान...** यह तो ध्यान को भी शुभ का कारण कहा है। आहाहा! परलक्षी है न? स्वलक्षी ध्यान आनन्द का ध्यान होता है। अतीन्द्रिय आनन्द में लीन रहे, वह स्वाध्याय है। स्व-अध्याय। स्व-अपना पठन, अपना ज्ञान। अतीन्द्रिय आनन्द में अन्दर में रमे, उसे निश्चय स्वाध्याय कहते हैं। आहाहा! बारह प्रकार का तप डाला है। ऐसा नहीं कि और ध्यान को अलग रखा। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी लिखा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी स्वाध्याय, ध्यान वह सब शुभ। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी लिखा है।

स्वयं ऐसे विकल्प घटाकर ध्यान में बैठे। शुभ विकल्प में। वह मानो कि ध्यान किया। बाहर का ध्यान छोड़कर शुभभाव में अन्दर रहे, इसलिए मानो हमने ध्यान (किया), परन्तु वह शुभभाव भी बन्धन का कारण, संसार है।

शुभ आचरण से च्युत होने पर... आहाहा! और कोई शुभ आचरण से किंचित् भ्रष्ट होने पर **पुनः उनमें स्थापनस्वरूप प्रायश्चित्त,...** करे। आहाहा! तथापि वह प्रायश्चित्त भी शुभभाव है। आहाहा! भारी कठिन बात। यह शुभभाव की व्याख्या है। गाथा शुभभाव की है न? पहले अशुभभाव की गयी। यह शुभभाव की इतनी क्रिया करने पर भी वह सब पराधीन है। आहाहा! प्रायश्चित्त करे, अरे! **विनय,...** करे। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र का विनय करे, वह शुभभाव है। आहाहा! है? विनय मूलो धम्मो। और एक जगह ऐसा कहा। विनय मूल धर्म है। वह तो अन्तर का विनय। आत्मा के आनन्द का विनय, अतीन्द्रिय आनन्द का आदर करके आनन्द का स्वाद लेना, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेना, वह विनय है। आहाहा!

वैयावृत्त्य... लो! साधु का वैयावृत्त्य करे, वह शुभभाव है। परद्रव्य है न? आहाहा! **और व्युत्सर्ग...** त्याग करे। कायोत्सर्ग। यह कायोत्सर्ग करे। ऐसे लक्ष्य... वह शुभभाव है, वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! ऐसे **नामक अभ्यंतर तपों के अनुष्ठान में (आचरण में) जो कुशलबुद्धिवाला है;...** उसमें कुशलबुद्धिवाला है, कहते हैं। आहाहा! अभ्यन्तर तप में भी कुशलबुद्धिवाला है। आहाहा! **परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यक-कर्म को—निश्चय से परमात्मतत्त्व में...** आहाहा! यहाँ से विशेषण शुरु किया है। एक तो भगवान आत्मा अन्दर निरपेक्ष है। जिसे किसी विकल्प की अपेक्षा ही नहीं। विनय का विकल्प किया इसलिए... आहाहा! दरवाजे में ऐसा किया है न श्रीमद् में? नहीं? सामने लिखा है कुछ। श्रीमद् में आता है। विनय, मोक्ष का द्वार है।

मुमुक्षु : क्षमा, मोक्ष का द्वार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षमा। क्षमा। कौन सी क्षमा? बहुत प्रकार से करते हैं। वह नहीं। अन्तर में आनन्द में रहकर जो कुछ विकल्प उठे ही नहीं, ऐसी दशा को क्षमा कहते हैं। आहाहा! यह तो पूरी सम्प्रदाय से अभी बात ही फेरफारवाली है।

परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के कारणभूत स्वात्माश्रित... स्वात्माश्रित।

जिसमें अकेला आत्मा का ही अवलम्बन रहता है। दूसरी ओर का व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की ओर का भी झुकाव छूट जाता है। आहाहा! उसे यहाँ ध्यान और धर्मध्यान कहते हैं। **स्वात्माश्रित आवश्यक-कर्म को—** अपने आत्मा के आश्रय से जो आवश्यक कर्म है, निर्विकल्प कार्य है, वह **निश्चय से परमात्मतत्त्व में...** वास्तव में तो परमतत्त्व जो भगवान शुद्ध चैतन्यघन, उसमें **विश्रान्तिरूप...** उसमें विश्रान्ति। आहाहा! संसार की थकान नाश करने के लिये चैतन्यमूर्ति भगवान को पकड़कर उसमें विश्रान्ति करना। कहो, शान्तिभाई! यह सब ऐसा सुना था और ऐसा कहा था?

मुमुक्षु : ऐसा न करे तो साधु करे क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे तो सब धर्म मानता हो। यह इनकार किया। वह तो परलक्षी है। सब परलक्षी क्रिया है। स्वलक्षी अन्दर के आत्मा के आनन्द के लक्ष्यवाली नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु अन्दर की मानकर चलें तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मान्यता की पूरी बात ही दूसरी। अभी स्थानकवासी, श्वेताम्बर, अरे..! दिगम्बर में अभी तीनों में। अभी सर्वत्र यह चलता है। आहाहा! इसने यह तपस्या की, इसने ऐसा किया, जंगल में रहा, अकेला रहा, यहाँ रहा। परन्तु उसमें क्या हुआ? जंगल में रहा और अकेला रहा न! रागरहित भगवान अन्दर जंगल है, वहाँ तो रहता नहीं। अनुभवरूपी गिरिगुफा में अन्दर में नहीं रहता। आहाहा! ऐसा सुनने पर कठिन पड़ता है। पूरे सम्प्रदाय में यह बात सुनने को मिलती है, यह करो... और यह करो... और यह करो... और यह करो... और यह करो...। आहाहा!

मुमुक्षु : शान्तिभाई ने कहा न अभी कि परन्तु करे क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करे – अन्दर दृष्टि करे। उसके ऊपर से लक्ष्य छोड़कर अन्दर आत्मा का लक्ष्य, दृष्टि करे। परन्तु यह सुना नहीं होगा, करे कब?

मुमुक्षु : आत्मलक्ष्यपूर्वक ऐसी क्रिया करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रिया करे तो वह शुभभाव है। धर्म नहीं। आहाहा! आत्मलक्ष्य तो निर्विकल्प आनन्द है। उसके लक्ष्य से क्या बाहर की क्रिया में लक्ष्य जाए? बाहर में

लक्ष्य जाए, वह तो सब विकल्प और राग है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह सब चलता है, वह सब खोटा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब खोटा का खोटा, गप्प चलती है। आहाहा!

निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्ति... आहाहा! स्वयं ज्योति सुखधाम। अतीन्द्रिय आनन्द का धाम भगवान, उसमें विश्रान्ति-स्थिर हो। आहाहा! यह निश्चयधर्मध्यान। यह निश्चयधर्मध्यान, सच्चा धर्मध्यान यह है। बाकी यह क्रियाकाण्डवाला धर्म, वह व्यवहार शुभभाव है। आहाहा! **निश्चयधर्मध्यान को तथा शुक्लध्यान को — नहीं जानता;...** इस क्रियाकाण्ड में ही मानो धर्म है, ऐसा मान बैठता है। अन्दर आत्मा के आश्रय से सच्चा धर्मध्यान हो, शुक्लध्यान आत्मा के आश्रय से हो, उसकी तो खबर भी नहीं। आहाहा! है, उसे जानता भी नहीं। वह तो यह क्रिया इसलिए बस।

हमारे तो बेचारे हीराजी महाराज कहते थे। बहुत कठोर क्रिया करते थे। बस, अब हम साधु (हैं), दूसरा साधु कौन होगा? ऐसा कहते थे। यह नहीं बोलते, बहुत कम बोलते। मूलचन्दजी कहते, निर्दोष आहार ले आवे। उनके लिये बनाया हुआ ले नहीं। कपड़ा-बपड़ा भी बिकता हुआ ले नहीं। इसलिए पूरे दिन पड़े रहे। स्वाध्याय करे। हीराजी महाराज दोपहर में स्वाध्याय करे। हाथ में छींकणी रखे। छींकणी सूँघे और स्वाध्याय करे। ऐसे दोनों करे। आहाहा! छींकणी छूना नहीं चाहिए। छींकणी का व्यसन खराब है। छींकणी सूँघे और स्वाध्याय करे तो असातना होती है। परन्तु वे करते थे। उस समय कुछ खबर नहीं न, आहाहा!

ऐसा जो निश्चयधर्म विश्रान्तिरूप। यह तो थकानरूप, रागरूप। यह सब जो क्रियाएँ कही, वह तो रागरूप, मैलरूप... आहाहा! अविश्रान्ति है। विश्रान्ति तो आत्मा में है। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसमें विश्रान्ति पाता हुआ... आहाहा!

निश्चयधर्मध्यान को तथा शुक्लध्यान को — देखा यहाँ? **निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान...** धर्मध्यान, यह अकेला क्रियाकाण्ड या वह धर्मध्यान नहीं। आहाहा! व्यवहार से बोले, विकल्प को धर्मध्यान। आता है। समयसार में आता है। व्यवहार करते हैं, वह व्यवहारधर्मध्यान है। व्यवहारधर्मध्यान अर्थात् राग; निश्चयधर्मध्यान अर्थात् अराग। आहाहा!

विश्रान्ति निश्चय से परमात्मतत्त्वमय में... आहाहा! परमस्वरूप आत्मा अन्दर जो भगवान है, उसमें स्थिर हो, विश्राम करे, वहाँ बैठक करे, वहाँ आसन लगावे। उदासीन— राग और पर से उदासीन होकर वहाँ अन्दर आसन लगावे। आहाहा! उसे तो जानता भी नहीं। उसकी तो उसे खबर भी नहीं। (वह तो ऐसा ही मानता है कि) यह सब करते हैं, वह धर्मध्यान है। आहाहा! और भाषण करनेवाले भी यही सब पोषण देते हैं। उसको ऐसा लगता है कि यह पढ़े हुए हैं, ये भी ऐसा कहते हैं, यह सत्य होगा न! आहाहा! अभी कहते हैं न? दिगम्बर में कहते हैं न! श्वेताम्बर में तो है ही कहाँ (सच्ची बात)? दिगम्बर में वे श्रुतसागर (जो) शान्तिसागर की परम्परा से पथानुगामी आये हुए। अभी पाट पर धर्मविजय-धर्मसागर है और यह हैं पढ़े हुए वांचन किये हुए। वह कहते हैं कि अभी शुभयोग ही होता है। धर्म नहीं होता, अधर्म ही होता है, (ऐसा इसका अर्थ हुआ)। आहाहा! यह बाह्य त्याग देखकर, नग्न देखकर ये अपने महाराज हैं। यह जो कहते हैं, वह बराबर कहते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान को तथा शुक्लध्यान को—नहीं जानता; इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से...** यह सब क्रियाएँ जो हैं, वे तो परद्रव्य में परिणत हैं, राग में परिणत हैं। आहाहा! कहो- शाम-सवेरे स्वाध्याय करे, ध्यान करे, स्वाध्याय में बराबर रुके। यह सब राग में रुकना है। आहाहा! वह परद्रव्य परिणत है। **उसे अन्यवश कहा गया है।** उसे तो पर के वश हुआ कहने में आता है। ऐसी क्रिया करनेवाले को राग में वश हुआ कहा जाता है। आहाहा! पराधीन सपने सुख नाहीं। आहाहा! उसे पराधीन कहने में आता है। आहाहा! अरे! यह बात सुनी नहीं थी। क्या है यह? हीराजी महाराज हमारे सम्प्रदाय के गुरु थे। एक बार एक प्रश्न किया था (संवत्) १९८० के वर्ष में। मैंने कहा, यह अनुभव क्या? और यह विभाव क्या? तो कहे, यह विभाव अपने नहीं, अपने नहीं। विभाव और क्या? अनुभव-अनुभव, यह अन्यमति में, वेदान्त में (होता है), अपने नहीं। आहाहा! उन्होंने नहीं कहा था परन्तु दूसरे ने कहा था। आहाहा!

इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से उसे अन्यवश कहा गया है। पर के वश पराधीन है। ऐसा क्रियाकाण्ड करनेवाला राग के वश हो गया है। आहाहा! **जिसका चित्त तपश्चरण में लीन है...** आहाहा! **ऐसा यह अन्यवश श्रमण देवलोकादि के क्लेश की परम्परा...** प्राप्त करेगा। आहाहा! देवलोक, यह वहाँ क्लेश है। वहाँ कहाँ सुख है? राग है।

अशुभराग में सुख मानता है। आहाहा! **जिसका चित्त तपश्चरण में लीन है ऐसा यह अन्यवश श्रमण देवलोकादि के...** देवलोकादि। कोई मरकर मनुष्य भी होता है।

क्लेश की परम्परा प्राप्त होने से शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्त रागरूपी अंगारों से सिकता हुआ,... आहाहा! ऐसी भाषा की है। इस शुभोपयोग से-प्रशस्तराग से, **प्रशस्त रागरूपी अंगारों से सिकता हुआ,...** आहाहा! शुभराग से आत्मा सिकता है-जलता है। आहाहा! उसमें शान्ति जलती है। शुभराग से शान्ति-धर्म प्राप्त नहीं होता। आहाहा! अब यह कहे, इतना करे तो धर्म होता है, ऐसा करे तो धर्म होता है, पहले ऐसा व्यवहार करे तो धर्म होता है। यह बात एकदम मिथ्या है। आहाहा! **अंगारों से सिकता हुआ,...** आहाहा! शुभभाव से तो यह फल है। परन्तु **आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर...** यह जब फिर स्ववश में आवे, पर के ऊपर का लक्ष्य छोड़ दे, तब धर्म को पाता है। यह विशेष बात है.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१६६, श्लोक-२४५, गाथा-१४४-१४५, गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल १३, दिनांक २६-०६-१९८०

(गाथा) १४४ है। अन्तिम चार लाईनें। १४४। कहते हैं कि क्रियाकाण्ड किया। चाहे जितनी करे तो भी उससे कहीं मुक्ति और धर्म नहीं है। परन्तु **आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर...** अन्तर में संसार के निकट आकर, जहाँ अल्प काल मोक्ष (प्राप्ति में) रहता है। आहाहा! ऐसा आसन्न-निकट भव्यतारूपी गुण का उदय होने पर **परमगुरु के प्रसाद से...** आहाहा! ऐसा लिया। परम गुरु का प्रसाद अर्थात् उनके निकट सुनना। उनके प्रसाद से होता नहीं, परन्तु सुनने में निमित्तपना होता है। गुरु-प्रसाद सो प्राप्त परम तत्त्व। दूसरे प्रकार से कहें तो अज्ञानी को गुरु परमतत्त्व का उपदेश देते हैं। इसमें से ऐसा निकला है। आहाहा! अज्ञानी को धर्मी-गुरु यह उपदेश देते हैं कि परमतत्त्व का उपदेश देते हैं। परमतत्त्व ऐसा जो आत्मा आनन्दस्वरूप। आया न यह? रामजीभाई नहीं आये? पटेल। यह रामजीभाई। आते हैं? क्या कहा?

अनादि काल से क्रिया करता आता है। क्रिया चाहे जितनी करे। बहुत नाम आये न? परन्तु जब **आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर....** परन्तु उसे पहले यह लिया,

फिर गुरु का लिया। **आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर...** उसे मोक्ष के निकट जाने की योग्यता होने पर। आहाहा! है? **परमगुरु के प्रसाद से...** फिर परम गुरु का उपदेश मिला। कैसा उपदेश? कि **परमतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानस्वरूप...** आहाहा! यह उपदेश मिला। गुरु ने ऐसा उपदेश दिया।

मुमुक्षु : प्रसाद का अर्थ ही उपदेश मिला।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उपदेश मिला, बस, इतना। प्रसाद (कहकर) निमित्त से बात की है। उसे परम लाभ हुआ है, लाभ होनेवाला है; इसलिए उन्होंने प्रसाद शब्द प्रयोग किया है। **परमगुरु के प्रसाद से...** उससे मिल जाए - ऐसा नहीं है। उससे मिल जाए - ऐसा नहीं है। तीन लोक के नाथ हों तो भी उनके उपदेश की वाणी सुने तो विकल्प है और उससे कुछ मिले - ऐसा नहीं है। पण्डितजी! आहाहा! सिद्ध तो यह किया कि **आसन्नभव्यतारूपी गुण का उदय होने पर....**

मुमुक्षु : उसकी पात्रता बतायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, उसकी पात्रता पहले कही। वह पात्रता हुई और गुरु का उपदेश मिला। वह भी कैसा उपदेश मिला? - कि परम तत्त्व जो आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका अनुष्ठानरूप। **शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा...** आहाहा! **निर्वाण को प्राप्त होता है...** आहाहा!

मुमुक्षु : पहले परम गुरु का प्रसाद आया, पश्चात् प्राप्त आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्राप्त (कहा) परन्तु उसे प्रसाद कहा, इतना। प्राप्त यहाँ स्वयं ने किया। उन्होंने तो उपदेश दिया। **परमतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानस्वरूप...** उपदेश दिया, तब स्वयं अपने **शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा...** शुद्ध निश्चयरत्नत्रयपरिणति द्वारा **निर्वाण को प्राप्त होता है...** उसके बल से प्राप्त करता है। गुरु के प्रसाद से नहीं। आहाहा! दो लाईनों में कितना... कितना! इसकी योग्यता, गुरु का उपदेश, वह किसका? - कि अन्तर आत्मतत्त्व का। वह फिर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हुआ, स्वयं प्राप्त हुआ। **शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा...** देखा न? गुरु के प्रसाद से नहीं। आहाहा! अन्दर की वस्तु तो ऐसी है।

मुमुक्षु : पुरुषार्थ पहले आया, परिणति पश्चात आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुरुषार्थ तब ही आया। तब गुरु का निमित्त कहलाया। आसन्न भव्यता पकी, तब गुरु का निमित्त कहलाया। तब निमित्त से भी उपदेश यह कहा। और वह जब इसे प्राप्त हुआ। **शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है...** ऐसा कहा। आहाहा!

अपना भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आचरण। यह अनुष्ठान कहा है। उसका अनुष्ठान—आचरण। उस द्वारा रत्नत्रय परिणति को... आहाहा! **शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा...** आहाहा! मुक्ति को प्राप्त हुआ, वह शुद्धनिश्चयरत्नत्रय की परिणति द्वारा **निर्वाण को प्राप्त होता है...** ऐसे क्रियाकाण्ड से नहीं, परन्तु जब यह इसकी योग्यता अन्दर की होती है और उपदेश अच्छा मिलता है और जब शुद्धरत्नत्रय परिणमता है, तब मुक्ति मिलती है। आहाहा! ऐसा है। है न, देखो न!

(अर्थात् कभी शुद्ध-निश्चयरत्नत्रयपरिणति को प्राप्त कर ले...) कभी अर्थात ? पहले यह सब बहुत किया। आहाहा! परन्तु **(कभी शुद्ध-निश्चयरत्नत्रयपरिणति को प्राप्त कर ले तो ही और तभी निर्वाण को प्राप्त करता है)**। आहाहा! स्व-आश्रय बिना मुक्ति की शुरुआत तीन काल में कहीं नहीं होती। स्व-आश्रय बिना सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न नहीं होती। यह सिद्धान्त। 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ, छोड़ी (सकल) जात द्वंद्व फंद निज आतम उर ध्याओ।' छहढाला। यह छहढाला में आता है। आहाहा! फिर बात चाहे जो आवे। निमित्त हो, हो, व्यवहार निमित्त है, व्यवहार है, नहीं है - ऐसा नहीं है, परन्तु उसके लक्ष्य से मुक्ति पाता है-ऐसा नहीं है। आहाहा! उसके आश्रय से, निश्चय सम्यग्दर्शन भी उसके आश्रय से पाता है-ऐसा नहीं है। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

अरे! जगत देखा। क्या किया ? कैसा वेदन हुआ ? विचार किया है इसने ? आहाहा! यह सब छोड़कर फिर जब अच्छा उपदेश मिलता है, तो इसकी पात्रता होती है, जब इसे उपदेश अच्छा मिलता है, तब यह भी निश्चयरत्नत्रय द्वारा निर्वाण को पाता है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! आहाहा! कठिन काम है, भाई! आहाहा! आनन्दघनजी कहते हैं एक बात। 'लही भव्यता मोटूं मान, कण अभव्य त्रिभुवन अपमान।' तीन लोक के नाथ ऐसा

कहते हैं कि यह भव्य जीव है, मुक्ति के योग्य है—अब तुझे किसका मान चाहिए है? कहते हैं; और परमात्मा के मुख से ऐसा निकले कि यह जीव योग्य नहीं है—अब तुझे किसका अपमान चाहिए है? आहाहा! वस्तु तो सब अन्दर भरी है। आहाहा! उसकी श्रद्धा—परमतत्त्व की श्रद्धा। यहाँ नवतत्त्व की श्रद्धा नहीं कही। आहाहा! नवतत्त्व में भी परमतत्त्व की श्रद्धा, ज्ञान, अनुष्ठानस्वरूप शुद्धनिश्चयरत्नत्रय परिणति, शुद्धनिश्चयरत्नत्रय परिणति। तीन। परिणति अर्थात् अवस्था। उसके द्वारा निर्वाण को पाता है। आहाहा! यह गाथा पूरी हुई।

श्लोक-२४५

[अब इस १४४ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(हरिणी)

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुङ्गवो,
भजतु परमानन्दं निर्वाण-कारणकारणम्।
सकल-विमल-ज्ञानावासं निरावरणात्मकं,
सहज-परमात्मानं दूरं नयानय-संहतेः।।२४५।।

(वीरछन्द)

हे मुनिवर! तुम स्वर्गादिक के क्लेशों के प्रति रति छोड़ो।
और मुक्ति के कारण का कारण जो निज परमात्म भजो॥
वह परमातम निर्मल ज्ञान निकेतन, आनन्द से भरपूर।
निरावरण है और सुनय अथवा दुर्नय समूह से दूर॥२४५॥

[श्लोकार्थः] मुनिवर देवलोकादि के क्लेश के प्रति रति छोड़ो और *निर्वाण के कारण का कारण ऐसे सहजपरमात्मा को भजो—कि जो सहजपरमात्मा परमानन्दमय

* निर्वाण का कारण परमशुद्धोपयोग है और परमशुद्धोपयोग का कारण सहजपरमात्मा है।

है, सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरणस्वरूप है तथा नय-अनय के समूह से (सुनयों तथा कुनयों के समूह से) दूर है ॥२४५॥

श्लोक -२४५ पर प्रवचन

[अब इस १४४ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुङ्गवो,
भजतु परमानन्दं निर्वाण–कारणकारणम्।
सकल–विमल–ज्ञानावासं निरावरणात्मकं,
सहज–परमात्मानं दूरं नयानय–संहतेः ।।२४५।।

श्लोकार्थः... आहाहा! **मुनिवर...** आहाहा! **देवलोकादि के क्लेश के प्रति रति छोड़ो...** स्वर्ग में जाऊँगा, और फिर सेठाई मिलेगी और फिर राज मिलेगा... यह छोड़ दे, प्रभु! यह सब दु:ख है। स्वर्ग का भव दु:ख है। अरबोंपति सेठ, वे सब दु:खी प्राणी हैं। जितने पर के लक्ष्य को करनेवाले हैं, वे सब दु:खी हैं। एक सिद्धान्त। स्व का लक्ष्य छोड़कर जितना पर का लक्ष्य करता है, उतना विकार होकर दु:खी होता है। आहाहा! हे मुनिवर! स्वयं उपदेश करते हैं। **देवलोकादि...** सेठाई, राजा और बड़ा चक्रवर्ती पद, इस **क्लेश के प्रति रति छोड़ो...** यह तो क्लेश है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर के साथ सम्बन्ध हो, वह क्लेश ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दु:ख ही है। असंगी तत्त्व है, उसे संग हुआ तो राग हुए बिना रहेगा ही नहीं। आहाहा! इसलिए कहा है कि संग छोड़ना, बहुत संग करना नहीं। लोक का परिचय छोड़ दे। विकल्प का जाल उत्पन्न होगा। आहाहा! ऐसा मार्ग। आहाहा!

देवलोकादि के क्लेश... देवलोक का क्लेश कहा। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि लोक में सुखी है, ऐसा भी कहीं कहेंगे। व्यवहारनय से ऐसा भी कहते हैं। आहाहा! यह आता है न, आता है। समाधिशतक में आता है, अष्टपाहुड़ में आता है अव्रत में रहने की अपेक्षा व्रत में (रहना ठीक है)। धूप में रहने की अपेक्षा छाया में ठीक है। आता है न!

आहाहा! अव्रत के पाप में... सम्यग्दृष्टि तो है ही। उसे अव्रत में रहने की अपेक्षा... आहाहा! व्रत में रहने में छाया है। परन्तु व्रती होवे कब? अकेला चौथा गुणस्थान रहे और व्रत होंगे? व्रत होवे, तब पाँचवाँ आता है। इसलिए अन्दर में स्थिरता बढ़ जाती है। आहाहा! यह ध्यान नहीं देता। उस व्रत के शब्द पर ध्यान देता है। अव्रत को तजकर व्रत करो। धूप तजकर छाया मिलेगी। परन्तु व्रत का विकल्प कौन से गुणस्थान में होता है? आहाहा! पाँचवें या छठे गुणस्थान में वह होता है। सातवें में वह नहीं होता, चौथे में नहीं होता। आहाहा! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **निर्वाण के कारण का कारण...** प्रभु! यह देवलोक, सेठाई और चक्रवर्तीपद तथा तीर्थंकरपद, इन सब भावों को रहने दे। परमतत्त्व की भावना, परमतत्त्व आनन्दस्वरूप भगवान... आहाहा! **निर्वाण के कारण का कारण...** निर्वाण का कारण मोक्ष का मार्ग, उसका कारण परमात्मतत्त्व। आहाहा! है? नीचे, **निर्वाण का कारण परमशुद्धोपयोग है और परमशुद्धोपयोग का कारण सहजपरमात्मा है।** कहीं निर्वाण का कारण मोक्ष सीधे नहीं, निर्वाण का कारण मूल तो भगवान आत्मा। मोक्ष के कारण का कारण आत्मा। उस आत्मा के आश्रय से मोक्ष का कारण होता है। वह कारण मोक्ष का कारण होता है। आहाहा!

निर्वाण के कारण का कारण... मोक्ष का कारण निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। उसका कारण... आहाहा! उसका कारण सहजपरमात्मा त्रिकाली वस्तु। आहाहा! मोक्षमार्ग की पर्याय, मोक्ष का कारण, परन्तु उस मोक्षमार्ग की पर्याय का कारण आत्मतत्त्व। आहाहा! लोगों को ऐसा लगता है, बाहर से निवृत्ति लेकर एकाध घण्टे सुनना और कुछ समय मिलता हो, उसमें ऐसा? आहाहा! मोक्ष का कारण, उसका कारण। मोक्ष का कारण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण, परमतत्त्व आत्मा। आहाहा! परम आत्मा भगवानस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता का अनुभव, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा!

ऐसे सहजपरमात्मा को भजो—देखा! निर्वाण के कारण का कारण ऐसा स्वाभाविक परमात्मा। ध्रुवस्वरूप, नित्यस्वरूप, वह ध्रुव। उसे भजो, वह पर्याय। **सहजपरमात्मा...** यह द्रव्य; उसे **भजो...** यह पर्याय। पर्याय बिना भजन नहीं होता क्योंकि द्रव्य तो ध्रुव है। ध्रुव

का भजन ध्रुव से नहीं होता। ध्रुव का भजन पर्याय से होता है। वह पर्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो कि मोक्ष का कारण है, उसका कारण परमतत्त्व है। आहाहा! **कि जो सहजपरमात्मा...** मोक्ष का कारण जो परमात्मा स्वयं। आहाहा! सहज शब्द प्रयोग किया है न? पर आत्मा नहीं, ऐसा। निज परमात्मा शब्द प्रयोग न करके सहज शब्द प्रयोग किया है। सहजपरमात्मा, ऐसा। स्वाभाविक परमात्मा स्वयं। आहाहा! नहीं तो ऐसा ले कि निजपरमात्मा का कारण मोक्ष का मार्ग और वह मोक्ष का कारण। परन्तु यहाँ कहा कि सहजपरमात्मा, स्वाभाविक वस्तु जो है, त्रिकाल है, जिसकी आदि नहीं, अन्त नहीं, उत्पत्ति नहीं। आहाहा! जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, ऐसा जो परमात्म (तत्त्व) निज सहज स्वाभाविक परमात्मा ध्रुव, उसे भजो। आहाहा! उसका भजन करो। दया, दान, भक्ति और बाहर का भजन-वजन, वह मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा!

कि जो सहजपरमात्मा... स्वाभाविक परमात्मा त्रिकाली, **परमानन्दमय है,...** वह परम आनन्दमय है। परम आनन्दवाला है, ऐसा भी नहीं। परम आनन्दवाला है, यह तो भेद पड़ा। वह तो परमानन्दमय है। स्वयं परमानन्दमय भगवान है आत्मा। आहाहा! त्रिकाली भगवान आत्मा, जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन हो, वह तत्त्व सहज परमानन्दस्वरूप है। आहाहा! सर्वत्र से उठा-उठाकर परमतत्त्व में आनन्द है, वहाँ नजर ले जाना, वह कहीं साधारण पुरुषार्थ है? आहाहा! अनन्त पुरुषार्थ है, अपूर्व पुरुषार्थ है, अचिन्त्य पुरुषार्थ है। आहाहा!

जो सहज परमात्मा निर्वाण के कारण का कारण है, उस परमानन्दमय-परम आनन्दस्वरूप ही वह तो है। परम आनन्दवाला है, ऐसा भी नहीं। वह तो परमानन्दमय प्रभु है। आहाहा! अतीन्द्रिय परमानन्दमय परमात्मा स्वयं है। अनादि-अनन्त स्वाभाविक; नहीं उत्पत्ति, नहीं नाश, नहीं अभाव, नहीं परिणमन, नहीं फेरफार। आहाहा! ऐसा जो सहज परमात्मतत्त्व आनन्द, वह **सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है,...** आहाहा! वह सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है। शास्त्रज्ञान और पठन ज्ञान, वह कोई निर्मल ज्ञान का आवास नहीं है। आहाहा! सर्वत्र से उठाकर वहाँ ले जाना है।

जो **सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है,...** कथंचित् शास्त्रज्ञान कारण और कथंचित् आत्मतत्त्व, ऐसा भी नहीं। सर्वथा। अनेकान्त में सर्वथा नहीं होता न? होता है अनेकान्त में सर्वथा। **सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है,...** आहाहा! जो परमानन्दमय है और उस

निर्मल ज्ञान का स्थान है। आवास अर्थात् निर्मल ज्ञान का वह स्थान है, निर्मल ज्ञान का धाम है। वह क्षेत्र तो निर्मल ज्ञान का क्षेत्र है। उसमें से तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान पके, वह क्षेत्र है। आहाहा!

ऐसा निश्चय कठिन लगता है, इसलिए फिर एकान्त है... एकान्त है। प्रभु! एकान्त कह, भाई! बापू! तुझे दु:ख होगा। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय से तो संसार मिलेगा, भव मिलेगा। व्यवहाररत्नत्रय तो कथनमात्र है। वह इसमें-नियमसार में आ गया। नियमसार में पहले (आ गया), व्यवहार तो कथनमात्र, कहने मात्र एक निमित्त की पहिचान देने के लिये है। उसमें क्लेश है। व्यवहाररत्नत्रय क्लेश, राग और दु:ख है। आहाहा! देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, पंच महाव्रत और शास्त्र के ज्ञान का विकल्प, वह सब दु:खरूप है। आहाहा! राग है न? पराश्रय है न? स्वाश्रय से सुख, पराश्रय से दु:ख। स्वाश्रय से मोक्ष, पराश्रय से बन्ध। आहाहा! स्वाश्रय से संवर, पराश्रय से असंवर। स्व-आश्रय से निर्जरा, पराश्रय से बन्ध। आहाहा! स्व-आश्रय से मोक्ष, पराश्रय से बन्ध। शान्तिभाई! ऐसी बात है। आहाहा! ऐसा निश्चय कहें तो (ऐसा कहे), यह तो निश्चय है... यह तो निश्चय है। ऐसा करके (निकाल देते हैं), परन्तु निश्चय अर्थात्? प्रभु! तू ऐसा रहने दे। यह परमसत्य है, ऐसा ले। परमसत्य है। परमसत्य, वह त्रिकाली चीज़ है। जिसमें परम आनन्द और परम ज्ञान रहने का स्थान है। उस पर्याय में रहने का स्थान नहीं है। आहाहा! परमानन्द और परम ज्ञान के रहने का स्थान वह ध्रुव है। आहाहा! उसमें परम ज्ञान और परम आनन्द पड़ा है। आहाहा!

निर्जरा अधिकार में आता है न? रहनेवाले का स्थान है। आहाहा! जिसे स्थिर होना हो, उसके लिये रहने का स्थान यह है। अन्दर जमकर रहना हो तो यह आत्मा रहनेवाले का आवास यह पाठ है। ऐसा निर्जरा अधिकार में पाठ है। आहाहा! जिसे रहना है, जिसे उसमें से हटना नहीं, जिसमें से चंचलता करके डोलायमान नहीं होना, उसके रहने के लिये वह आवास है। ऐसे रहनेवाले को आवास है। आहाहा! ऐसी भाषा कभी सुनी नहीं होगी, लो! बाहर की सिरपच्ची। एक नहीं, सबको ऐसा है न, बापू! आहाहा! अरे! दूसरी बात है, बापू!

यह तो शान्तमार्ग है, शान्तिमार्ग है। इसमें कषाय के विकल्प के दु:ख की उत्पत्ति वह संसार का कारण है। आहाहा! ऐसा शान्तरस से भरपूर भगवान, वह ज्ञान को रहने का स्थान है। ज्ञान वहाँ रहता है। शान्त सागर में ज्ञान रहता है। उस विकल्प में और राग में ज्ञान

नहीं रहता। आहाहा! विकल्प से चाहे जितना पठन कर, वह ज्ञान को रहने का आवास नहीं है। वह तो नाश को प्राप्त हो जाएगा। निगोद में जाएगा तो सब समाप्त हो जाएगा। आहाहा! ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पठन (परन्तु) स्व के आश्रय बिना निगोद में जाएगा, वहाँ अक्षर के अनन्तवें भाग हो जाएगा और उसमें से निकलकर आयेगा, तब ग्यारह अंग और नौ पूर्व का हो जाएगा। परन्तु दोनों कहीं रहनेवाले का स्थान नहीं है। आहाहा! एक अक्षर के अनन्तवें भाग की पर्याय और नौ पूर्व का ज्ञान वह रहनेवाले का स्थान नहीं है, प्रभु! आहाहा! गजब बात है न! शान्तिभाई! पूरे दिन पैसा और धन, हीरा और माणिक में। उसमें यह बात कहाँ अन्दर (प्रवेश करे) ? आहाहा!

मुमुक्षु : आपकी बात सुनते हैं, तब ठीक लगता है, घर में जाते हैं, तब भूल जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! शान्ति का सागर। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति नाम है न, यह तो शान्तिसागर है। आहाहा!

जहाँ उद्वेग नहीं, जहाँ से हटना नहीं, जिसमें चिन्ता नहीं। आगे आयेगा। चिन्ता, वह संसार है, आगे आयेगा। फिर कहीं है। कहीं है अवश्य। २४६ में ही आता है। २४६ (श्लोक) की अन्तिम लाइन। २४६ (श्लोक) की अन्तिम लाइन। **जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है, तब तक संसार है।** २४६ की एकदम अन्तिम (लाइन)। अन्तिम कलश। २४६वाँ कलश है न? उसमें भी अन्तिम लाइन। १४६ (गाथा) होने से पहले, १४५ का, २४६ तो कलश है। हों, परन्तु १४६ गाथा, उसके ऊपर, आहाहा! **जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है...** है? आहाहा! १४६ गाथा के ऊपर एकदम गाथा के ऊपर एक ही लाइन। आहाहा!

जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है, तब तक संसार है। आहाहा! यह चिन्ता, वह संसार, विकल्प वह संसार है। आहाहा! संसार यह स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, मकान, यह संसार नहीं है, क्योंकि संसार, वह जीव की पर्याय है, तो संसार जीव से भिन्न नहीं रहता। क्या कहा? स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, स्त्री, पुत्र, मकान, पैसा यह संसार नहीं है। यह तो (पर) चीज़ है। संसार तो दोष है। वह संसार तो जीव की दोष अवस्था है। पैसा और स्त्री, पुत्र, वह संसार नहीं है। आहाहा! समझ में आया? चिन्ता विकल्प है, वह संसार है। संयोग जो चीज़ है, वह संसार नहीं। भले करोड़ों, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों और छियानवें करोड़

गाँव हो, वह संसार नहीं है। उनके प्रति चिन्ता और ममता और विकल्प, वह संसार है। आहाहा! ऐसी बात है।

सहजपरमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरणस्वरूप है... अपना चलता श्लोक। **निरावरणस्वरूप है...** अत्यन्त निरावरण। द्रव्यस्वरूप को आवरण होता ही नहीं। द्रव्य को आवरण होवे तो अद्रव्य हो जाए। आहाहा! **तथा नय-अनय के समूह से (सुनयों तथा कुनयों के समूह से) दूर है।** सुनय से भी दूर है। आहाहा! नयातीत है। त्रिकाली द्रव्य-वस्तु परम शान्ति के रस से भरपूर सागर, जिसमें कषाय के विकल्प की चिन्ता, द्रव्य-गुण-पर्याय की भी नहीं। यह इसमें आयेगा। अब आयेगा। जिसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीन की चिन्ता का विकल्प भी नहीं है। अपने, हों! पर के तो नहीं परन्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे तीन की भी चिन्ता है, वह विकल्प है। आहाहा! पर की तो बात क्या करना? कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, इज्जत, धूल और... आहाहा! परन्तु वहाँ दुकान पर बैठा हो तो मजा आता है। पच्चीस-पच्चीस व्यक्ति काम करनेवाले, हीरा घिसनेवाले और एक-एक को सात सौ-आठ सौ-हजार रुपये पड़ें, ऐसे पच्चीस व्यक्ति इसके घर में हैं। हीरा का काम करनेवाले। अब अभिमान चढ़ जाए या नहीं इसमें? अन्दर पावर चढ़ जाए या नहीं?

मुमुक्षु : सब छोड़ दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्द किया? बन्द कर दिया? तब आये थे, तब कहा था। दुकान में आये थे कमरे में। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा का वचन है कि हम हैं, उसकी चिन्ता भी संसार है। हम हैं, ऐसा जो तुझे विकल्प उठता है, वह चिन्ता है, वह संसार है। आहाहा! यह वीतराग कहते हैं। वीतराग के अतिरिक्त किस जगह ऐसी बात करे... आहाहा! सर्वज्ञ वीतराग परमशान्त का मूल प्रभु, ऐसा कहते हैं प्रभु! तेरे द्रव्य में स्थिर हो न! हमारे सन्मुख देखेगा तो तुझे दुःख होगा... विकल्प होगा, दुःख होगा। आहाहा! हमारी भक्ति से भी तुझे दुःख होगा। आहाहा! तुझमें जा न, तुझे शान्ति मिलेगी। कि जहाँ शान्ति पड़ी है। हमारी ओर देखने से हमारी शान्ति तेरे पास है? तो तुझे शान्ति कहाँ से मिलेगी? आहाहा! तू हमारे सामने भजन करे तो हमारी शान्ति तेरे पास है? वह तो हमारे पास है। हमारे ऊपर नजर

करेगा, तो तुझे राग होगा। आहाहा! ऐसा सुनना मुश्किल पड़े। उपदेश ही सब बाहर का। घोड़ाघोड़। आहाहा!

अरे! प्रभु! तू कौन है ? निरावरण है न, नाथ! परमानन्दमय है न! सम्यक् निर्मल ज्ञान को रहने का आवास है न! आहाहा! और नय तथा अनय का भी तू विषय नहीं है। उसके समूह से तू दूर है। आहाहा! विकल्पवाला नय लेना। नहीं तो 'निश्चय नयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की'—यह समयसार में आता है। वहाँ वह निर्विकल्प नय है। यह है, वह विकल्पवाला नय है। आहाहा!

निश्चयनय के भी दो भेद हैं : एक विकल्प-रागवाला नय और एक रागरहित नय। रागवाला नय, वह कल्याण का कारण नहीं है। रागरहित नय जो अनुभव में जाता है, एकाकार होता है। 'निश्चय नयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की' ऐसा पाठ है। वह निर्विकल्पनय है। आहाहा! किस जगह किस अपेक्षा से कथन है, क्या कहना चाहते हैं ? ऐसा समझना न चाहे और अपनी दृष्टि से बात की खतौनी कर डाले तो सब उल्टा पड़ता है। कहीं मिलान नहीं खाये।

गाथा-१४५

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयार-ववगय-समणा कहयंति एरिसयं।।१४५।।

द्रव्यगुणपर्यायाणां चित्तं यः करोति सोऽप्यन्यवशः।
मोहान्धकार-व्यपगत-श्रमणाः कथयन्तीदृशम्।।१४५।।

अत्राप्यन्यवशस्य स्वरूपमुक्तम्। यः कश्चिद् द्रव्यलिङ्गधारी भगवदर्हन्मुखारविन्द-विनिर्गतमूलोत्तरपदार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थः क्वचित् षण्णां द्रव्याणां मध्ये चित्तं धत्ते, क्वचित्तेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, पुनस्तेषामर्थव्यञ्जनपर्यायाणां मध्ये बुद्धिं करोति, अपि तु त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दलक्षणनिजकारणसमयसारस्वरूपनिरत-सहजज्ञानादिशुद्धगुणपर्यायाणामाधारभूतनिजात्मतत्त्वे चित्तं कदाचिदपि न योजयति, अत एव स तपोधनोऽप्यन्यवश इत्युक्तः। प्रध्वस्तदर्शनचारित्रमोहनीयकर्मध्वान्तसङ्घाताः परमात्मतत्त्वभावेनोत्पन्न -वीतरागसुखामृतपानोन्मुखाः श्रमणा हि महाश्रमणाः परमश्रुत-केवलिनः, ते खलु कथयन्तीदृशं अन्यवशस्य स्वरूपमिति।

तथा चोक्तं ह्र

(अनुष्टुप्)

आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परिचिन्तया।।

तथाहि ह्र

जो जोड़ता चित द्रव्य-गुण-पर्याय-चिन्तन में अरे!
रे मोह-विरहित-श्रमण कहते अन्य के वश ही उसे॥१४५॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [द्रव्यगुणपर्यायाणां] द्रव्य-गुण-पर्यायों में (अर्थात् उनके विकल्पों में) [चित्तं करोति] मन लगाता है, [सः अपि] वह भी [अन्यवशः]

अन्यवश है; [मोहांधकारव्यपगतश्रमणाः] मोहान्धकार रहित श्रमण [ईदृशम्] ऐसा [कथयन्ति] कहते हैं।

टीका : यहाँ भी अन्यवश का स्वरूप कहा है।

भगवान अर्हत् के मुखारविन्द से निकले हुए (कहे गये) मूल और उत्तर पदार्थों का सार्थ (-अर्थसहित) प्रतिपादन करने में समर्थ ऐसा जो कोई द्रव्यलिंगधारी (मुनि) कभी छह द्रव्यों में चित्त लगाता है, कभी उनके मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन गुणों में मन लगाता है और फिर कभी उनकी अर्थपर्यायों तथा व्यंजनपर्यायों में बुद्धि लगाता है परन्तु त्रिकाल-निरावरण, नित्यानन्द जिसका लक्षण है, ऐसे निजकारण-समयसार के स्वरूप में लीन सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत निज आत्मतत्त्व में कभी भी चित्त नहीं लगाता, उस तपोधन को भी उस कारण से ही (अर्थात् पर विकल्पों के वश होने के कारण से ही) अन्यवश कहा गया है।

जिन्होंने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी तिमिरसमूह का नाश किया है और परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतरागसुखामृत के पान में जो उन्मुख (तत्पर) हैं, ऐसे श्रमण वास्तव में महाश्रमण हैं; परम श्रुतकेवली हैं; वे वास्तव में अन्यवश का ऐसा (उपरोक्तानुसार) स्वरूप कहते हैं।

इसी प्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

आत्मकार्य से जो विरुद्ध प्रत्यक्ष-परोक्ष विकल्पों से।
ब्रह्मनिष्ठ यतियों को कहो प्रयोजन क्या है चिन्ता से॥

'[श्लोकार्थः] आत्मकार्य को छोड़कर दृष्ट तथा अदृष्ट से विरुद्ध ऐसी उस चिन्ता से (-प्रत्यक्ष तथा परोक्ष से विरुद्ध ऐसे विकल्पों से) ब्रह्मनिष्ठ यतियों को क्या प्रयोजन है ?'

गाथा - १४५ पर प्रवचन

१४५ गाथा

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयार-ववगय-समणा कहयंति एरिसयं।।१४५।।

जो जोड़ता चित द्रव्य-गुण-पर्याय-चिन्तन में अरे!

आहाहा! अब अपना लिया। पर का सब छुड़ाया। पर की तो बात छुड़ायी। अब स्व में आये। स्व में भी भेद करे, वह भी विकल्प-राग है। आहाहा! है?

जो जोड़ता चित द्रव्य-गुण-पर्याय-चिन्तन में अरे!
रे मोह-विरहित-श्रमण कहते अन्य के वश ही उसे॥१४५॥

मोहरहित सर्वज्ञ परमात्मा उसे परवश कहते हैं। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ प्रभु (ऐसा फरमाते हैं), तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय के तीन भेद के विचार में रुकने से तू परवश है, स्ववश नहीं। आहाहा! गजब है। परद्रव्य को तो निकाल दिया। आहाहा! क्योंकि परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से तो राग ही होगा। अब स्वद्रव्य में आया, उसमें भी तीन भेद में पड़ा। द्रव्य में अकेले द्रव्य के अन्दर एकाग्र न होकर द्रव्य, गुण और पर्याय की चिन्ता में जुड़ा, तो विकल्प होगा, दु:खी होगा, राग होगा। आहाहा! निज द्रव्य-गुण-पर्याय के विचार में भी दु:खी होगा। वह शुभभाव है, दु:ख है। आहाहा! शान्तिभाई! कभी सुना नहीं, वहाँ मुफ्त का समय निकाला पाप में। आहाहा! निज द्रव्य-गुण-पर्याय तीन भेद करे तो भी परवश है, राग है, चिन्ता है, विकल्प है, संसार है। आहाहा!

मुमुक्षु : घर का काम करना हो, उसका क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : घर का कौन करता है? कौन कर सकता है? एक हाथ फिरा नहीं सकता, आँख की पलक फिरा नहीं सकता। आहाहा! एक पलक को ऐसे से ऐसे तीन काल में नहीं कर सकता। ऐसी पलक ऊँची है, उसे नीची आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता। उस पलक के परमाणु अनन्त हैं, उसकी उस समय में पर्याय होनेवाली, वह होती है। आहाहा! आत्मा उसे तीन काल में नहीं कर सकता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

परमात्मा, पंच परमेष्ठी, वह तो छुड़ाया, हमारी ओर से तो छूट जा, प्रभु! क्योंकि हम तो तेरे द्रव्य से परद्रव्य—दूसरे हैं। एकड़े एक और बिगड़े दो। यदि दूसरा लक्ष्य में लिया तो बिगड़ेगा, राग होगा। वह तो एक ओर रहा परन्तु यहाँ वस्तु एकरूप है, उसमें तीन भेद डालेगा तो बिगड़ेगा। आहाहा! वस्तु एकरूप त्रिकाल चिदानन्द अनन्त आनन्द का कन्द है। आहाहा! उसमें भी यदि द्रव्य-गुण और पर्याय (ऐसे) तीन भेद किये तो चिन्ता खड़ी होगी और वह चिन्ता संसार है, ऐसा वीतराग कहते हैं। दुनिया इससे अटक जाए, दुनिया को ठीक लगेगा या नहीं ? झेल सकेंगे या नहीं ? वीतराग को कुछ नहीं पड़ी है। यह तो तो वाणी आ गयी, वह आ गयी। उन्हें कहाँ वाणी करना है। आहाहा! वाणी आ गयी, वह आ गयी। मात्र वाणी में केवलज्ञान निमित्त था। निमित्त था, वह कहीं पर को करता नहीं। आहाहा! यह वाणी दिव्यध्वनि में भी भगवान के ज्ञान ने कुछ किया नहीं। भगवान के ज्ञान ने वाणी में कुछ नहीं किया। आहाहा! वाणी को ज्ञान ने स्पर्श भी नहीं किया। पण्डितजी! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! प्रभु! तू एकरूप है न! पर से तो निराला है न, नाथ! तू एकरूप द्रव्य-वस्तु है न! वह वस्तु और अन्दर गुण और उस वस्तु की पर्याय, ऐसे तीन भेद करेगा तो चिन्ता होगी, विकल्प होगा, दु:खी होगा। आहाहा! यह वीतराग कहते हैं। आहाहा!

१४५ की **टीका : यहाँ भी अन्यवश का स्वरूप कहा है। भगवान अर्हत् के मुखारविन्द से निकले हुए...** और कैसे शब्द ?—कि भगवान के मुख से निकले हुए। आहाहा! अज्ञानी के भी नहीं। आहाहा! **भगवान अर्हत् के मुखारविन्द से...** अरविन्द अर्थात् कमल। मुखरूपी कमल से **निकले हुए (कहे गये) मूल और उत्तर पदार्थों का सार्थ (-अर्थसहित) प्रतिपादन करने में समर्थ...** आहाहा! ऐसे पदार्थों का—मूल और उत्तर पदार्थों का अर्थसहित कहने में, करने में समर्थ। **ऐसा जो कोई द्रव्यलिंगधारी (मुनि)...** आहाहा! वह द्रव्यलिंगी मुनि हुआ है। आहाहा! भगवान ने कहे हुए द्रव्य-गुण और पर्याय जो पदार्थ है, उसे जो कहने में समर्थ, ऐसा कोई द्रव्यलिंगी साधु। कहने में समर्थ है, ऐसा कोई द्रव्यलिंगी। आहाहा!

(मुनि) कभी छह द्रव्यों में चित्त लगाता है,... कभी छह द्रव्यों में चित्त को लगाता है, वह विकल्प-चिन्ता है। आहाहा! यह तो व्रत से धर्म हो और दया से धर्म हो, ऐसा व्याख्यान में-भाषण में रखा हो। शान्तिभाई! सब (ऐसे हैं)। एक नहीं, तुम्हारी बात नहीं।

यह तो तुम सामने बैठे हो, इसलिए तुम्हारी बात (होती है)। बाकी सब यही करते हैं न! आहाहा! यह वस्तु...

परद्रव्य, परमेश्वर कहते हैं कि मैं तो नहीं। हम तो तुझसे परद्रव्य हैं। इसलिए हमारे ऊपर नजर जाएगी, तो प्रभु! तुझे मोह होगा, राग होगा। आहाहा! परन्तु प्रभु! तू है न। एकरूप चिदानन्द आनन्दकन्द है, उसमें भी यदि तीन भेद डालकर विचार करेगा कि यह अनन्त गुण का पिण्ड, वह द्रव्य है और गुण, वह शक्ति है और पर्याय, वह अवस्था है। आहाहा! अन्तिम में अन्तिम लिया, पण्डितजी! आहाहा! उसमें प्रभु! तुझे निर्विकल्पता नहीं होगी। यह द्रव्य-गुण और पर्याय के तीन भेद डालेगा तो तुझे चिन्ता होगी, प्रभु! उस चिन्ता (से) तू दुःखी होगा। आहाहा!

छह द्रव्यों में चित्त लगाता है,... परन्तु किसने कहे हुए? भगवान ने कहे हुए, हों! अन्यमति के कहे हुए और अज्ञानी के कहे हुए उन शब्दों की बात ही नहीं है। आहाहा! वास्तव में तो यहाँ श्वेताम्बर के बनाये हुए सूत्रों की भी बात नहीं है। यह तो **भगवान अर्हत् के मुखारविन्द से निकले हुए...** तीन लोक के नाथ के मुख में से निकली हुई वाणी। श्वेताम्बर की वाणी वह कहीं भगवान की वाणी नहीं है। प्रभु! किसी को दुःख लगे तो क्षमा करना। आहाहा! दूसरा क्या हो? मार्ग तो जो है, वह है। आहाहा! यह हमारा मत खोटा? हमारा श्वेताम्बर मत खोटा? ऐसा हो जाता है। भाई! खोटा क्या? यहाँ तो एक द्रव्य-गुण-पर्याय तीन का विचार करे तो भी विकल्प खोटा, वह (भी) भगवान ने कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय। तीन लोक के नाथ के मुख में से निकली हुई वाणी। श्वेताम्बर के शास्त्र तो (उनके) आचार्यों ने कल्पित बनाये हैं। इसलिए उन्हें वे फिराते हैं, उसकी बात तो यहाँ है ही नहीं। आहाहा! बहुत स्पष्ट करने जाए तो...

भगवान अर्हत् के मुखारविन्द से... मुखरूपी कमल, उसमें से दिव्यध्वनि खिरी। यह निमित्त से कथन है। (वाणी) मुख से नहीं निकलती। वाणी तो पूरे शरीर में से निकलती है, परन्तु लोगों की भाषा ऐसी है न, इसलिए इस प्रकार से रचा है। नहीं तो वह तो भगवान का मुख कहीं हिलता नहीं। पूरे शरीर में से ओम्ध्वनि उठती है। पूरे शरीर में से ओम्ध्वनि (उठती है) होंठ बन्द, यह सब बन्द, कण्ठ हिले नहीं, होंठ हिले नहीं। परन्तु लोग समझते हैं न, उस भाषा से (कहा है)। **मुखारविन्द से निकले हुए...** ऐसा शब्द

प्रयोग किया है। मुखरूपी कमल से निकले हुए। आहाहा! बाकी तो पूरे शरीर में से ओम्ध्वनि निकलती है। जो ओमध्वनि उठती है, वह तो पूरे शरीर में से उठती है। असंख्य प्रदेश में से ओम्ध्वनि उठती है। आहाहा! उनकी ध्वनि में जो कोई द्रव्य-गुण और पर्याय परमात्मा की वाणी में जो आये, भगवान ने जो कहे, उनमें जो द्रव्य में चित्त जोड़ेगा। छह द्रव्य भगवान ने कहे हैं। श्वेताम्बर पाँच द्रव्य मानते हैं। कालद्रव्य नहीं मानते। खबर है न, उसकी यहाँ बात नहीं है। आहाहा! दूसरे को दु:ख लगे बेचारे को। क्या हो? सत्य वस्तु तो यह है। जिसने कालद्रव्य नहीं माना, वह जैन नहीं है। जैन के मुख में से तो छह द्रव्य निकले हैं। वीतराग महावीर के मुख से तो छह द्रव्य निकले हैं। आहाहा! कठिन बात है। शान्तिभाई! तुम्हारा पन्थ कहीं रह गया। आहाहा!

मुमुक्षु : ऊपर की गाथा में बदनारविंद लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बदन-मुख दोनों एक ही है। वह तो सब एक ही है। भाषा ऐसी आती है परन्तु बदन से नहीं निकलती, पूरे शरीर से निकलती है। समझ में आया? यह तो ओम् का अनुभव है। पूरे शरीर में से उठा था। पूरे शरीर में से ओम् उठा था। शरीर बन्द, होंठ सब बन्द था। ओम् ध्वनि अन्दर से उठी। वह तो यहाँ उठी। भगवान का है, वह उठी थी अन्दर से। आहाहा! भगवान के मुख में से जो ओम् निकले, वह पूरे शरीर में से निकलता है। बदन से और मुख से यह कथनशैली-जगत् की शैली है, इस अपेक्षा से बोला जाता है। आहाहा!

यह **द्रव्यलिंगधारी...** आहाहा! नग्न-मुनि की बात, हों! नग्न-मुनि है, दिगम्बर है। राज छोड़ा है, परद्रव्य छोड़ा है, अन्तर द्रव्य-गुण-पर्याय में छह द्रव्य में चित्त लगाता है, वह पराधीन है। कभी सुना नहीं, यह बाप-दादा ने पहले। आहाहा! **छह द्रव्यों में चित्त लगाता है, कभी...** कभी न? **कभी उनके मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन गुणों में मन लगाता है...** छह द्रव्य हैं न? एक चेतन है और पाँच अचेतन हैं। उनमें मन को लगाता है। आहाहा! **और फिर कभी उनकी अर्थपर्यायों...** उनकी आकृति / व्यंजनपर्याय के अतिरिक्त। प्रदेशत्वगुण की व्यंजनपर्याय के अतिरिक्त सभी गुणों की अर्थपर्याय। व्यंजनपर्याय प्रदेशगुण की पर्याय-व्यंजन-द्रव्य की आकृति। उसमें **बुद्धि लगाता है...** अर्थपर्याय में और व्यंजनपर्याय में बुद्धि को लगाता है। आहाहा!

परन्तु त्रिकाल-निरावरण, नित्यानन्द जिसका लक्षण है... नित्यानन्द जिसका लक्षण है। पर्याय आनन्द, ऐसा नहीं। **नित्यानन्द जिसका लक्षण है, ऐसे निजकारण-समयसार के स्वरूप में...** यहाँ निज आया। उसमें ऐसा कहा, सहज। उसमें कहा था न? सहज कहा था। **निजकारणसमयसार के स्वरूप में लीन सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत...** आहाहा! निजकारणसमयसार के स्वरूप में लीन। कौन लीन? निजकारण-समयसार स्वरूप में कौन लीन? **सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों...** आहाहा! ऐसे **लीन सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत...** आहाहा! ऐसी बातें अब। उपदेश... निजकारणसमयसार ऐसा भगवान कायम का समय, उसमें लीन। क्या लीन? स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, आनन्द शुद्धगुणपर्यायों में लीन है, वह तो एकाकार है। आत्मा में-कारणसमयसार में गुण-पर्याय तो एकाकार अभेद है। आहाहा! उनका जो **आधारभूत निज आत्मतत्त्व...** आहाहा! **निजकारणसमयसार के स्वरूप में लीन सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत निज आत्मतत्त्व में कभी भी चित्त नहीं लगाता,...** आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय को अन्दर समाहित कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय अभेद लीन हो गयी है। द्रव्य में लीन, द्रव्य में लीन।

मुमुक्षु : शुद्ध गुण-पर्याय...

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य में लीन। भेद नहीं। काम करे पर्याय से, परन्तु है सब द्रव्य में लीन। द्रव्य से भिन्न कहा है। यहाँ अभी यह लेना है न! लीन कहा न?

सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत निज आत्मतत्त्व में कभी भी चित्त नहीं लगाता, उसे तपोधन को भी उस कारण से ही... उसे उस कारण से **(अर्थात् पर विकल्पों के वश होने के कारण से ही) अन्यवश कहा गया है।** वह भी पराधीन, परवश है, दुःखी है। वह विकल्प के वश है, आत्मा के वश नहीं। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१६७, श्लोक-२४६, गाथा-१४५-१४६, शुक्रवार, ज्येष्ठ कृष्ण १४, दिनांक २७-०६-१९८०

१४५ की **टीका : यहाँ भी अन्यवश का स्वरूप कहा है।** आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के क्रिया में मानता है और दया, दान आदि में धर्म मानते हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। द्रव्यलिंगधारी मुनि नग्न होते हैं, परन्तु द्रव्यलिंगधारी है। अन्दर धर्म नहीं। अन्तर समकित नहीं। समकित रहित नग्नपना वह मुनिपना नहीं है, वह द्रव्यलिंगधारी है। वह **द्रव्यलिंगधारी (मुनि) कभी छह द्रव्यों में चित्त लगाता है,...** भगवान ने कहे हुए छह द्रव्यों में चित्त लगाता है, वह तो राग है, वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! कठिन बात है।

छह द्रव्य जो भगवान ने कहे, उसमें भी जो चित्त लगाता है, वह परवश पराधीन दुःखी है। यह राग है और राग है, वह दुःख है, वह परवश है। उसे निश्चय आवश्यक, सत्य आवश्यक नहीं होता। आहाहा! **कभी उनके मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन गुणों में मन लगाता है...** छह द्रव्यों में चेतन एक है, पाँच अचेतन हैं। उसमें विचार और मन लगावे, वह भी पराधीन है, वह भी राग के आधीन है, क्योंकि पराधीन हुआ और एक द्रव्य में तीन भेद करके विचार करे तो उसे राग ही होता है, धर्म नहीं होता। कठिन बात है, भाई! अभी तो कुछ बिना ठिकाने की चलती है। बाहर की क्रिया करे नग्न, वह धर्म, वह मुनि। यहाँ तो अभी समकिती भी नहीं है। आहाहा! मुनिपना तो कहीं रह गया। समकिती छह द्रव्यों में, छह द्रव्य के गुण में चित्त लगावे तो भी पराधीन मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसमें धर्म माने तो वह धर्म है नहीं। छह द्रव्य में, छह द्रव्य में, गुण में चित्त लगावे तो भी पराधीन मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसमें धर्म माने तो वह धर्म है नहीं। छह द्रव्य के, छह द्रव्य के गुण के और छह द्रव्य की पर्याय के। पर्याय आयी, देखो!

उनकी अर्थपर्यायों... कभी उनकी-छह द्रव्यों की प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त अनन्त गुण की पर्याय का विचार करता है। कभी व्यंजनपर्याय का विचार करता है, प्रदेशत्वगुण की पर्याय आकार, उसका विचार करता है। **परन्तु त्रिकाल-निरावरण, नित्यानन्द...** आहाहा! उसमें चित्त लगावे, वह कोई धर्म नहीं। छह द्रव्य, छह द्रव्य के गुण और छह द्रव्य की पर्याय, इन तीनों में चित्त लगावे, वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

जगत को अभी तो सम्यग्दर्शन किसे कहना और सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है, इसकी खबर नहीं और मुनिपना हो गया, नग्नपना ले लिया। मुनिपना बिना मोक्ष नहीं होता।

परन्तु कौन सा मुनिपना? सम्यग्दर्शन में पहले अन्तर आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है। आहाहा! छह द्रव्य और उसके गुण-पर्याय का विचार छोड़कर अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। सम्यग्दर्शन प्रथम चौथे गुणस्थान में, आहाहा! उसका तो ठिकाना नहीं और छह द्रव्य के विचार, गुण और पर्याय की धारा और (उसके विचार करे)। आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य की सब धारा के विचार करता है। अरे! आत्मा में भी द्रव्य, गुण और पर्याय तीन भेद का विचार करता है, वह भी पराधीन है, वह धर्मी नहीं। आहाहा! गजब बात है।

परन्तु त्रिकाल-निरावरण,... प्रभु आत्मा जो अन्दर है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। अन्दर चैतन्यमूर्ति आत्मा जो है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। **नित्यानन्द जिसका लक्षण है...** जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का नित्यानन्द लक्षण है। आहाहा! अन्दर जो भगवान आत्मा नित्य आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है, उस अतीन्द्रिय आनन्द में तो दृष्टि लगाते नहीं और त्रिकाली निरावरण प्रभु में दृष्टि लगाते नहीं और बाहर की क्रिया पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण और द्रव्य-गुण-पर्याय के विचार में चित्त को लगाते हैं, वे पराधीन हैं। उन्हें मुनि नहीं कहते। आहाहा! अन्दर है या नहीं?

नित्यानन्द जिसका लक्षण... प्रभु अन्दर आत्मा वस्तु जो है, वह त्रिकाल निरावरण है, नित्य आनन्द लक्षण है। अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय अमृत से भरपूर है और **ऐसे निजकारण-समयसार...** अपना आत्मा निज कारणसमयसार अर्थात् ध्रुव नित्यानन्द त्रिकाली। परद्रव्य का भी विचार नहीं, अपने में द्रव्य-गुण-पर्याय तीन का भी विचार नहीं, अपनी एक समय की पर्याय की ओर भी लक्ष्य नहीं... आहाहा! त्रिकाल निरावरण नित्यानन्द के ऊपर **समयसार के स्वरूप में...** नित्यानन्द त्रिकाल निरावरण ऐसा अन्दर भगवान आत्मा है। उसमें **लीन सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत...** जो सहज ज्ञान, त्रिकाली ज्ञान, त्रिकाली आनन्द, त्रिकाली शान्ति, त्रिकाली प्रभुता, ऐसे गुण के आधारभूत **निज आत्मतत्त्व...** आहाहा! भगवान के दर्शन करना और भगवान की यात्रा-वात्रा करना, वह सब शुभराग है। वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात! अपना भी तीन प्रकार का भेद करके विचार करना—द्रव्य त्रिकाली, उसके ज्ञानादि गुण और पर्याय ऐसे तीन भेद का विचार करना, वह भी राग है, वह धर्म नहीं। आहाहा! समकित दृष्टि धर्म उसे कहते हैं। प्रथम चौथा गुणस्थान। सम्यक् मुनिपना तो आगे बात है।

त्रिकाल-निरावरण, नित्यानन्द जिसका लक्षण है, ऐसे निजकारण-समयसार के स्वरूप में लीन सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत निज आत्मतत्त्व में कभी भी चित्त नहीं लगाता,... अज्ञानी अपना आनन्दस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर नाथ है, उसमें तो कभी चित्त लगाता नहीं और द्रव्य-गुण-पर्याय में, परद्रव्य में, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि में चित्त लगाता है, तो उसे धर्म नहीं होता। आहाहा! गजब बात है। मानना कठिन पड़ता है। अभी मान्यता का ठिकाना नहीं, वहाँ मुनिपना कहाँ से आया? और मुनिपने बिना मोक्ष नहीं होता। मुनिपना भी समकित बिना नहीं होता और समकित अपने त्रिकाली द्रव्य के आश्रय बिना नहीं होता। वह समकित कोई बाहर के द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करने से या स्वद्रव्य का विचार करने से या परमात्मा की भक्ति, विचार और यात्रा करने से बिल्कुल समकित नहीं होता। आहाहा! वह तो राग है, भक्ति का राग है। आहाहा! है?

शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत... पवित्र गुण और पवित्र पर्याय, आनन्द गुण और आनन्द दशा के आधारभूत आत्मतत्त्व, उसमें कभी चित्त नहीं जोड़ता। आहाहा! उसमें— अन्तर आनन्द में कभी चित्त नहीं जोड़ता। **उसे तपोधन को भी...** वह तपोधन मुनि नग्न दिगम्बर हो तो भी। **उस कारण से ही (अर्थात् पर विकल्पों के वश होने के कारण से ही) अन्यवश कहा गया है।** वह परवश है। धर्म नहीं। आहाहा! वह अधर्म के वश हुआ है। आहाहा! द्रव्य-गुण-पर्याय तीन का विचार करने से और छह द्रव्य का विचार करने से तथा परमात्मा की भक्ति, यात्रा आदि करने से राग होता है, परवश होता है, दुःखी होता है और उसमें धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि होता है। आहाहा! ऐसी बात है।

इस आत्मा के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ, दूसरा पदार्थ चाहे तो भगवान हो और चाहे तो अन्न, पानी, आहार, औषध आदि चीज़ हो... आहाहा! उन पर लक्ष्य रहने से राग उत्पन्न होता है। वह पराधीन है। वह आत्मा पराधीन है, धर्मी नहीं। वह तो पराधीन अधर्म करता है। आहाहा! अपना जो त्रिकाली आनन्दस्वरूप लक्षण भगवान में कभी चित्त नहीं जोड़ता। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' अनन्त बार मुनि हुआ, नग्न दिगम्बर पंच महाव्रतधारी अनन्त बार हुआ। हजारों रानियाँ छोड़कर, करोड़ों रुपयों की आमदनी छोड़कर, दुकान छोड़कर मुनि हुआ परन्तु मिथ्यादृष्टि (रहकर) उस राग की क्रिया में धर्म माननेवाला। आहाहा! वह मुनि तो नहीं, समकिती भी नहीं। ऐसी बात है। जगत से उल्टी है। आहाहा!

अपना आत्मा जो शुद्ध गुण-पर्याय का आधार। आधार, हों! शुद्ध गुण-पर्याय का विचार, ऐसा नहीं। शुद्ध गुण-पर्याय का (आधार)। शुद्ध पवित्र अनन्त गुण और अनन्त पर्याय का आधार जो आत्मा द्रव्य वस्तु एकरूप चीज़, उसमें चित्त नहीं लगाता और उसे छोड़कर अन्यत्र चित्त लगाता है तो उसे अधर्म होता है, धर्म नहीं होता।

मुमुक्षु : वह तो प्रमाण का द्रव्य हुआ। शुद्ध गुण-पर्याय।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। प्रमाण-फ्रमाण का यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो एकरूप वस्तु द्रव्य की दृष्टि निश्चय, वह सम्यक् है।

मुमुक्षु : पर्याय...

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का विचार भी नहीं। अकेला त्रिकाली द्रव्य। कहा नहीं? **शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत निज...** आत्मद्रव्य। पर्याय नहीं। क्या कहा? कठिन बात है, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग कोई अलौकिक है। अभी तो लोगों में गड़बड़ (हो गयी है)। व्रत, तप, भक्ति, पूजा और यात्रा वह धर्म.. धर्म.. धर्म.. धर्म.. धर्म है। (वह तो) राग है, विकार है, वह धर्म नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध गुण-पर्याय नहीं, शुद्ध गुण-पर्याय के आधार आत्मतत्त्व। समझ में आया? आहाहा! **शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत...** एकरूप। **निज आत्मतत्त्व...** भगवान भी नहीं। निज आत्मतत्त्व। अपना अन्तरतत्त्व सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध आनन्द और शुद्ध ज्ञान का गंज / पिण्ड। अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड आत्मा अन्दर है। अतीन्द्रिय आनन्द। विषय का आनन्द, वह तो जहर है। पाँच इन्द्रिय के विषय, उनका जो सुख या कल्पना है, वह तो काला जहर है, काले नाग का जहर है। आहाहा! यहाँ तो शुद्ध गुण और पर्याय, वह नहीं परन्तु शुद्ध गुण-पर्याय का आधार आत्मा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! उसके गुण और पर्याय तथा द्रव्य – तीन का विचार करना, वह पराधीन है, आस्रव है, राग है। यह तो शुद्ध गुण-पर्याय का आधार एकरूप जो वस्तु। आहाहा! ऐसा सुना न हो, इसलिए कठिन पड़ता है। मार्ग तो ऐसा है। अभी तो सब गड़बड़ हो गयी है। सब सम्प्रदाय में यह करना... यह करना... यह करना... व्रत पालना और व्रत पालना, वह धर्म है। व्रत तो आस्रव है, आस्रव वह दुःख है। दुःख, वह धर्म नहीं, अधर्म है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु!

यहाँ तो प्रभु आत्मा एक के अतिरिक्त दूसरे का विचार करना और दूसरे पर लक्ष्य जाना, चाहे तो गिरनार, सम्मेदशिखर और शत्रुंजय तथा चाहे तो तीन लोक के नाथ का समवसरण (होवे), समवसरण में जाकर भगवान की आरती उतारे तो वह सब राग है, धर्म नहीं। अनन्त बार ऐसा किया है। महाविदेहक्षेत्र में तीर्थंकर का कभी विरह नहीं होता। वहाँ अनन्त बार जन्मा है। प्रत्येक जीव ने वहाँ अनन्त बार जन्म लिया है। जन्म लेकर भगवान के समवसरण में भी अनन्त बार गया है। समवसरण में जाकर भगवान की आरती अनन्त बार उतारी है। आहाहा! हीरा-रत्न की थाली, कल्पवृक्ष के फूल (लेकर आरती उतारी है)। आहाहा! वह शुभराग है, धर्म नहीं।

जितना परद्रव्य (का) आश्रय होता है, वह कोई धर्म नहीं है। स्वद्रव्य का आश्रय हो, उसका नाम धर्म है। यह बहुत संक्षिप्त बात है। सुना भी न हो कभी। बाहर की प्रवृत्ति में धर्म मानता है। अभी तो समकित का ठिकाना नहीं (तो) मुनिपना कहाँ से आया? विपरीत प्ररूपणा करता है कि भगवान के दर्शन करने से धर्म होता है, यात्रा करने से धर्म होता है। यह मान्यता मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है। वह जैन नहीं है। उसे जैन की श्रद्धा नहीं है। पण्डितजी! ऐसी बात है, भाई! विजयभाई! समझ में आया? कठिन बात है। आहाहा! पहले कभी यहाँ आये थे? आहाहा!

अरे! यहाँ आचार्य महाराज कुन्दकुन्द आचार्य की टीका करनेवाले पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि। यह मुनि, वे टीका करनेवाले हैं। वे टीका करनेवाले ऐसा कहते हैं कि तेरे द्रव्य-पदार्थ के अतिरिक्त दूसरा कोई भी अरिहन्त, पंच परमेष्ठी का लक्ष्य करेगा तो राग होगा; धर्म नहीं। आहाहा! और पंच महाव्रत धारण करे, वह भी धर्म नहीं और परजीव की मैं दया पाल सकता हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। पर की दया, आत्मा पालन नहीं कर सकता। परद्रव्य है, उसे आत्मा स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। उसके बदले दया पाल सकता हूँ, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है, जैन नहीं। वह तो जैन नहीं परन्तु उसकी दया का भाव आया, वह राग है। वह राग हिंसा है। आत्मा के स्वरूप की हिंसा है। उस हिंसा को धर्म माने, वह भी जैन नहीं, मिथ्यादृष्टि है। कभी सुनी नहीं हो, ऐसी बात है।

यहाँ तो पैंतालीस वर्ष से चलता है। पैंतालीस वर्ष यहाँ हुए। समझ में आया? ४० और ५=४५ वर्ष इस जंगल में हुए। पैंतालीस वर्ष में आये थे और पैंतालीस वर्ष यहाँ हुए।

९१ वर्ष चलते हैं। शरीर को ९१वाँ वर्ष चलता है। ९० और १। ९१ समझते हो? ९१। ९० के ऊपर १। ९० के ऊपर १। पैंतालीस वर्ष यहाँ हुए और पैंतालीस वर्ष में आये थे। यह बात तो पैंतालीस वर्ष से चलती है। तीस लाख पुस्तकें तो प्रकाशित हो गयी है। बाईस लाख यहाँ से और आठ लाख जयपुर से और अब सात लाख मुम्बई से प्रकाशित होगी। बहुत पुस्तकें प्रकाशित होती है, परन्तु पढ़ने के लिये निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा! और पढ़े तो वापस वह परद्रव्य से लाभ होगा, ऐसी मान्यता निकालता है। आहाहा! वह मिथ्यात्व है। साधु हुआ हो तो भी वह मिथ्यादृष्टि है, साधु नहीं। पुण्य महाव्रत में धर्म मनावे, माने तो मिथ्यादृष्टि है क्योंकि महाव्रत, वह आस्रव है और आस्रव, वह राग है; राग है, वह दु:ख है। आहाहा! उसे धर्म मनावे और (उससे) धर्म होता है, (ऐसा माने) वह जैन नहीं; मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! ऐसी बात!

यहाँ यह कहते हैं। आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज़ नहीं। वह तो नहीं। अब आत्मा में भी द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे तीन भेद भी नहीं परन्तु आत्मा जो है, वह शुद्ध गुण त्रिकाली पवित्र गुण अनन्त है और उसकी पर्याय है, उन गुण और पर्याय का आधारभूत तत्त्व एक है। एक उस पर दृष्टि नहीं लगाते, उस पर चित्त नहीं लगाते, उस पर लक्ष्य नहीं करते तो वे मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत... उसमें ऐसा भी आया कि आत्मा की पर्याय का आधार आत्मा है। आत्मा की पर्याय का आधार दूसरी चीज़ नहीं है। आया न? क्या कहा? सम्यग्दर्शन की पर्याय जब उत्पन्न होती है तो अपने त्रिकाल आत्मा के आधार से उत्पन्न होती है। वह सम्यग्दर्शन की पर्याय परद्रव्य के अवलम्बन से कभी उत्पन्न नहीं होती। सम्यग्दर्शन की पर्याय और त्रिकाली गुण, वह पर्याय और गुण पर के आधार से नहीं है। वह पर्याय और गुण पर के आधार से नहीं है। वह पर्याय और गुण अपने आधार से है। आहाहा! है?

शुद्धगुणपर्यायों के आधारभूत... आहाहा! यह तो सिद्धान्त है। यह कोई वार्ता नहीं, कथा-वार्ता नहीं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि है। साक्षात् भगवान महाविदेह में विराजते हैं। उनके पास से आया है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। संवत् ४९। दो हजार वर्ष पहले। कुन्दकुन्दाचार्य नग्न मुनि, यह पुस्तक बनानेवाले

वहाँ गये थे। आठ दिन रहे थे। आठ दिन रहकर भगवान को समवसरण में सुना। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया कि भगवान ऐसा कहते हैं। अभी कहेंगे कि भगवान ऐसा कहते हैं। नीचे आयेगा।

आधारभूत निज आत्मतत्त्व में कभी भी चित्त नहीं लगाता, उसे तपोधन को भी... वह मुनि नग्न हो तो भी **उस कारण से ही (अर्थात् पर विकल्पों के वश होने के कारण से ही) अन्यवश कहा गया है।** परवश है, पराधीन है। आहाहा! अपना त्रिकाली द्रव्य भगवान, एकरूप शुद्ध गुणपर्याय का आधारभूत तत्त्व-द्रव्य, उस पर दृष्टि नहीं करते, उसकी पहिचान नहीं करते, वहाँ चित्त नहीं लगाते, वे सब परवश, पराधीन मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! ऐसी बात है। अब यह कहेंगे कि यह कहता कौन है? यह कहेंगे कि यह वाक्य है किसका?

जिन्होंने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी तिमिरसमूह का नाश किया है... उनका यह वाक्य है। आहाहा! जिन्होंने दर्शनमोहनीय-मिथ्यात्व, चारित्रमोहनीय-राग-द्वेष यह कर्मरूपी तिमिर अर्थात् अज्ञानसमूह का नाश किया है। आहाहा! उन परमात्मा ने यह कहा है। यह किसी की कल्पना की या आचार्य की कल्पना की बात नहीं है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव... आहाहा! सीमन्धरस्वामी केवली भगवान विराजमान हैं, उनकी यह वाणी है। आहाहा! दर्शनमोह का नाश किया हो, चारित्रमोह का नाश किया हो। **और परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न...** वापस वे परमात्मा हुए किस प्रकार? परमात्मा हुए किस प्रकार? कि **परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न...** अपना परमस्वरूप भगवान आत्मा, निर्मलानन्द की भावना - एकाग्रता से उत्पन्न हुए **वीतरागसुखामृत के...** वीतराग के आनन्द के अमृत का पान। वे भगवान केवली वीतराग आनन्द को पीते हैं। आहाहा!

वीतरागसुखामृत के... सुखरूपी अमृत के **पान में जो उन्मुख (तत्पर) हैं...** अन्तर आनन्द के अनुभव में भगवान तत्पर हैं। सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर वाणी कहने में तत्पर हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! वाणी तो जड़ है। जड़ तो जड़ से निकलती है। दिव्यध्वनि भी जड़ से निकलती है। भगवान तो **वीतरागसुखामृत के पान में जो उन्मुख (तत्पर) हैं...** है? आहाहा! इन्द्रिय के विषय दुःख-जहर है। अपना अतीन्द्रिय आनन्द स्वभाव आत्मा उस अतीन्द्रिय आनन्द अमृत वीतरागी सुख, वीतरागी सुख-अमृत के पान में जो तत्पर हैं। **ऐसे श्रमण वास्तव में महाश्रमण हैं;...** ऐसे साधु को वास्तविक साधु कहते हैं।

आहाहा! विजयभाई! समझ में आया? घर में पुस्तकें तो बहुत हैं। यहाँ से वहाँ पुस्तकें तो बहुत आयी है परन्तु धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा! क्या कहा?

यह अपने स्वद्रव्य के अतिरिक्त परमात्मा कहते हैं कि तू मेरे पर लक्ष्य करेगा तो तुझे राग होगा, धर्म नहीं होगा और तुझमें भी तीन भेद डालेगा (अर्थात्) द्रव्य-गुण-पर्याय तीन भेद डालकर विचार करेगा तो राग होगा। ऐसा कौन कहता है?-कि जो **भगवान परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतरागसुखामृत के पान में जो उन्मुख (तत्पर) हैं ऐसे श्रमण वास्तव में महाश्रमण हैं;...** वे साधु, वह साधु है। आहाहा! उन साधु को साधु कहते हैं। वस्त्र रखे और मुनि माने, वह मुनि नहीं है। वस्त्र छोड़कर नग्न हुए, वे भी मुनि नहीं है। अन्तर चीज़ दृष्टि में ली नहीं, आत्मा का अनुभव समकित हुआ नहीं तो वह मुनि नहीं है और समकिती नहीं है। आहाहा!

ऐसे श्रमण वास्तव में महाश्रमण हैं; परम श्रुतकेवली हैं;... यह श्रुतकेवली लिये। केवली नहीं लिये। परम श्रुतकेवली। **वे वास्तव में अन्यवश का ऐसा (उपरोक्तानुसार) स्वरूप कहते हैं।** आहाहा! श्रुतकेवली गौतम गणधर और उनके पश्चात् जो परम्परा से श्रुतकेवली हुए। वहाँ-महाविदेह में भी श्रुतकेवली हैं। परमात्मा के निकट पूर्ण श्रुतकेवली आत्मा के आनन्द में रहनेवाले। ऐसे श्रुतकेवली हैं। **वे वास्तव में अन्यवश का...** परवश का। अन्तर द्रव्य-गुण-पर्याय तीन का विचार करनेवाले परवश का ऐसा स्वरूप कहते हैं। आहाहा! कोई व्यक्ति की बात नहीं है।

महाश्रुतकेवली गणधर भगवान के निकट सीधा सुना है और सीधा आत्मा में से प्राप्त किया है। आत्मा में से आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद। वह स्वाद कैसा होगा? यह दूधपाक का स्वाद, यह शक्कर का स्वाद, धूल का स्वाद, वह स्वाद भी आत्मा नहीं लेता। वह तो जड़ है। उस जड़ पर लक्ष्य करके राग करता है, उस राग का स्वाद लेता है। पर का स्वाद नहीं। आहाहा! रोटी का, दाल-भात का, चूरमे का, लड्डू का, शक्कर का स्वाद कभी भी अज्ञानी आत्मा भी नहीं लेता। उस ओर का लक्ष्य करके 'यह ठीक है' ऐसा राग करता है, उस राग का स्वाद है। आहाहा! श्रमण को रागरहित आत्मा के आनन्द का स्वाद है। परसन्मुख का लक्ष्य छूट गया है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! परमसत्य है। आहाहा! सुनने में कठिन पड़ती है।

अपनी चीज़ है। अपनी चीज़ के अतिरिक्त दूसरी चीज़ भगवान पंच परमेष्ठी का भी विचार करने में रुके तो राग है। (उससे) पुण्यबन्ध होगा, धर्म नहीं होगा। वह तो नहीं होगा परन्तु अपने आत्मा में द्रव्य-वस्तु और गुण-शक्ति, पर्याय-अवस्था, तीन का विचार करेगा तो भी धर्म नहीं होगा। आहाहा! तो भी राग होगा। तीन हुए तो तीन के विचार में राग होगा। धर्म नहीं होगा। समकित नहीं होगा। तीन का विचार करने से समकित नहीं होगा। पंच परमेष्ठी का विचार करने से समकित नहीं होगा। अपने शुद्ध गुण-पर्याय का विचार करने से समकित नहीं होगा। शुद्ध गुण-पर्याय का आधार आत्मा है। उसका अन्दर विचार करने से समकित होगा। आहाहा! ऐसी बात है। दुनिया को कठिन लगे। दुनिया में तो जहाँ हो वहाँ व्रत पालो, व्रत करो, अहिंसा करो, जीव की दया पालन करो, सत्य बोलो, झूठ मत बोलो तो धर्म होगा। धूल भी धर्म नहीं होगा। पंच महाव्रत चुस्त पालन करे, उसके लिये चौका बनाकर आहार ले, तब तो मिथ्यादृष्टि है। चौका बनाकर ले, उसके लिये बनावे और दे तथा साधु मनावे, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि इसके लिये (बनाया हुआ) आहार न ले, चौका बनाकर न ले, निर्दोष ले, अन्दर छह द्रव्य के विचार में रुके, पर विचार में न रुके, तो भी वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, परवश है। आहाहा! क्योंकि राग उत्पन्न होता है।

एक स्वरूप चिदानन्द प्रभु, शुद्ध गुण और शुद्धपर्याय / अवस्था / हालत का धारक जो शुद्ध तत्त्व भगवान है, उस पर चित्त लगाने से सम्यग्दर्शन होता है। धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान वहाँ से होता है। इसके अतिरिक्त एकड़े रहित शून्य है। आहाहा! कितनों ने तो कभी सुना भी नहीं होगा। ऐसी बात अभी चलती नहीं। गड़बड़-गड़बड़। क्रिया करो, यह करो... और यह करो,... यह करो... यह करो... आहाहा!

यह बात कौन कहता है ? कठिन बात ली है न ? कि अपने अतिरिक्त पंच परमेष्ठी का ध्यान भी राग है और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीन का विचार भी राग है। इन तीनों का राग तो धर्म किस प्रकार होगा ? तो कहते हैं, आत्मा जो त्रिकाल शुद्ध गुण-पर्याय का आधार द्रव्य है, उस द्रव्य पर दृष्टि पड़ने से समकित होता है। यह कौन कहते हैं ? महाश्रमण कहते हैं, श्रुतकेवली कहते हैं। आहाहा! है ?

परम श्रुतकेवली हैं;... महाश्रमण हैं। **वे वास्तव में अन्यवश का...** पराधीन जीव का ऐसा स्वरूप कहते हैं। आहाहा! पराधीन है... पराधीन है। अपना नित्यानन्द प्रभु, सहजानन्दस्वरूप प्रभु के अन्दर नहीं जाते और अन्तर का अवलम्बन नहीं लेते और बाहर के क्रियाकाण्ड में सब धर्म मानते हैं, वे पराधीन मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : परम सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : परम सत्य तो यह बात है। भाई! आज माने, कल माने, बाद में माने। यह वस्तु माने बिना इसके जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा। दुनिया की सिफारिश चले या अधिक माननेवाले ऐसे हैं, इसलिए सत्य है। सत्य को ऐसी संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत्य को अधिक माने तो सत्य है और थोड़े माने तो सत्य नहीं, ऐसा नहीं है। सत्य तो सत्य ही है। माननेवाला एक हो तो भी सत्य तो सत्य ही है। आहाहा!

यह सत्य भगवान ने कहा है। अनन्त श्रुतकेवली, त्रिलोकनाथ के निकट सीधा सुना है, ऐसे श्रुतकेवली, गणधर - अनन्त गणधरों ने ऐसा कहा है कि परद्रव्य का ध्यान करेगा तो राग होगा। तुझमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीन का भेद डालकर ध्यान करेगा तो राग होगा। आहाहा! तेरा आत्मा जो अन्दर परमानन्द की मूर्ति प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, अतीन्द्रिय ज्ञान का धाम, अतीन्द्रिय शान्ति का धाम, अतीन्द्रिय शान्ति का सागर-समुद्र प्रभु है। ऐसा जो तत्त्व-चीज़ है, उसमें भेद डाले बिना उस तत्त्व पर दृष्टि देने से समकित होता है। धर्म की पहली सीढ़ी ऐसे होती है। धर्म का पहला सोपान। आहाहा! यह तो पूरे दिन बाहर की क्रिया करे, यह सामायिक की, प्रौषध किये। कहाँ सामायिक थी? समकित बिना सामायिक कैसी? सामायिक में तो समता का लाभ है। समता में वीतराग का लाभ है। वीतराग का लाभ कब होगा? वीतरागी आत्मा में दृष्टि लगाकर एकाग्र होवे तो वीतराग का लाभ होगा। आहाहा! यह तो कुछ भान नहीं होता और आसन बिछाकर सामायिक की, प्रौषध किये, प्रतिक्रमण किये। सब भ्रम है। वह धर्म नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

भगवान! यहाँ तो भगवानरूप से बुलाते हैं। आत्मा तो अन्दर भगवान है। समयसार की ७२वीं गाथा में आत्मा को भगवान कहकर बुलाते हैं। भगवान! तुझमें शुभ-अशुभ भाव होते हैं, वह मलिन दुःख है। वह तेरी चीज़ नहीं, प्रभु! ऐसा कहते हैं। भगवान कहते

हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव / विकल्प उठता है, वह तो राग है, दु:ख है। भगवान! वह तेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा ७२ गाथा में है। समयसार में भगवानरूप से बुलाया है। आचार्यों ने भगवानरूप से बुलाया है। तेरा स्वरूप भगवान है। आहाहा! और तू भगवान होने के योग्य है परन्तु तेरी दृष्टि जहाँ भगवान है, वहाँ नहीं जाती और दूसरों में रहती है। आहाहा! समझ में आया?

टीकाकार ने कैसा कहा कि भाई! ऐसी बात महँगी है, दुर्लभ है, वह हम अकेले नहीं कहते। श्रुतकेवलियों ने कही है। भगवान के निकट सीधे सुननेवाले गणधर। वहाँ महाविदेह में परमात्मा के पास गणधर विराजते हैं। यहाँ भी महावीर (भगवान) के निकट गौतम गणधर थे। वे सब गणधर अनन्त तीर्थंकर के जितने गणधर श्रुतकेवली हैं, उन सबका यह कथन है। आहाहा! उन्होंने यह कहा है। कोई एक व्यक्ति ने कहा है और कल्पना से कहा है, ऐसा कोई सम्प्रदाय बाँधने के लिये कहा है, (ऐसा नहीं है)। वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ के श्रुतकेवली ने कहा है। आहाहा!

इसी प्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(अनुष्टुप्)

आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परिचिन्तया॥

श्लोकार्थ: आत्मकार्य को छोड़कर... आहाहा! शुद्ध चैतन्यगुण और पर्यायों का धारक द्रव्य, उस वस्तु के कार्य को छोड़कर, निज द्रव्य की दृष्टि छोड़ी तो पर्याय का कार्य नहीं हुआ। आत्मकार्य तो पर्याय है, परन्तु आत्मदृष्टि नहीं की तो कार्य नहीं हुआ। **आत्मकार्य को छोड़कर...** तेरा आत्मा का कार्य अर्थात् मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय छोड़कर **दृष्ट तथा अदृष्ट से विरुद्ध ऐसी उस चिन्ता से...** भगवान आदि चीज़ देखने में आती है, नहीं दिखती ऐसी चीज़ धर्मास्ति आदि, ऐसी चिन्ता। उनकी चिन्ता। **(-प्रत्यक्ष तथा परोक्ष से विरुद्ध ऐसे विकल्पों से)...** आहाहा! महा **ब्रह्मनिष्ठ यतियों को...** ब्रह्म अर्थात् आनन्द में लीन होनेवाले यति, मुनि को **क्या प्रयोजन है?** दूसरे का क्या प्रयोजन है? आहाहा! अपने आत्मा के आनन्द का कार्य करना है। मुनि को दूसरे कार्य हैं कहाँ? आहाहा! ऐसा कहा, देखो!

ब्रह्मनिष्ठ यतियों को... ब्रह्म अर्थात् आनन्द। अतीन्द्रिय आनन्द में लीन मुनि हैं, उन्हें **क्या प्रयोजन है ?** दृष्ट और अदृष्ट पदार्थ के विचार में रुकना... आहाहा! क्या कहा? **आत्मकार्य को छोड़कर दृष्ट तथा अदृष्ट से विरुद्ध...** अपने से (अन्य ऐसे) दृष्ट और अदृष्ट पदार्थ, वे विरुद्ध हैं। अपने से पर ऐसे दृष्ट और अदृष्ट की चिन्ता में रुकना, वह विरुद्ध है। है? **आत्मकार्य को छोड़कर...** अपना प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसके आनन्द का कार्य छोड़कर **दृष्ट तथा अदृष्ट से विरुद्ध...** अपने आत्मा से विरुद्ध सब। आहाहा! दिखायी दे, वह चीज़ या अरूपी, न दिखायी दे, वे सभी चीज़ें विरुद्ध हैं। आहाहा!

ऐसी उस चिन्ता से (-प्रत्यक्ष तथा परोक्ष से विरुद्ध ऐसे विकल्पों से) ब्रह्मनिष्ठ यतियों को क्या प्रयोजन है ? आहाहा! अपनी चीज़ आत्मा आनन्दस्वरूप विराजता है। अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार है। अन्तर में आत्मा वीतरागमूर्ति है, वीतरागस्वरूप है, ऐसे वीतरागस्वरूप में लीन होनेवाले ब्रह्मनिष्ठ, उसे दूसरे का क्या काम है? उसे दूसरे से क्या काम है कि मैं उपदेश दूँ तो दुनिया समझे और यह और वह... इसका तुझे क्या काम है? उपदेश वाणी जड़ है और वह समझेगा तो उसकी पर्याय से समझेगा; तेरी भाषा से नहीं समझेगा। आहाहा! गजब काम है। **ब्रह्मनिष्ठ यतियों को क्या प्रयोजन है ?** आहाहा!

श्लोक-२४६

और (इस १४५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(अनुष्टुप्)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति सन्सृतिः।
यथेन्धन-सनाथस्य स्वाहा-नाथस्य वर्धनम्।।२४६।।

(वीरछन्द)

जब तक ईंधन तब तक अग्नि सदा प्रज्ज्वलित रहती है।
जब तक जीवों को चिन्ता है तब तक वे संसारी हैं॥२४६॥

[श्लोकार्थ:] जिस प्रकार ईंधनयुक्त अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है (अर्थात् जब तक ईंधन है, तब तक अग्नि की वृद्धि होती है); उसी प्रकार जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है, तब तक संसार है ॥२४६ ॥

श्लोक -२४६ पर प्रवचन

और (इस १४५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

अब स्वयं पद्मप्रभमलधारिदेव टीका करनेवाले (श्लोक कहते हैं)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति सन्सृतिः ।
यथेन्धन-सनाथस्य स्वाहा-नाथस्य वर्धनम् ।।२४६।।

श्लोकार्थः जिस प्रकार ईंधनयुक्त अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है... ईंधन। अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है, अग्नि वृद्धि पाती है। आहाहा! अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि वृद्धि पाती है। **(अर्थात् जब तक ईंधन है, तब तक अग्नि की वृद्धि होती है),...** आहाहा! **उसी प्रकार जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है...** पर के! **तब तक संसार है**। आहाहा! अपनी चिन्ता या अपने भाव के अतिरिक्त कोई भी विकल्प आवे, वह संसार है। आहाहा!

संसार आत्मा से भिन्न नहीं रहता। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, मकान संसार नहीं है, वह तो पर चीज़ है। परमात्मा संसार तो उसे कहते हैं कि तेरी चीज़ से विरुद्ध तेरी दृष्टि और राग-द्वेष तेरी पर्याय में रहते हैं, वह संसार है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार वह तो परचीज़ है, वह संसार नहीं है। वह तेरा अवगुण है, वह तेरी पर्याय में है। तेरा अवगुण-संसार कहीं बाहर में नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक कहा... आहाहा! कि जब तक अग्नि में लकड़ियाँ पड़ी हों, तब तक अग्नि वृद्धि पाती है; आहाहा! उसी प्रकार जब तक जीव को पर का लक्ष्य रहेगा... आहाहा! जब तक अग्नि में ईंधन है, तब तक अग्नि जलेगी; उसी प्रकार जब तक आत्मा में परद्रव्य की ओर का विकल्प रहेगा... आहाहा! तब तक संसार है। परद्रव्य की ओर का

राग, चाहे तो पंच परमेष्ठी हो, तीन लोक के नाथ के प्रति लक्ष्य जाए तो राग उत्पन्न होगा और राग, वह संसार है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब वह तो परद्रव्य है। वह तो तेरे पास है ही नहीं। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, मकान, वह तो पर में है। तेरे पास तो अपने चैतन्य को भूलकर परद्रव्य में तेरा लक्ष्य जाता है और परद्रव्य के लक्ष्य में यह मेरा है, मेरा है—ऐसी मान्यता उठती है, वह संसार है। तब तक संसार है। जब तक अग्नि में लकड़ी पड़ी है, तब तक अग्नि प्रज्वलित है। उसी प्रकार आत्मा में चैतन्य-चैतन्य अग्नि... जब तक राग आता है, तब तक राग सुलगता है, राग सुलगेगा। आहाहा! चैतन्य प्रभु नहीं सुलगेगा। आहाहा!

अभी ऐसी बात सुनी न हो। अब उसे सुने बिना समझ में किस प्रकार आये? यह चौरासी के अवतार में भटकना, यह दु:खी-दु:खी है। चींटी, कौआ, सूअर, नरक और नारकी के भव अनन्त किये हैं। अनन्त-अनन्त भव किये हैं। यह भव, पहले भव.. भव.. भव.. भव.. अनन्त-अनन्त किये। इस मिथ्यात्व के कारण। निजद्रव्य की दृष्टि छोड़कर परद्रव्य का आश्रय लेकर लाभ माना, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! इस कारण से चार गति में अनन्त भव करता है, भटकता है। आहाहा! पद्मप्रभमलधारिदेव कड़क हैं। दृष्टान्त कैसा कहा!

ईंधनयुक्त अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है... इसी प्रकार आत्मा में अपने स्वभाव को छोड़कर परद्रव्य के विकल्प में रुकेगा तो संसार सुलगेगा। तुझे संसार उत्पन्न होगा। जन्म-मरण में जाना पड़ेगा। आहाहा! ऐसा सुनने को मिले नहीं, वह कब विचार करे? सब करो, व्रत करो, तप करो, अपवास करो, यह करो, बस! यह करो... करो... और करो... महाव्रत ले लो, मुनिपना ले लो, नग्नपना हो जाओ, परन्तु सम्यक्त्व के बिना तेरा नग्नपना द्रव्यलिंग धारण है। आहाहा! आत्मज्ञान के बिना सब चीज़ मिथ्याभ्रान्ति है। आहाहा! २४६ हुआ।

गाथा-१४६

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मल-सहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।।१४६।।

परित्यक्त्वा परभावं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम्।
आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यम्।।१४६।।

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम्। यस्तु निरुपरागनिरञ्जन-स्वभावत्वादौदयिकादिपरभावानां समुदयं परित्यज्य कायकरणवाचामगोचरं सदा निरावरण-त्वान्निर्मलस्वभावं निखिलदुरघवीरवैरिवाहिनीपताकालुण्टाकं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः।

तस्याभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्य निखिलबाह्यक्रियाकाण्डाडम्बरविविधविकल्पमहा-कोलाहलप्रतिपक्षमहानन्दानन्दप्रदनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकपरमावश्यककर्म भवतीति।

जो छोड़कर परभाव ध्यावे शुद्ध निर्मल आत्म रे।
वह आत्मवश है श्रमण, आवश्यक करम होता उसे॥१४६॥

अन्वयार्थ : [परभावं परित्यक्त्वा] जो परभाव को परित्याग कर [निर्मल-स्वभावम्] निर्मल स्वभाववाले [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [सः खलु] वह वास्तव में [आत्मवशः भवति] आत्मवश है [तस्य तु] और उसे [आवश्यम् कर्म] आवश्यक कर्म [भणन्ति] (जिन) कहते हैं।

टीका : यहाँ वास्तव में साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप कहा है।

जो (श्रमण) निरुपराग निरंजन स्वभाववाला होने के कारण औदयिकादि परभावों के समुदाय को परित्याग कर, निज कारणपरमात्मा को—कि जो (कारणपरमात्मा) काया, इन्द्रिय और वाणी को अगोचर है, सदा निरावरण होने से

निर्मल स्वभाववाला है और समस्त [1]दुरघरूपी वीर शत्रुओं की सेना के ध्वज को लूटनेवाला है उसे—ध्याता है, उसी को (-उस श्रमण को ही) आत्मवश कहा गया है। उस अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयात्मक श्रमण को समस्त बाह्यक्रियाकाण्ड-आडम्बर के विविध विकल्पों के महा कोलाहल से प्रतिपक्ष [2]महा-आनन्दानन्दप्रद निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप परमावश्यक-कर्म है।

गाथा -१४६ पर प्रवचन

१४६ (गाथा)

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मल-सहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।।१४६।।

नीचे श्लोक-

जो छोड़कर परभाव ध्यावे शुद्ध निर्मल आत्म रे।
वह आत्मवश है श्रमण, आवश्यक करम होता उसे॥१४६॥

टीका : यहाँ वास्तव में साक्षात् स्ववश... आत्मा के वश। **परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप कहा है।** मुनि तो आत्मा के वश हुए हैं। मुनि, वह पंच महाव्रत और राग की, देह की क्रिया में नहीं है। आहाहा! नग्नपना, वह तो जड़ की क्रिया है। पंच महाव्रत, वह आस्रव-दु:ख की क्रिया है। आहाहा! उसमें मुनि नहीं रहते। आहाहा! कहते हैं कि **यहाँ वास्तव में साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर...** परमजिनयोगीश्वर। आत्मा, आत्मा में लगाना। लगनी लगाकर अन्दर एकाग्र होना। अतीन्द्रिय वीतरागता और अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द में परम उत्कृष्टरूप से लीनता होना, वह मुनिपना है। बाकी तो सब वेशधारी द्रव्यलिंगी है। आहाहा!

जो (श्रमण) निरुपराग निरंजन स्वभाववाला होने के कारण... आहाहा!

---

१. दुरघ=दुष्ट अघ; दुष्ट पाप। (अशुभ तथा शुभ कर्म दोनों दुरघ हैं।)

२. परम आवश्यक कर्म निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप है—कि जो ध्यान महा आनन्द-आनन्द के देनेवाले हैं। यह महा आनन्द-आनन्द विकल्पों के महा कोलाहल से विरुद्ध हैं।

औदयिकादि परभावों के समुदाय को परित्याग कर,... आहाहा! क्या कहते हैं? इससे अधिक लिया। जो मुनि अपना निरुपराग-रागरहित निरंजन स्वभाववाला ऐसा प्रभु, ऐसा होने के कारण औदयिकादि... आहाहा! राग का उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिकभाव। **औदयिकादि परभावों के समुदाय को परित्याग कर,...** आहाहा! दूर गये। परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर, फिर द्रव्य का भेद छोड़ना; अब कहते हैं कि... आहाहा! तेरी पर्याय में जो औदयिकभाव होते हैं, उदय, उपशम, क्षयोपश्मा, क्षायिक, उन्हें भी छोड़कर त्रिकाली तत्त्व की दृष्टि करना। आहाहा! एक समय में त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु सच्चिदानन्द-सत् चिदानन्द आत्मा ध्रुव विराजता है... आहाहा! पर्याय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली का लक्ष्य करना और दृष्टि वहाँ लगाना। वह स्ववश प्राणी है, वह स्वाधीन है और उसे धर्म होता है। पर के वश होता है, उसे धर्म नहीं होता। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१६८, श्लोक-२४७-२४९, गाथा-१४६, शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल १५, दिनांक २८-०६-१९८०

नियमसार, १४६ गाथा। उसकी **टीका : यहाँ वास्तव में साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप कहा है। जो (श्रमण) निरुपराग निरंजन...** आहाहा! अन्दर तत्त्व की बात है न? बाहर से तो कुछ कर नहीं सकता। एक वस्त्र पहनना या ओढ़ना, वह आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! वस्त्र ओढ़ना या पहनना या ऐसा (होता है), वह जड़ की क्रिया आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! अब उससे पार अब यहाँ तो वापस (बात है)। विकल्प है, वह भी आत्मा का कर्तव्य नहीं है। आवश्यक है न? अवश्य कर्तव्य है उसका। क्या?—कि

निरुपराग निरंजन स्वभाववाला होने के कारण... आहाहा! जिसमें जरा भी राग नहीं। शुभ और अशुभराग। क्रिया तो नहीं। यह हिलने की-चलने की, कपड़े पहनने की, ओढ़ने की। यह कपड़ा पहने, तब रहे वैसे रहता होगा? आहाहा! गजब बात, भाई! यह कर नहीं सकता, कहते हैं। वस्त्र को ऐसे पक्का बाँधना तो रहे, वह आत्मा की क्रिया ही नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! यहाँ तो राग की क्रिया भी इसकी नहीं है। जरा राग हो, वह क्रिया इसकी नहीं है। आहाहा! निरुपराग-जिसमें राग ही नहीं। भगवान चैतन्य

ध्रुव नित्यानन्द प्रभु... आहाहा! जिसकी दृष्टि में रागरहित निरुपराग चीज़ दृष्टि में पड़ी है, उसकी यह बात चलती है। वह स्ववश है। बाकी सब परवश है। आहाहा!

निरुपराग निरंजन... जिसमें कोई अंजन नहीं, मैल नहीं। भगवान आत्मतत्त्व निर्मलानन्द प्रभु, जिसमें राग नहीं, मैल नहीं। **निरंजन स्वभाववाला होने के कारण...** आहाहा! वह तो मलिन और मैल और राग के अभाववाला होने के कारण। **औदयिकादि परभावों के समुदाय को परित्याग कर,...** आहाहा! बाहर की क्रिया शरीर की और वस्त्र की और कपड़े की, पीने की और पकाने की तथा खाने की, वह सब क्रिया तो जड़ की है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु है, उसके चार भाव उसमें नहीं हैं। पर्याय में उसके भाव। उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिकभाव चार पर्याय जो है, (वह उसमें नहीं है)। आहाहा! कहाँ जीव को पहुँचना?

निरुपराग निरंजन स्वभाववाला होने के कारण औदयिकादि परभावों के... ये परभाव हैं। आहाहा! (आत्मा) स्वरूप प्रत्यक्ष, स्वभाव से प्रत्यक्ष इसके अतिरिक्त के चार भाव वे परभाव हैं। आहाहा! राग तो परभाव है, शुभराग और अशुभराग, (तो परभाव है) परन्तु उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव भी परभाव है। क्योंकि वह पर्याय है, वह त्रिकाली चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसी कठिन बात है। **औदयिकादि परभावों के...** परभाव। जिसमें क्षायिकभाव नहीं। आहाहा! परमस्वभावभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, उसमें क्षायिकभाव की पर्याय का भी अभाव है। उदय में राग का तो अभाव है, उपशमभाव का तो अभाव है। राग को दबा देना, वह भी आत्मा में नहीं है। आहाहा! तथा राग का क्षय करना, वह भी आत्मा में नहीं है तथा ज्ञानावरणीय आदि का क्षयोपशम करना, और इससे क्षयोपशमभाव होता है, वह आत्मा में नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द का सागर नाथ, जिसे क्षायिकभाव भी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! उसे भी यहाँ परभाव कहा है, तो राग तो परभाव है। शरीर, वाणी, मन, कपड़ा-बपड़ा, धूल, वह सब तो पर है। आहाहा!

जिसे कल्याण करना है, उसे **औदयिकादि परभावों के समुदाय को...** परित्याग करना चाहिए। आहाहा! पर्याय का लक्ष्य छोड़ देना चाहिए, ऐसा कहते हैं। वस्तु द्रव्य और पर्याय दो स्वरूप है परन्तु पर्याय का त्याग करना चाहिए तो दृष्टि द्रव्य पर जाएगी। आहाहा!

बाहर की क्रिया की तो बात ही कहाँ रह गयी। यह टोपी-बोपी ठीक से पहनना और... वह क्रिया आत्मा की है ही नहीं। यह भाव—राग तो (इसका) नहीं परन्तु उपशम, क्षयोपशमभाव भी इसका नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो नियमसार है। आहाहा!

इन **औदयिकादि परभावों के समुदाय को...** समुदाय अर्थात् चार भाव हुए न? उन्हें **परित्याग कर,...** त्याग कर नहीं कहा। परित्याग कर - समस्त प्रकार से उनका लक्ष्य छोड़कर.. आहाहा! अकेला ध्रुव चैतन्य त्रिकाली अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान से सर्वांग पूर्ण भरपूर प्रभु, इसके अतिरिक्त चार भाव का परित्याग—सर्व प्रकार से लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! चार भाव के समुदाय का परित्याग। समुदाय अर्थात् यह समुदाय, हों! वह बाहर का समुदाय, वह नहीं। आहाहा! आत्मद्रव्य में पर्याय के जो चार प्रकार—उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक—इन्हें यहाँ समुदाय कहा है। उस समुदाय को परित्याग कर। आहाहा! **निज कारणपरमात्मा को**—निज कारणपरमात्मा। जो स्वरूप से प्रत्यक्ष है, स्वभाव से प्रत्यक्ष है। स्वरूप प्रत्यक्ष होने के योग्य ही है। आहाहा! **निज कारणपरमात्मा को**—निज कारणपरमात्मा। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भी नहीं। वे भी परद्रव्य हैं। जहाँ चार भाव को परद्रव्य कहा। पहले आ गया है। क्षायिकभाव आत्मा में नहीं है। पहले आ गया है। इस नियमसार में। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव आत्मा में नहीं है। आहाहा! तो यह तुम्हारे हीरा-माणिक कहाँ थे? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि वस्त्र को स्पर्श नहीं करता, इन हीरा-माणिक को स्पर्श नहीं करता, प्रभु! यह बात बैठना... आहाहा! अपनी चीज़ के अतिरिक्त परचीज़ को तो स्पर्श भी नहीं करता, तो फिर वह इसकी क्रिया कर सके, यह बात तो है नहीं, परन्तु इसमें होनेवाले चार भाव, आहाहा! इसकी पर्याय में होनेवाले चार भाव... आहाहा! उन्हें परित्याग कर—समस्त प्रकार से लक्ष्य छोड़कर। आहाहा! यह पर्याय का अर्थात् अवस्था का। चार प्रकार की जो अवस्था है, उसे सर्वथा प्रकार छोड़कर कारणपरमात्मा को, वह कारणपरमात्मा त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु है। आहाहा! अन्तर आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ पूर्णानन्द से भरपूर है।

कि जो (कारणपरमात्मा) काया, इन्द्रिय और वाणी को अगोचर है,... आहाहा! भगवान आत्मा काया की क्रिया से अगम्य है। आहाहा! इन्द्रिय की क्रिया से अगम्य है।

द्रव्य इन्द्रिय और भावेन्द्रिय से भी अगम्य है। आहाहा! जड़ इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय जो क्षयोपशम है, उसका जिसमें अभाव है, उसे और वाणी के अगोचर है, वाणी के अगम्य है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहना कि मोक्ष का कारण सुबोध है। भाई! आता है न? और सुबोध, वह सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र आप्त पुरुष से होता है। इसलिए... आहाहा! धर्मी को धर्मी जीव का, जिससे मिला, उसका उपकार नहीं छोड़ना, ऐसा पहले आया था। पाँचवीं गाथा, पाँचवीं है न?

मुमुक्षु : छठी गाथा सोलहवाँ पृष्ठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : कितना? सोलहवाँ पृष्ठ, ऐसा न? आहाहा!

इष्ट पद की सिद्धि का उपाय सुबोध है... आहाहा! सम्यग्ज्ञान के बिना इष्ट फल प्राप्त नहीं होता। सच्चे ज्ञान के बिना, क्रियाकाण्ड द्वारा कुछ करके नहीं मिलता। उस **इष्ट पद की सिद्धि का उपाय सुबोध है (अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है),...** यह इसका अर्थ किया। **सुबोध सुशास्त्र से होता है,...** वह सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है। **सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है;...** आहाहा! चौथे गुणस्थान में भी आप्त लिया है। दीपचन्दजी ने। अध्यात्म पंच संग्रह में (ऐसा लिया है)। **इसलिए उनके प्रसाद के कारण...** आहाहा! पर के कारण कुछ नहीं होता, तब यहाँ उनके प्रसाद के कारण, ऐसा कहा है। आहाहा! व्यवहार का वाक्य है। सद्भूतव्यवहार का।

उनके प्रसाद के कारण आप्त पुरुष बुधजनों द्वारा... धर्मात्मा आप्त पुरुष है, वह पूजनेयोग्य है। **(अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से...)** यह प्रसाद कहा न? आहाहा! एक ओर कहा कि मुक्ति को किसी की अपेक्षा (नहीं है), क्षायिकभाव की भी नहीं। आहाहा! **(अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूजनीय हैं), क्योंकि किये हुए उपकार को साधु पुरुष (सज्जन) भूलते नहीं हैं।** आहाहा! ऊपर है न? '**न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति।**' आहाहा! एक ओर उपकार कहना और एक ओर कहना कि क्षायिकभाव आत्मा में नहीं है। आहाहा! निमित्त का ज्ञान कराते हैं। व्यवहार है न? व्यवहार व्यवहार से वन्दनीय है न? व्यवहार से व्यवहार वन्दनीय न हो तो भगवान को वन्दन करना, वह भी नहीं रहता। आहाहा! परन्तु निश्चय

में तो अन्तर भगवान कारणपरमात्मा... आहाहा! है न? यहाँ तो यह आया न, उपकार भूलते नहीं। यहाँ आया। १४६ आया न?

निज कारणपरमात्मा को—कि जो (कारणपरमात्मा) काया, इन्द्रिय और वाणी को अगोचर है,... वाणी सुनने से भी अगम्य है और उसमें ऐसा कहा कि वाणी सुनने से सुबोध होता है। किस अपेक्षा से कथन है? आहाहा! **काया, इन्द्रिय और वाणी को अगोचर है,... सदा निरावरण होने से...** अन्तर भगवान आत्मा त्रिकाली द्रव्यस्वभाव निरावरण है। त्रिकाली वस्तु को आवरण नहीं है। आहाहा! जिसमें क्षायिकभाव नहीं तो और आवरण-फावरण कहाँ आया? आहाहा!

सदा निरावरण होने से निर्मल स्वभाववाला है... भगवान आत्मा अन्दर तो निर्मल स्वभाववाला है। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ निर्मल आनन्द और निर्मल शुद्ध से भरपूर भगवान अन्दर है। आहाहा! पर्याय पर दृष्टिवाले को पर्याय से उसकी नजर करनी है, उस निधान की, वह नजर न करे और पर्याय पर नजर और पर्याय से बाहर में नजर जाए तो उसमें वह कुछ दिखता नहीं। आहाहा! **निर्मल स्वभाववाला है और...** वह प्रभु अन्दर... यह आवश्यक की बात चलती है। अवश्य करनेयोग्य यह है। बाकी सब करनेयोग्य बाहर का-फाहर का है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! निश्चय परम आवश्यक है न? अवश्य-जरूरी करने का हो तो यह है। बाकी सब बाहर की बातों में... आहाहा! शून्य लगानेयोग्य है।

टीकाकार ने शास्त्र का लिखान किया और बोले कि भाई! टीका मैंने नहीं की, हों! आहाहा! मैं तो अन्दर ज्ञान में था। वह तो अन्दर बन गयी। मैं तो ज्ञानस्वरूप में गुप्त हूँ। आहाहा! पण्डितजी! टीका हुई न? टीका का अर्थ फिर बाद में किया। शब्द से टीका हो गयी है। मुझसे हुई ही नहीं। मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ। मैं तो ज्ञान में गुप्त हूँ। ज्ञान बाहर निकलता नहीं। ज्ञान राग में आता नहीं, ज्ञान वाणी में आता नहीं। ज्ञान गुप्त है। आहाहा! समझ में आया?

समस्त दुरघरूपी वीर शत्रुओं की सेना के ध्वज को लूटनेवाला है... कैसा है प्रभु अन्दर द्रव्यस्वभाव? दुरघ। पुण्य और पाप दोनों दुरघ। अघ—पाप। शुभ और अशुभ दोनों दुरघ पाप है। आहाहा! योगीन्द्रदेव ने तो कहा न! सवेरे आया था, 'पाप को पाप सब कहे, परन्तु अनुभवी पुण्य को पाप कहे।' शुभभाव विकल्प है, वह पाप है। आहाहा! कैसा है

प्रभु अन्दर ? दुरघ—अघ अर्थात् पुण्य और पापरूपी वीर, महा वीर अनादि से जीतते हैं। उन शत्रुओं की सेना की ध्वजा को लूटनेवाला है। आहाहा! चैतन्यमूर्ति अन्दर भगवान आत्मा शुभ और अशुभ के समूह को लूटनेवाला है। करनेवाला और नाश करनेवाला वह नहीं है। करनेवाला भी नहीं और नाश करनेवाला भी नहीं। आहाहा! ऐसी बात।

उसे जो **ध्याता है,...** ऐसे आत्मा को जो ध्यान में लेकर... आहाहा! उसका जो ध्यान करता है, ऐसा आत्मा जो दुरघ—पुण्य और पाप को लूटनेवाला, चार भावरहित ऐसा जो भगवान आत्मा को जो ध्याता है, **उसी को (-उस श्रमण को ही) आत्मवश कहा गया है।** उसे आवश्यक-अवश्य क्रिया उसने की है। उसे आत्मवश कहा जाता है। आहाहा! यहाँ तो अभी बाहर की क्रिया कुछ... कपड़े पहनना, कपड़े धोना, उसे और यह करना, ऐसा आता है। निशिथ में, निशिथ सूत्र है न ? उसमें। मुनि को इतने कपड़े होते हैं और वह फिर धोना, रंगना नहीं। रंगना नहीं। कपड़ा पानी से धोना। अरे! यह वाणी भगवान की नहीं है, यह वाणी भगवान की नहीं है। आहाहा! वस्त्र का टुकड़ा भी रखे और उसे रंगे तथा पहने, उसे मुनि माने, वह समकिती नहीं है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु चार भाव से रहित, उसका जो ध्यान करता है, वह आत्मवश है। आहाहा! उसे आत्मवश (कहते हैं)। आत्मा चार भावरहित, पुण्य-पाप का लूटनेवाला ऐसा जो द्रव्यस्वभाव, उसके वश हुआ, वह आत्मवश है, वह आत्मा के आधीन है। आहाहा! ऐसी बात। अनजाने व्यक्ति को तो लगता है कि यह क्या है! यह कैसी ऐसी बात! पूरे दिन हम यह सब करते हैं और... आहाहा!

आत्मवश कहा गया है। उस अभेद-अनुपचार... आहाहा! **अभेद-अनुपचार रत्नत्रयात्मक श्रमण को...** उस साधु को क्या है ? अभेद-अनुपचार-रत्नत्रय। अभेद-अनुपचार-रत्नत्रय अर्थात् ? कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अभेद है। वह आत्मा के साथ अभेद है। अभेद अनुपचार है। तीन नहीं, तीनों एक है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आत्मा के साथ अभेद हैं, इसलिए अभेद-अनुपचार रत्नत्रयात्मक, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने में आता है। आहाहा! उसे रत्नत्रय कहने में आता है।

ऐसे **श्रमण को समस्त बाह्यक्रियाकाण्ड-आडम्बर के...** आहाहा! बाह्य क्रियाकाण्ड... आहाहा! उसका जो आडम्बर। उसके **विविध विकल्पों के महा कोलाहल**

से... आहाहा! बाह्य पदार्थ के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले कोलाहल विकल्प। आहाहा! उनके **महा कोलाहल से प्रतिपक्ष...** ऐसे विकल्प से, राग से विरुद्ध। पर की ओर के झुकाववाले विकल्प से पराधीन नहीं। उससे विरुद्ध है। आहाहा! उसे वह विकल्प नहीं होते। आहाहा! **महा-आनन्दानन्द... परम आवश्यक कर्म निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप है—कि जो ध्यान महा आनन्द-आनन्द के देनेवाले हैं। यह महा आनन्द-आनन्द विकल्पों के महा कोलाहल से विरुद्ध हैं।** आहाहा! अतीन्द्रिय जो आनन्द। महा आनन्द का आनन्द अर्थात् त्रिकाली। महा आनन्द का आनन्द... आहाहा!

बाह्यक्रियाकाण्ड-आडम्बर के विविध विकल्पों के महा कोलाहल से प्रतिपक्ष महा-आनन्दानन्दप्रद निश्चयधर्मध्यान... महा आनन्द आनन्दप्रद—देनेवाला त्रिकाली आनन्द आनन्द को देनेवाला। अनुभव में लेनेवाला, अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में लेनेवाला, वह निश्चयधर्मध्यान। इसका नाम सच्चा धर्मध्यान कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? **निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप परमावश्यक-कर्म है।** आहाहा! यहाँ तो पूरे दिन बाहर के क्रियाकाण्ड में रुके और कोलाहल विकल्पों का और उसमें वापस माने धर्म। आहाहा! कि हम धर्म करते हैं। आहाहा! यह तो कहते हैं कि वह निश्चय महा आनन्द आनन्द, कोलाहल से रहित, महा आनन्द आनन्द। महा आनन्द का आनन्द देनेवाला। भगवान आनन्द आनन्दस्वरूप, उसे पर्याय में देनेवाला, निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान उसे कहते हैं। आहाहा! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, उसे धर्मध्यान कहते हैं। आहाहा! बहुत कठिन काम।

अतीन्द्रिय आनन्द जो महा आनन्द-आनन्द है, वह पर्याय में उसका आनन्द आवे, उसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहते हैं। आहाहा! नियमसार, समयसार से भी बहुत कितना ही चढ़ गया है। आहाहा! शीतलप्रसाद ने लिखा है। आहाहा! अत्यन्त निज स्वरूप अखण्डानन्द कारणपरमात्मा। परमाणु को कारणपरमाणु कहा है और आत्मा कारणपरमात्मा, यह शब्द यहाँ है, अन्यत्र नहीं। परमाणु और कारणपरमाणु अन्यत्र नहीं है। नियमसार में है। अभी कारणपरमात्मा और कारणसमयसार, यह समयसार की टीका में है। आहाहा!

उसे यहाँ निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप परमावश्यक। यह उसे परमावश्यक-अवश्य का उसने किया। आवश्यक था, उसे किया। आत्मा में आनन्द

लिया, वह उसने जरूर किया। आहाहा! कहो, ऐसी बात है। अभी यह व्यवहार से होता है... व्यवहार से होता है... इस बात में शून्य पड़ते हैं। व्यवहार करते-करते होगा। व्यवहार साधन है, व्यवहार साधन है। आहाहा! जयसेनाचार्य की टीका में लिखा है। व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। लो! यह तो निमित्त का ज्ञान कराया। आहाहा! यह बात झूठी और यह बात सत्य, ऐसे दो होंगे? स्वयं समयसार कहता है कि भूतार्थ त्रिकाली आनन्द का स्वाद ले, उसे समकित कहते हैं। भूतार्थ त्रिकाली वस्तु। जिसमें चार भाव भी नहीं। आहाहा! भले उसका आनन्द आवे, वह उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिकभाव है, परन्तु वस्तु है, वह उनसे रहित है। उनसे रहित है, उसका ध्यान करने से आनन्द आवे, उसमें उपशमभाव, क्षयोपशमभाव क्षायिक आवे। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसा उपदेश! उसमें कहा है। उसमें कहा न! तत्त्व में प्रवेश कर जा, तत्त्व में गहरा उतर जा, उसमें आता है। पहले है कहीं। है न? तत्त्व में प्रवेश कर। ऐसा आता है। तत्त्व में गहरा उतर जा।

मुमुक्षु : १७ वाँ कलश।

पूज्य गुरुदेवश्री : कितना? १७ वाँ कलश। २७ पृष्ठ। है? क्या है? **शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है—गहरा उतर जाता है।** आहाहा! यह २६ वें पृष्ठ से शुरु होता है। नीचे अन्तिम लाइन। २६वें पृष्ठ पर अन्तिम लाइन। है? **शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है...** तत्त्व में प्रवेश कर जाता है। आहाहा! एक ओर कहते हैं कि तत्त्व को पर्याय स्पर्श नहीं करती। आहाहा! **प्रविष्ट हो जाता है—गहरा उतर जाता है।** तत्त्व में गहरा, पर्याय में न रहकर ऐसे गहरा उतर जाता है। उसके पाताल में जाता है। आहाहा! पर्याय के पाताल में गहरा जाता है। आहाहा! है? **तत्त्व में गहरा उतर जाता है।**

मुमुक्षु : २६-२७ पृष्ठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : २६-२७ पृष्ठ है। २६वें पृष्ठ की अन्तिम आखिरी लाइन। अन्तिम।

शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व... अन्तिम और २७ में पहली। **गहरा उतर जाता है।** और प्रवेश कर जाता है। आहाहा! तत्त्व भगवान आत्मा में प्रवेश कर जाता है, गहरा

उतर जाता है। पर्याय का लक्ष्य न रखकर वहाँ जाता है, ऐसा कहते हैं। पर्याय का-चार भाव का लक्ष्य न रखकर गहरा अर्थात् द्रव्य में जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा के सन्मुख हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर में जा। आत्मा चार भावरहित तत्त्व है, वहाँ जा। आहाहा!

मुमुक्षु : परमपारिणामिकभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परमपारिणामिक। उसमें प्रवेश कर जा, उसमें गहरा उतर जा। गहरा उतर जा। आहा! पाताल-पाताल है। पर्याय का पाताल है। द्रव्य, वह पर्याय का पाताल है। पर्याय को गहरे ले जा, प्रवेश करके गहरे-गहरे ले जा। आहाहा! अरेरे! यह बात थी नहीं। बाहर आयी और विरोध हो पड़ा। किसी को धारणा में भी नहीं थी। सुनी नहीं थी। आहाहा!

निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप परमावश्यक-कर्म है। लो! यह निश्चय कार्य, अवश्य कार्य तो यह है। आवश्यक। अवश्य करनेयोग्य। यह धर्मध्यान और शुक्लध्यान जो आनन्द का आनन्द देनेवाला है, वह करनेयोग्य है। आहाहा! लोगों को कहाँ जाना? पूरे दिन प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... अब उसमें... आहाहा! साधु होवे तो भी प्रवृत्ति। आहाहा! लेखक होवे तो पूरे दिन प्रवृत्ति। विकल्प... विकल्प... विकल्प... विकल्प... पूरे दिन विकल्प सब। अब यहाँ कहते हैं कि बापू! आहाहा! विकल्प का तो पार है परन्तु चार भाव से पार है। क्षायिक और उपशमभाव से भी पार है। आहाहा!

श्लोक-२४७

[अब इस १४६ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज आठ श्लोक कहते हैं:—]

(पृथ्वी)

जयत्यय-मुदार-धीः स्व-वश-योगि-वृन्दारकः,
प्रनष्ट-भव-कारणः प्रहत-पूर्व-कर्मावलिः।

स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां,
सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ।।२४७।।

(वीरछन्द)

जिसकी मति उदार है, जिसने भव कारण को नष्ट किया।
पूर्व कर्म को नाश मुक्ति को भी प्रमोद से प्राप्त किया॥
शुद्ध बोधमय और सदाशिवमय, विवेक द्वारा उत्पन्न।
मुक्ति प्राप्त वह स्ववश श्रेष्ठ मुनि सदा निरन्तर है जयवन्त॥२४७॥

[श्लोकार्थः] उदार जिसकी बुद्धि है, भव का कारण जिसने नष्ट किया है, पूर्व कर्मावलि का जिसने हनन कर दिया है और स्पष्ट उत्कट विवेक द्वारा प्रगट-शुद्धबोधस्वरूप सदाशिवमय सम्पूर्ण मुक्ति को जो प्रमोद से प्राप्त करता है, ऐसा वह स्ववश मुनिश्रेष्ठ जयवन्त है॥२४७॥

श्लोक -२४७ पर प्रवचन

अब इस १४६ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज आठ श्लोक कहते हैं:— आठ श्लोक! देखो! आहाहा!

जयत्यय-मुदार-धीः स्व-वश-योगि-वृन्दारकः,
प्रनष्ट-भव-कारणः प्रहत-पूर्व-कर्मावलिः।
स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां,
सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ।।२४७।।

श्लोकार्थः... आहाहा! **उदार जिसकी बुद्धि है,...** आहाहा! जो विद्यमान वस्तु पर्याय और राग को देखता है, तथापि **उदार जिसकी बुद्धि है,...** उसे छोड़कर अन्दर जाता है। आहाहा! **उदार जिसकी बुद्धि है,...** आहाहा! बाह्य की कोई कीमत उसे नहीं लगती। अन्तर की चीज़ की जिसे कीमत लगती है, वह उदार बुद्धि है, वह उदार बुद्धि है अर्थात्? पर्याय में आता नहीं, तथापि वहाँ देखने में पर्याय में आवे। महा उदार बुद्धि, जिसे अनन्त पारिणामिकभाव अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति ऐसी जिसकी अन्तर में

निर्विकल्प में प्रतीति आयी, वह उदार बुद्धिवाला है। आहाहा! वह उदार बुद्धिवाला है। आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु नहीं स्वीकार करता, राग को नहीं स्वीकार करता, पर्याय को नहीं स्वीकार करता, क्षायिक को नहीं स्वीकार करता, (वह) उदार बुद्धि है। महात्रिकाली वस्तु को स्वीकार करता हुआ उदार बुद्धिवाला है। आहाहा! समझ में आया?

भव का कारण जिसने नष्ट किया है,... आहाहा! भव का कारण मिथ्या भ्रमणा... आहाहा! जिसने नाश किया है। आहाहा! जिसे अन्तर में उतरना है, जिसे बाहर प्रसिद्ध नहीं होना। आहाहा! बाहर प्रसिद्ध होना है, वह बहिरात्मा है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। देखो! **उदार जिसकी बुद्धि है, भव का कारण जिसने नष्ट किया है,...** बाहर के कारण में जिसे रुकना है, वह तो भव है। आहाहा! **भव का कारण जिसने नष्ट किया है, पूर्व कर्मावलि का जिसने हनन कर दिया है...** आहाहा! वर्तमान में है नहीं परन्तु पूर्व में जो है, उसे हनन कर दिया है। आहाहा! राग की धारा पूर्व की पुण्य की धारा भी जिसने नष्ट कर दी है। आहाहा! इसमें कहीं जवाहरात में कुछ नहीं आता। भाई बातचीत करने बैठें, वहाँ यह आता है? मधु और शान्तिभाई इकट्ठे होकर लगावे वह पैसे की। यह तो सबके लिये है न! जिसे जो हो, वहाँ रुकता है। आहाहा! आहाहा!

भव का कारण जिसने नष्ट किया है,... आहाहा! भव का कारण तो राग, शुभराग है। आहाहा! शुभराग, वह संसार है। उसका भी जिसने नाश किया है। आहाहा! **पूर्व कर्मावलि का जिसने हनन कर दिया है और स्पष्ट उत्कट विवेक द्वारा...** क्या कहते हैं? प्रत्यक्ष उत्कृष्ट विवेक द्वारा। बिल्कुल राग और पर्याय से भिन्न अन्दर प्रत्यक्ष, स्वरूप का प्रत्यक्ष वेदन करना। आहाहा! **स्पष्ट उत्कट विवेक द्वारा...** प्रकष्ट उत्कट विवेक द्वारा। उत्कृष्ट में उत्कृष्ट भेदज्ञान द्वारा। कि जिसे कुछ क्षायिकभाव का भी आश्रय नहीं। आहाहा!

ऐसे **उत्कट विवेक (भेदविज्ञान) द्वारा प्रगट-शुद्धबोधस्वरूप...** प्रगट शुद्धबोधस्वरूप अन्दर है। अन्दर प्रगट है। आहाहा! **प्रगट-शुद्धबोधस्वरूप सदाशिवमय...** सदा कल्याणमय वस्तु है। आहाहा! सदा कल्याणमय, कल्याणमय वस्तु है। आहाहा! **सम्पूर्ण मुक्ति को जो प्रमोद से प्राप्त करता है,...** आहाहा! जो सम्पूर्ण सदाशिवमय, सम्पूर्ण मुक्ति को जो प्रमोद से—आनन्द से प्राप्त करता है। आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... करते-करते आनन्द से प्राप्त करता है। **ऐसा वह स्ववश मुनिश्रेष्ठ जयवन्त है।** वर्तते हैं,

कहते हैं। स्वयं मुनि है न? स्वयं मुनि है, जयवन्त वर्तते हैं। आहाहा!

प्रमोद से प्राप्त करता है, ऐसा वह स्ववश मुनि... आहाहा! **श्रेष्ठ जयवन्त (वर्तता) है।** जयवन्त है। आहाहा! यह उसका स्व आवश्यक-आवश्यक का काम उसने किया। जो काम करने का था, वह उसने किया। वह मुनि सर्वोत्कृष्ट है। जिसे मुक्ति लेना है, इसके सिवाय दूसरा कुछ नहीं। आहाहा! बीच में कहीं भी अटकने का जिसे नहीं है, ऐसा जीव... आहाहा!

ऐसा वह स्ववश मुनिश्रेष्ठ जयवन्त है। है, कहते हैं। उस समय स्वयं मुनि है न? आहाहा! यह २४७ (श्लोक पूरा) हुआ।

श्लोक-२४८

(अनुष्टुप्)

प्रध्वस्तपञ्चबाणस्य पञ्चाचाराञ्चिताकृतेः।
अवञ्चक-गुरोर्वाक्यं कारणं मुक्ति-सम्पदः।।२४८।।

(वीरछन्द)

कामदेव के नाशक पञ्चाचार, सुशोभित आकृतिवान।
अहो! अवञ्चक गुरु की वाणी मुक्ति सम्पदा का कारण ॥२४८॥

[श्लोकार्थः] कामदेव का जिन्होंने नाश किया है और (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यात्मक) पंचाचार से सुशोभित जिनकी आकृति है—ऐसे अवंचक (मायाचार रहित) गुरु का वाक्य मुक्तिसम्पदा का कारण है॥२४८॥

श्लोक - २४८ पर प्रवचन

---

२४८ (श्लोक)

प्रध्वस्तपञ्चबाणस्य पञ्चाचाराञ्चिताकृतेः।
अवञ्चक-गुरोर्वाक्यं कारणं मुक्ति-सम्पदः।।२४८।।

श्लोकार्थः आहाहा! **कामदेव का जिन्होंने नाश किया है...** पाँच इन्द्रियों की ओर की विषय की वासना का जिन्होंने नाश किया है। **और (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यात्मक) पंचाचार से सुशोभित...** हैं। आहाहा! पाँच विषय की वासना का नाश किया है और पाँच—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य—ऐसे पंचाचार से सुशोभित हैं। पाँच का नाश किया है और पाँच से सुशोभित हैं। आहाहा! भाई! यह बाहर के किसी साधन से मिले, ऐसा नहीं है। ऐसी चीज़ है। लोगों को कठिन लगती है परन्तु यह सब साधन? यात्रा करना, यह अमुक करना, शास्त्र बनाना, उपदेश दूसरे को देना—सब व्यर्थ? आहाहा! यह सब क्रिया पर की है। यह आत्मा की क्रिया नहीं है। आहाहा!

पंचाचार से सुशोभित जिनकी आकृति है— अर्थात् जिनका स्वरूप है। पंचाचार—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आनन्द आदि से सुशोभित जिनका स्वरूप है। **ऐसे अवंचक (मायाचार रहित)...** आहाहा! **ऐसे अवंचक गुरु का वाक्य मुक्तिसम्पदा का कारण है।** एक ओर इनकार करते हैं कि वाणी कारण नहीं है और यहाँ निमित्तकारण बताते हैं। व्यवहार है न? व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है। आदरणीय नहीं है। व्यवहार है अवश्य न! आहाहा! कहते हैं, ऐसे जो अवंचक—ठग नहीं, मायाचार नहीं। आहाहा! जिसमें अवंचक—ठगपना जरा भी नहीं। मायाचाररहित है। ऐसे **गुरु का वाक्य मुक्तिसम्पदा का कारण है।** वाक्य, देखो यहाँ! एक ओर कहते हैं कि क्षायिकभाव आत्मा में नहीं है तथा एक ओर कहते हैं कि गुरु का वाक्य मुक्ति सम्पदा का कारण है। कहने का हेतु दूसरा है। गुरु उसे कहते हैं कि जो मुक्ति में चार भावरहित तत्त्व का आश्रय करने की बात करे, उसे गुरु कहते हैं। ऐसा बताते हैं। आहाहा! समझ में आया? गुरु का वाक्य ऐसा है। वाक्य ऐसा है कि चार भावरहित प्रभु परमपारिणामिक सहजात्मस्वरूप भगवान... आहाहा! उसका आश्रय का वाक्य उनका होता है, उन्हें गुरु कहते हैं। आहाहा! गजब बात की है।

ऐसे अवंचक (मायाचार रहित) गुरु का वाक्य... आहाहा! घड़ीक में ऐसा भी कहे, इससे होता है और घड़ीक में व्यवहार से होता है, घड़ीक में निमित्त से होता है। आहाहा! ऐसे गुरु का वाक्य... आहाहा! मुक्ति सम्पदा का कारण नहीं है, वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा श्लोक और ऐसी बात! सभा में कितने वर्ष से बाहर नहीं थी, वह बाहर आयी। आहाहा!

ऐसे अवंचक (मायाचार रहित) गुरु का वाक्य... कहने का आशय ऐसा है कि जिन्होंने कामदेव का नाश किया है, जिन्हें पाँच आचार शोभित है–ऐसा जिनका स्वरूप है, वे स्वयं यथार्थ स्वरूप कहेंगे। त्रिकाली द्रव्य का आशय लेने को वे कहेंगे। आहाहा! क्योंकि चारों अनुयोगों का सागर वीतरागता है–वीतराग पर्याय। उस वीतराग पर्याय का आधार आत्मा है। इन चारों ही अनुयोगों का सार द्रव्य का आश्रय है। वे गुरु द्रव्य का आश्रय कहते हैं, इसलिए मुक्तिसम्पदा का कारण है। आहाहा! ऐसी बात है। यह तो गुजराती चलती है।

ऐसे अवंचक... आहाहा! स्वयं भी साधन कर रहे हैं। आहाहा! अन्तर के और उनके वाक्य में भी अन्तर त्रिकाली गुरु भगवान आत्मा का ही आश्रय लेने की बात करते हैं। वही वाक्य मुक्तिसम्पदा का कारण है। जिनकी उपदेश में राग से, निमित्त से, और इससे, उससे लाभ हो, (यह बात आवे), वे गुरु नहीं हैं और वह गुरु का वाक्य नहीं है और वह मुक्ति का कारण भी नहीं है। आहाहा! ऐसा है। बात करते हुए बहुत करते हैं। आहाहा!

गुरु का वाक्य मुक्तिसम्पदा का कारण है। कहीं वचन कारण है? एक तो कहा वाणी / वचन और मन से तो भिन्न है। चार भाव से तो भिन्न है परन्तु यह उपदेशक गुरु ऐसे मिले कि ये चार भाव से रहित आत्मा का आश्रय करने की बात करते हैं। इसलिए उस वाक्य में कहने का आशय स्वद्रव्य का आश्रय करके आवश्यक होता है, वह वास्तविक आवश्यक है। आवश्यक चलता है न? आहाहा! निश्चय आवश्यक उसे कहते हैं कि जो अकेले आत्मा का अवलम्बन कर वीतरागी निर्मल पर्याय प्रगट करे, ऐसा जो वाक्य है, वह गुरु का वाक्य मुक्ति सम्पदा का कारण है और वे ही गुरु यही कहते हैं। गुरु तुझे राग से लाभ होगा और व्यवहार से निश्चय होगा, यह बात नहीं करते। यह बात करे, वह गुरु नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब बात है।

नियमसार। आहाहा! यह नियम है, यह नियम है। नियम है अर्थात् यह सार अर्थात् कि वह तो रागरहित है परन्तु नियम, यह नियम है कि गुरु के वाक्य में द्रव्य का आश्रय लेने का ही आता है। आहाहा! अकेला चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ चार भावरहित है, उसके आश्रय से मुक्ति होती है, ऐसा कहे, वह गुरु का वाक्य है। वह सिद्धान्त का वाक्य है। बाकी सिद्धान्त का वाक्य नहीं। ऐसा इसमें आया या नहीं? आहाहा! २४८ (श्लोक पूरा) हुआ।

श्लोक-२४९

(अनुष्टुप्)

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम्।
निर्वाण-सम्पदं याति यस्तं वन्दे पुनः पुनः।।२४९।।

(वीरछन्द)

जो निर्वाण दशा का कारण-ऐसे श्री जिनशासन को।
जान, लहें निर्वाण सम्पदा बार बार वन्दन उनको॥२४९॥

[श्लोकार्थः] निर्वाण का कारण ऐसा जो जिनेन्द्र का मार्ग, उसे इस प्रकार जानकर जो निर्वाण सम्पदा को प्राप्त करता है, उसे मैं पुनः पुनः वन्दन करता हूँ॥२४९॥

श्लोक - २४९ पर प्रवचन

२४९ (श्लोक)

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम्।
निर्वाण-सम्पदं याति यस्तं वन्दे पुनः पुनः।।२४९।।

श्लोकार्थ : आहाहा! **निर्वाण का कारण ऐसा जो जिनेन्द्र का मार्ग...** आहाहा! इसके अतिरिक्त—जिनेन्द्र मार्ग के अतिरिक्त कोई मार्ग है ही नहीं। क्योंकि अनन्त परद्रव्य, राग और पुण्य-पाप के भाव, चार प्रकार की पर्याय और पर्यायरहित द्रव्य—ऐसी (बात) जिनेन्द्र के अतिरिक्त कहीं नहीं है। आहाहा! जिनेन्द्र मार्ग के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। आहाहा! इसलिए **ऐसा जो जिनेन्द्र का मार्ग उसे इस प्रकार जानकर...** इस प्रकार जानकर। जो कहा, उस प्रकार जानकर। **जो निर्वाण सम्पदा को प्राप्त करता है,...** जो निर्वाण सम्पदा को प्राप्त करता है। आहाहा! अरे! पंचम काल के मुनि हैं। पंचम काल में शिष्य निर्वाण को पाता है! परन्तु अब सुन न! वह एक भव में और उस भव में पाता है। निर्वाण को इस मार्ग से ही प्राप्त करेगा। आहाहा! निर्वाण को प्राप्त करता है।

उसे मैं पुनः पुनः वन्दन करता हूँ। आहाहा! मेरा वन्दन बारम्बार उसके लिये है। आहाहा! सवेरे-शाम प्रतिक्रमण करे, उसमें गुरु का स्मरण करे, उसमें वन्दन उसे (करता है) जो जिनेन्द्र का मार्ग द्रव्य के आश्रय से, विकाररहित निर्विकार उत्पन्न होता है, चार भावरहित, उस मार्ग की बात करे, वे मुनि वन्दनीय है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२५०

(द्रुतविलंबित)

स्ववशयोगि-निकायविशेषक-प्रहतचारुवधूकनकस्पृह।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम्।।२५०।।

(वीरछन्द)

सुन्दर नारी और स्वर्ण की वाञ्छा तुमने नष्ट करी।
अतः योगियों के समूह में श्रेष्ठ स्ववश तुम हे योगी॥
कामदेवरूपी भीलों के शर से घायल चित वाले-
हम जैसों के लिए तुम्हीं हो भव-अरण्य में शरण सही॥२५०॥

[श्लोकार्थः] जिसने सुन्दर स्त्री और सुवर्ण की स्पृहा को नष्ट किया है, ऐसे हे योगीसमूह में श्रेष्ठ स्ववश योगी! तू हमारा—कामदेवरूपी भील के तीर से घायल चित्तवाले का—भवरूपी अरण्य में शरण है॥२५०॥

प्रवचन-१६९, श्लोक-२५०-२५२, रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण १, दिनांक २९-०६-१९८०

नियमसार, २५० कलश है।

स्ववशयोगि-निकायविशेषक-प्रहतचारुवधूकनकस्पृह।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम्।।२५०।।

श्लोकार्थ : जिसने सुन्दर स्त्री और सुवर्ण की स्पृहा को नष्ट किया है... क्या कहते हैं ? जिसने सुन्दर स्त्री और सुन्दर सुवर्ण। जो परवस्तु है, उसे जिसने अन्तर से छोड़ दी तो उससे नीचे की चीज़ों की तो बात क्या करना ? अन्दर में आत्मा का ज्ञान करके, सच्चिदानन्द प्रभु सत् चिदानन्द सत् कायम रहनेवाले, ऐसे आनन्द और ज्ञान का सागर, उसकी दृष्टि-अनुभव करके, जिसने सुन्दर स्त्री और सुन्दर सुवर्ण की स्पृहा छोड़ी है। आहाहा ! तो जिसने यह स्पृहा छोड़ी है तो दूसरी साधारण चीज़ तो छोड़ी है। है ?

जिसने सुन्दर स्त्री और सुवर्ण की स्पृहा... स्पृहा-इच्छा। आहाहा ! सुन्दर आनन्दकन्द प्रभु ! अन्तर में अनन्त काल से आत्मा का ज्ञान नहीं किया। बाकी दूसरा कर-करके मर गया। करोड़पति हुआ, अरबोंपति हुआ, मरकर नरक में, ढोर में-पशु में गया। आहाहा ! आत्मा क्या चीज़ है और उसकी कीमत क्या है और उसके समक्ष दूसरी चीज़ की कीमत नहीं है, ऐसी अन्तर में दृष्टि और अनुभव किया नहीं तो उसे चार गति का परिभ्रमण मिटा नहीं। चार गति का परिभ्रमण करता है।

यह दो ऊँचे नाम दिये, ऐसा क्यों ? सुन्दर स्त्री और सुन्दर सुवर्ण। आहाहा ! तो दूसरी चीज़ की तो बात ही क्या करनी ? कोई चीज़ ही अपनी नहीं है। अपनी चीज़ में तो ज्ञान और आनन्द भरा है। चैतन्य आनन्द और ज्ञान का सागर-समुद्र अन्दर भरा है। उस अपनी चीज़ को छोड़कर दूसरी कोई चीज़ अपनी नहीं है। आहाहा ! ऐसी प्रथम अनुभव-दृष्टि किये बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती। अपना आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है— ऐसी दृष्टि किये बिना और अनुभव किये बिना दूसरी चीज़ छोड़ दे तो भी कल्याण नहीं होता। दूसरी चीज़ अनन्त बार छोड़ी और अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किया, अनन्त बार जैन दिगम्बर साधु हुआ, परन्तु आत्मज्ञान, आत्मा क्या चीज़ है, अन्तर चीज़ में क्या-क्या स्वभाव है और उस स्वभाव की मर्यादा कितनी है, उसका कभी अनुभव किया नहीं।

चिदानन्द भगवान आत्मा ज्ञान का पुंज, आनन्द का सागर, गुण का गोदाम, शक्ति का सागर ऐसा समुद्र भरा समुद्र आत्मा है। अरे रे ! कहाँ खोजने जाना ? इसकी नजर में जब तक पर के प्रति महिमा रहेगी, तब तक अपने स्वभाव में इसका झुकाव नहीं होगा, ऐसा कहते हैं। जब तक अपने अतिरिक्त दूसरी चीज़ में विशेषता, अधिकता, विस्मयता, मिठास पर में रहेगी, तब तक आत्मा की मिठास और आत्मा का ज्ञान नहीं होता और

आत्मा का ज्ञान नहीं होता तो चार गति में भटकता है। आहाहा! किसे पड़ी है ? उसमें करोड़ों रुपये के अरबों रुपये हो जाए। हो गया, मर गया उसमें। आहाहा!

वहाँ गये न ? नैरोबी में। नैरोबी में साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। साढ़े चार सौ! अब उन्हें धर्म की यह बात (कहना)! आहाहा! किसे धर्म कहाँ है ? यह शरीर, वाणी, स्त्री, पुत्र संभालने का। आत्मा का मरण किया है। जो (अपनी) चीज़ है, उसका निषेध करके, जो चीज़ अपनी नहीं, उसका स्वीकार किया है। अपनी चीज़ का नकार किया तो मरण किया। आहाहा! आत्मा का तो मरण कर डाला।

यहाँ यह कहते हैं, **जिसने सुन्दर स्त्री और सुवर्ण की स्पृहा...** स्पृहा, हों! चीज़ तो ठीक। चीज़ तो छूटी हुई ही है, परन्तु उसकी स्पृहा, भावना जिसने छोड़ी है। **ऐसे हे योगीसमूह में श्रेष्ठ...** योगी समूह में। योगी अर्थात् आत्मा। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में योग जोड़ना, वह योगी है। बाकी यह योगी बाबा नाम धराते हैं, वे योगी-फोगी हैं नहीं। अन्तर आनन्दस्वरूप में आत्मा को जोड़ना, वह योगी है। पुण्य और पाप का क्रियाकाण्ड, दया, दान, व्रतादि क्रियाकाण्ड, वह तो राग है। वह कोई धर्म नहीं है और वह कोई जन्म-मरण का अन्त लानेवाली चीज़ नहीं है। आहाहा! एक तो जवान शरीर हो, उसमें पाँच-पचास करोड़, लाख मिले हों, उसमें स्त्री अनुकूल हो, लड़के दो-चार अच्छे हुए हों, उसमें घुस गया। उसमें मर गया। मानों मैं तो... आहाहा! यह सब चीज़। यह चीज़ तेरी स्वप्न में नहीं है। उस चीज़ को जागृत में अपनी मानी। आहाहा! परन्तु अपनी चीज़ की जिसने सँभाल नहीं की।

कहते हैं **हे योगीसमूह में श्रेष्ठ स्ववश योगी!** तूने तो आत्मा को स्ववश किया। आत्मा में स्ववश—स्व के आधीन हुआ। परपदार्थ की सब आधीनता छोड़ दी। आहाहा! **हे योगी! तू हमारा—कामदेवरूपी भील के तीर से घायल...** आहाहा! किसी-किसी समय पाँच इन्द्रिय के विषयों में कोई जरा राग आवे तो घायल हो जाए। जैसे शरीर में छुरी का घाव मारे, छुरा-छुरा। वैसे राग और द्वेष करता है तो आत्मा के शरीर में चोट पड़ती है। ... निज स्वभाव में जाना पड़ेगा। समझ में आया ? आहाहा! यह २५०।

तू हमारा—हे योगी! तूने जो आत्मा को वश किया और पर का वशपना छोड़ दिया, **कामदेवरूपी भील के तीर से...** कामदेव की चोट लगती है। आहाहा! आचार्य तो यहाँ

तक कहते हैं कि अरे रे! मैंने अनन्त भव किये। आज से पहले अनन्त-अनन्त काल... मैं तो आत्मा हूँ। अनन्त भव किये। उन भवों को मैं याद करता हूँ और उन भव के दुःखों को मैं याद करता हूँ तो चोट लगती है। आहाहा! इसी पहले के भव का स्मरण करता हूँ कि यह भव किया... यह भव किया... यह भव किया... अनन्त-अनन्त भव किये। आत्मा तो नित्यानन्द अनादि-अनन्त है, उसकी कोई उत्पत्ति नहीं और नाश नहीं होता। आत्मा तो अनादि का है, तो उसमें वह रहा कहाँ? वह भवभ्रमण में रहा, तो कहते हैं कि उस भवभ्रमण को याद करता हूँ तो चोट लगती है। आहाहा! किसी समय में तो करोड़पति सेठ हुआ तो भी चोट लगती है। वह करोड़पति और धूलपति... आहाहा! उस धूल का धनी है। आत्मा का धनी नहीं। आहाहा! वह चार गति में भटकनेवाला है।

जिसे काम, स्त्री और सोना इनकी गहरे स्पृहा रही, वह चार गति में भटकनेवाला है। वह पशु और ढोर में, गाय और भैंस में जन्म लेगा। आहाहा! देह तो छूटेगी, देह की तो अवधि है। आत्मा का नाश नहीं होगा, तो देह छूटकर आत्मा जाएगा कहाँ? कहीं रहेगा तो अवश्य। यह सब पाप के भाव किये होंगे तो उस प्रमाण के फल में पशु में या ढोर में अथवा नरक में (जाएगा)। आहाहा! उस गत भव को याद करते हैं, मुनि कहते हैं... आहाहा! कहाँ रहा? किस-किस भव में कितना दुःख सहन किया! अरे रे! मैं तो अनन्त काल से परिभ्रमण में दुःखी हुआ। उस दुःख को याद करने पर चोट लगती है। आहाहा! यह विचार करने का अवकाश भी कहाँ है? मैं अभी तक कहाँ रहा? कितने भव किये? उसमें दुःखी कहाँ हुआ? किस प्रकार दुःखी हुआ? यह विचार करने का अवकाश कहाँ है? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, हे योगी! जिसने काम, स्त्री और सोना आदि की स्पृहा छोड़कर भगवान आत्मा का आश्रय लिया, वही स्ववश योगी है। वह परवश नहीं है। हे **स्ववश योगी! तू हमारा—कामदेवरूपी भील के तीर से घायल चित्तवाले का—भवरूपी अरण्य में शरण है।** अर्थात् कि उसे छोड़कर आत्मा में जाना, वह शरण है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह २५०, २५१। उसमें कहा न, भवरूपी अरण्य में शरण है। भवरूपी अरण्य – अरण्य-वन। आहाहा! चौरासी लाख के अवतार, एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये। चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त अवतार! यहाँ कोई पाँच-पचास लाख मिले और कोई शरीर ठीक मिला, वहाँ तो मानो ओहोहो! हम क्या हैं और हमारे क्या हो गया!

यहाँ कहते हैं हे योगी! जिसने आत्मा को वश किया, वही हमारा शरण है। दूसरा कोई शरण नहीं है। आहाहा! अरिहंता शरणम्, सिद्धा शरणम्... यह आता है परन्तु इस आत्मा को वश किया, वह शरण है। अपने आत्मा को वश करना, वह शरण है। आहाहा!

श्लोक-२५१

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं तनुविशोषणमेव न चापरम्।
तव पदाम्बुरुहद्वयचिन्तया स्ववश जन्म सदा सफलं मम।।२५१।।

(वीरछन्द)

अनशनादि तप का फल केवल इस शरीर का है शोषण।
अहो! स्ववश मुनि चरण-युगल के चिन्तन से मम जन्म सफल॥२५१॥

[श्लोकार्थः] अनशनादि तपश्चरणों का फल शरीर का शोषण (-सूखना) ही है, दूसरा नहीं है। (परन्तु) हे स्ववश! (हे आत्मवश मुनि!) तेरे चरणकमल-युगल के चिन्तन से मेरा जन्म सदा सफल है॥२५१॥

श्लोक - २५१ पर प्रवचन

२५१ (श्लोक)

अनशनादितपश्चरणैः फलं तनुविशोषणमेव न चापरम्।
तव पदाम्बुरुहद्वयचिन्तया स्ववश जन्म सदा सफलं मम।।२५१।।

अरे रे! अनशन किये, आहार छोड़ा, दो-चार-छह महीने तक आहार नहीं लिया, पानी नहीं लिया, शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया। वह शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, वह कोई धर्म नहीं है, वह तो शुभभाव है। जड़ शरीर का काम नहीं हुआ परन्तु आत्मा में ब्रह्म अर्थात् आनन्द में आया नहीं। ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मा आनन्द। उस

आनन्द में चरना, रमना हुआ नहीं, तब तक ब्रह्मचर्य भी नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं अनशन किये, ऊनोदर किया, रसत्याग किया, वैयावृत्त्य किया, उपवासादि किये, अनशन, ऊनोदर, रसपरित्याग, कायक्लेश। कायक्लेश किया। शरीर को ऐसे कायोत्सर्ग में रहना, हिलना नहीं, चलना नहीं। और विनय भी किया, स्वाध्याय किया। अशुभभाव छोड़कर शुभ का ध्यान भी किया परन्तु वह तपश्चरणादि... आहाहा! उसका फल शरीर का शोषण है। आहाहा! वह अनशन, ऊनोदर, भक्ति, पूजा और भक्ति-वन्दन... आहाहा! रस का त्याग, वह सब शरीर का शोषण है। आत्मा में नुकसान है, आत्मा को लाभ नहीं। कठिन बात है, भगवान।

अरे! किसने विचार किया? निमित्त आया तो यह देह जड़ पड़ जाएगी। आहाहा! देखो न! वह लड़की बेचारी गिरकर मर गयी। यह स्थिति ही इतनी थी। उसकी अवधि इतनी उस समय में उस अनुसार होना था। ऐसे यह शरीर छोड़ने की अवधि जिस समय है, वह समय आनेवाला है। जितने-जितने दिन और महीने जाते हैं, उतना-उतना मृत्यु के समीप जाता है। आहाहा! क्या किया और मैं क्या करूँगा? इसका विचार भी नहीं करता।

यहाँ कहते हैं कि **अनशनादि...** किये। बारह प्रकार के तप किये। उसका **फल शरीर का शोषण (-सूखना) ही है,...** आत्मा को कुछ लाभ नहीं। आहाहा! है? भाई! अन्दर है? आहार का त्याग, अनशन का त्याग, रस का त्याग, वह शरीर का शोषण है। उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं। आहाहा! यहाँ तो जरा दो रस त्याग करे वहाँ तो... आहाहा! हमें गन्ने का रस चलता नहीं। आम का रस चलता नहीं, मेरे त्याग है। उसमें - धूल में क्या है? आत्मा का रस आये बिना, अतीन्द्रिय आनन्द का रस आये बिना पर के त्याग का रस, वह शरीर का शोषण है। आत्मा को किंचित् लाभ नहीं है। आहाहा!

अनशन, ऊनोदर। दो ग्रास लेना, बाद में नहीं, ऐसा भी अनन्त बार किया। अनशन-अपवास किये, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रायश्चित्त लिया। पाप किया तो प्रायश्चित्त लिया। देव-गुरु-शास्त्र का विनय किया। आहाहा! शास्त्र की सज्झाय की। सज्झाय, विनय, वैयावृत्त्य, वैयावृत्त्य, सज्झाय, ध्यान। मैंने शुभ का ध्यान किया। शुभ का, हों! शुद्ध का नहीं। अशुभ छोड़कर शुभ में रहा, वह ध्यान। आहाहा! कायोत्सर्ग किया। काया छोड़कर अन्दर विचार में रहा परन्तु अन्तर में आत्मज्ञान नहीं किया। अन्तर में भगवान

सच्चिदानन्द प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द सर्वांग भरपूर भरा है, जिसमें अतीन्द्रिय ज्ञान भरपूर पड़ा है, उस ओर दृष्टि नहीं की तो यह अनशन और यह सब शरीर का शोषण है। उसमें कहीं आत्मा को लाभ नहीं परन्तु नुकसान है। आहाहा! यहाँ तो (बाहर में ऐसा कहते हैं), अपवास करो और यह करो और यह करो, रस छोड़ो। दुनिया से उल्टा है, भाई!

एक तो एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ नहीं कर सकता, यह बात जँचती नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का (कुछ नहीं करता), क्योंकि दूसरा भी पदार्थ है और पदार्थ है तो अपने परिणामसहित पदार्थ है, तो परिणामसहित पदार्थ है तो वह दूसरे पदार्थ का करे क्या? आहाहा! शरीर भी परिणाम से परिणमता है। उसमें आत्मा क्या करे? आहाहा! परपदार्थ परिणाम पर्याय से परिणमता है। उसमें दूसरा पदार्थ-आत्मा कुछ नहीं कर सकता। परन्तु अनशन, ऊनोदर आदि किये, उसका भी कुछ फल नहीं। आहाहा!

अरे! देह तो छूटेगी। देह तो उसकी अवधि है, उसमें कोई फेरफार इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र से भी फेरफार नहीं होता। जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में, जिस जगह देह छूटेगी वह छूटेगी। आगे-पीछे नहीं। वह लड़की जहाँ से गिरी थी, वह स्थिति ही ऐसी थी। अकस्मात् कुछ नहीं है। आहाहा! वही स्थिति देह छूटने की थी। आहाहा! यहाँ अभी नहीं तीन-चार-पाँच दिन पहले? भाईलालभाई, यहाँ बैठे थे। अब यहाँ जाते थे। चलते थे। वहाँ कुर्सी पर बैठे थे। बैठे वहाँ ऐसा (हो गया)। मेरी नजर ऐसे गयी। ऐसा हो गया। कहा, यह हुआ क्या भाईलालभाई को? हार्ट अटैक आया। हार्ट का अटैक आया। आहाहा! यहाँ कुर्सी पर बैठे थे। उनके दामाद आये थे तो उनसे मिलने यहाँ से गये। वहाँ से आकर यहाँ बैठे। बैठने के बाद एकदम अटैक आया। आहाहा! हार्ट का अटैक-हमला, हार्टफेल। हार्टफेल हो गया। बाहर ले गये। देह छूट गयी। आहाहा! नरेन्द्र, इन्द्र, जिनेन्द्र क्या करे? जिस समय में जिस पदार्थ की जो अवस्था पर्याय होनेवाली है, वह होती है और होती है, उसमें कोई दूसरा कर सके या रोक सके, ऐसा है नहीं।

यहाँ कहते हैं कि अनशनादि क्रिया... आहाहा! उसका फल तो शरीर का शोषण है, दूसरा नहीं। आहार छोड़े, अनशन करने से आत्मा को लाभ हो, तेरे जन्म-मरण घटें, ऐसा तीन काल में नहीं है। वह तो सब लंघन है। लंघन-लंघन। आहाहा! आत्मा के आनन्दस्वरूप के अनुभव बिना सब लंघन है। आहाहा! ऐसा है, प्रभु! तेरी प्रभुता बहुत है,

प्रभुनाथ! अन्दर में प्रभुता अनन्त है परन्तु वह प्रभुता कभी सुनी नहीं, उस प्रभुता की ओर नजर नहीं की और जो उसमें है नहीं, उसकी कीमत और उसकी महत्ता और प्रभुता दी। अपने अतिरिक्त परचीज़ को महत्ता दी। पैसे को महत्ता दी, दो-पाँच करोड़ रुपये हो गये और उसमें... आहाहा! हम मानो बड़े सेठ हो गये। सेठिया हो गये हेठिया। नीचे उतर गया है। नीचे चला जाएगा, इसकी खबर नहीं। आहाहा! पैसा तो बहुत है। कहा न?

हम अभी नैरोबी गये थे न, २६ दिन रहे। अफ्रीका गये थे। वहाँ साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। साढ़े चार सौ करोड़पति और पन्द्रह अरबपति। परन्तु सब भिखारी। आहाहा! पर को माँगे, यह लाओ... यह लाओ... सब भिखारी हैं। भगवान (उसे) भिखारी, वरांका कहते हैं। अपनी लक्ष्मी को छोड़कर, अपने में आनन्द और ज्ञान-शान्ति है, उस लक्ष्मी को छोड़कर परलक्ष्मी की स्पृहा करता है, वह भिखारी है। भिखारी है, भिखारी। दुनिया उसे बड़ा सेठ कहती है। बड़ा सेठ और अमलदार और अधिकारी... पाँच-दस हजार वेतन, पन्द्रह हजार का वेतन हो तो (मानो क्या हो गया)। आहाहा!

अपनी चीज़ आनन्दकन्द प्रभु के अतिरिक्त दूसरी किसी भी चीज़ की स्पृहा होना, माँगना, वह भिखारी है। शास्त्र में वरांका शब्द है। वह भिखारी-भिखारी है। अरबपति, वह भिखारी है। अरब तो पैसा जड़ है, धूल है। वह तेरे हैं नहीं। तेरे पास लक्ष्मी है, उसकी तो तुझे खबर नहीं। आहाहा! अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय वीर्य, अतीन्द्रिय शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... पूर्ण अतीन्द्रिय अनन्त शान्ति का भण्डार भगवान है। कषाय का अभाव है, शान्ति का सागर आत्मा है। उसकी तो कीमत और महिमा कभी की नहीं। उसकी महिमा कभी की नहीं और पर को महिमा दी। आहाहा! जहाँ पाँच हजार का, दस हजार का, पन्द्रह हजार का वेतन हो, वहाँ मानो बड़े हो गये। धूल के बड़े हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **अनशनादि तपश्चरणों का फल शरीर का शोषण (-सूखना) ही है, दूसरा नहीं है। (परन्तु) हे स्ववश!..** आहाहा! परन्तु भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सर्वांग सागर भरा है। उस ओर नजर करके उसके वश होता है। हे स्ववश! आहाहा! हे आत्मवश मुनि! वह आत्मवश, स्ववश है। बाहर में भिखारी हो, (खाने को) ग्रास नहीं मिले, रहने का मकान न हो, झोंपड़ा भले न हो, शरीर एकदम काला हो, शरीर

में रोग हो परन्तु अन्दर यदि आत्मा का भान हुआ है तो आत्मवश है-स्ववश है, परवश नहीं। आहाहा!

कहते हैं, **हे स्ववश! (हे आत्मवश मुनि!) तेरे चरणकमल-युगल के...** आहाहा! मुनिराज अपनी बात करते हैं। हे मुनि स्ववश! तेरे चरणकमल की सेवा से मैं आत्मवश हुआ हूँ। मैं आत्मवश हुआ हूँ। आहाहा! स्ववश हुआ हूँ। है ? **चरणकमल-युगल के चिन्तन से मेरा जन्म सदा सफल है।** ओहोहो! पंचम काल के मुनि हजार वर्ष पहले (यह बात कहते हैं)। भगवान की अस्ति नहीं। परमात्मा विराजते हैं-महाविदेह में भगवान विराजते हैं। यहाँ ये मुनि अपना अनुभव करके, आनन्द का अनुभव करते-करते (कहते हैं), हे आत्मा! आहाहा! मेरा जन्म सदा सफल हुआ। मैंने मेरे आत्मा को वश किया तो मेरा जन्म सफल हुआ। आहाहा! पैसा-बैसा इकट्ठा किया, इज्जत बड़ी हुई, एल.एल.बी. और एम.ए. का पुछल्ला लगा दिया। इस वकील को एल.एल.बी. का पुछल्ला होता है। डॉक्टर को एम.ए. हो, उसमें क्या है ? सब भिखारी हैं। आहाहा! अपने अन्दर जो चीज़ पड़ी है, वह कोई करोड़ों-अरबों कीमत देने से नहीं मिलती। बाहर की चीज़ तो साधारण (पुण्य से) मिलती है। आहाहा! अपनी चीज़ तो अरबों रुपयों से भी नहीं मिलती परन्तु अन्तर में ध्यान और एकाग्रता से मिलती है। आहाहा!

हे स्ववश! ऐसा आत्मा जिसने वश किया... आहाहा! **मेरा जन्म सदा सफल है।** आहाहा! पंचम काल के प्राणी कहते हैं। आहाहा! अन्तर में आनन्द का अनुभव हुआ। राग और द्वेष के विकल्प से पार जन्म-मरण करने के भाव का अभाव हुआ और जिसमें जन्म-मरण का भाव नहीं, ऐसे आनन्द का अनुभव हुआ तो जन्म सफल हुआ। बाकी जन्म अफल है। आहाहा! चक्रवर्ती का पद मिले तो भी जन्म अफल है। ब्रह्मदत्त, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। छियानवें हजार स्त्रियाँ... आहाहा! छियानवें करोड़ सैनिक (थे), मरकर सातवें नरक में गया। नीचे तैंतीस सागर। गजब, प्रभु! उस दुःख का वर्णन परमात्मा करते हैं। नरक के दुःख का वर्णन प्रभु करते हैं। आहाहा! करोड़ों भव में और करोड़ों जीभों से न कहा जा सके, ऐसा दुःख नरक में है। वहाँ अनन्त बार गया और अभी अनन्त बार जाएगा, जब तक आत्मध्यान नहीं करे। आत्मवश सम्यग्दर्शन। दूसरी वस्तु बाद में। सम्यग्दर्शन बिना चारित्र-वारित्र नहीं होता, मुनिपना नहीं होता। आहाहा! मुनिपने बिना मुक्ति नहीं

होती। मुनिपने बिना मुक्ति नहीं होती और मुनिपना सम्यक्त्व के बिना नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? अलग प्रकार है, भाई!

बाहर में सफाई (रखे)। यह कपड़े पहने और यह हो और कपड़े ऐसे करे। अभी तो रखते हैं... क्या कहलाता है वह? कंघा? वह ऐसे सवेरे उठकर (बाल सँवारे)। पहले ऐसा नहीं था। पचास वर्ष पहले यह नहीं था। अब यह कंघा रखते हैं। उसे रास्ते में भी ऐसे-ऐसे करते हैं। आहाहा! प्रभु! क्या करता है? यह किसकी सम्हाल करता है? सम्हाल करता है, परन्तु वह तेरी चीज़ रहेगी? आहाहा! वह बाल है, उसे हाथ स्पर्श नहीं करता। हाथ भी बाल को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! बाल निकलते हैं, वह भी उनकी पर्याय की योग्यता से बाहर निकलते हैं। उसमें भी मानना कि मैं बाल निकालता हूँ, मैं लोंच करता हूँ। आहाहा! लोग इकट्ठे हों, ऐसा कहते हैं। क्या है? काया कष्ट है। आहाहा! अपना आत्मा राग के विकल्प और शरीर की क्रिया से अत्यन्त भिन्न है। ऐसे भिन्न आत्मा के ज्ञान और भान बिना जन्म सफल नहीं होगा। यह कहा न?

मेरा जन्म सदा सफल है। हे मुनिराज! आपने कृपा करके उपदेश दिया। उपदेश दिया, उसका उपकार मानते हैं। आहाहा! है? **(हे आत्मवश मुनि!) तेरे चरणकमल-युगल के चिन्तन से...** अर्थात् अन्दर आत्मा के चिन्तन से **मेरा जन्म सदा सफल है।** आहाहा! अब मुझे एक-दो भव हो तो हो, हम तो मोक्ष में जाएँगे। आहाहा! हमारे संसार का अन्त है। ऐसी अन्तर की दृष्टि का अनुभव हो, तब आत्मा में ऐसा विश्वास हो जाता है कि मैं तो एक-दो भव में पूर्ण हो जाऊँगा। मेरी मुक्ति है। मेरी मुक्ति तो है परन्तु हे भगवान आत्माओं! ऐसा कहते हैं, तुम सब भी आठ कर्मों का नाश करके परमात्मा हो जाओ न, नाथ! इसमें क्या है?

द्रव्यसंग्रह में कहा। द्रव्यसंग्रह है न? उसमें ऐसा लिया है। अवायवीचार में। अवायवीचार में आहाहा! धर्मी ने अपने संसार का अन्त किया है तो विचार करता है कि मैं तो एक-दो भव में आठ कर्म से रहित हो जाऊँगा परन्तु मैं तो ऐसा विचार करता हूँ कि सब प्राणी, सब जीव... आहाहा! अपनी शरण लेकर आठ कर्म का नाश कर दो, नाथ! इसके बिना तुम्हें सुख नहीं मिलेगा। दुनिया के दुःख की वेदना सहन करना कठिन पड़ेगी, प्रभु! आहाहा!

एक महिला थी। कहा नहीं? अठारह वर्ष की जवान महिला थी। दो वर्ष का विवाह। उसके पति की दूसरी थी। इसमें उसे शीतला निकली। शीतला को क्या कहते हैं? शीतला। छिद्र-छिद्र में जीव, कीड़े पड़ गये। छिद्र-छिद्र में कीड़े पड़े। अभी हमने देखा। लाठी में है। फिर अठारह वर्ष की उम्र। गद्दे में सो रही थी। ऐसे घूमे तो जीव-कीड़े निकलें, ऐसे घूमे तो ऐसे निकले। ऐसा बोली, माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में किये नहीं। मुझसे सहन नहीं होता। ऐसा बोली। वहाँ लाठी में है। अभी बना है। अठारह वर्ष की लड़की थी। दो वर्ष का विवाह। आहाहा! ऐसे कीड़े। दाने-दाने में कीड़े, ईयल। ईयल कहते हैं न? आहाहा! ऐसे जहाँ गद्दे में घूमे (करवट ले) वहाँ कीड़े गिरें और ऐसे घूमे तो ऐसे पड़ें। अन्दर सहन हो नहीं। पूरे शरीर में अन्दर कीड़े भटका भरे। ओहोहो! ऐसा वेदन प्रत्येक प्राणी ने अनन्त बार किया है। भूल गया है। अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... वहाँ आदि नहीं। प्रभु! ऐसे अनन्त भव तूने किये हैं। अब उस भव का अभाव करना हो तो नाथ! आत्मा को वश कर ले। अन्दर अखण्डानन्द प्रभु ज्ञान का सागर, आनन्द का समुद्र भरा है, उसका स्पर्श करके अनुभव कर। आहाहा! तो जन्म-मरण मिटेंगे। आहाहा! इसके बिना जन्म-मरण नहीं मिटेंगे। आहाहा! ऐसी बात! अब बाहर में जहाँ दुकान पर जाए। दो-पाँच करोड़पति हो तो नौकर (कहे), पधारो साहेब... पधारो साहेब... पधारो साहेब...। ऐसे गद्दे और तकिया पर बैठे। प्याला फट जाए (अभिमान चढ़ जाए)। अरे रे! प्रभु! तूने क्या किया? तूने यह सब उपाधि-दुःख ओढ़ लिया है। अपना आनन्दस्वरूप भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, सत् चिदानन्द। सत्—है, चिद्—ज्ञान और आनन्द। सत् चिदानन्द प्रभु आत्मा अन्दर है, उस ओर तेरी नजर नहीं है। उस ओर तेरा विश्वास नहीं है, उस ओर तेरा झुकाव नहीं है। आहाहा! उस ओर तेरा ढलान नहीं है और बाहर के झुकाव और ढलान में तू मर गया है। आहाहा! यह कहते हैं।

हे स्ववश! मुनि हमें गुरु मिले। गुरु ने ऐसा कहा कि आत्मवश हो जा, ऐसा कहा और आत्मवश हुए। उन मुनि का उपकार मानते हैं। **तेरे चरणकमल-युगल के चिन्तन से...** आहाहा! तेरे चरणकमल-युगल के चिन्तन से। आहाहा! पैर का चिन्तन करते थे? आहाहा! आपके दर्शन-चारित्र-आनन्द अन्दर थे, उनके चिन्तन से हमको भी आनन्द और दर्शन हुए। हमारा जन्म सफल हुआ। अभी तक अनन्त भव में राजा अनन्त बार हुए,

अरबोंपति अनन्त बार हुआ परन्तु भिखारी की भाँति भीख माँगता था। लाओ... लाओ... लाओ... लाओ... पैसा लाओ.. पैसा लाओ...

एक बार यहाँ राजा आये थे न? व्याख्यान में। भावनगर दरबार। करोड़ रुपये का तालुका। आवे, राजा तो सर्वत्र जहाँ जाएँ वहाँ सब आते हैं। जिस गाँव में जाएँ, वहाँ के राजा एक बार तो आते हैं। लखतर, वढ़वाण, जहाँ जाएँ वहाँ। राजकोट, पोरबन्दर, जामनगर वहाँ तो उनका लड़का आया था परन्तु यहाँ। वह गुजर गया। एक करोड़ रुपये की आमदनी। दरबार को कहा, दरबार! एक महीने में दो लाख माँगे, वह छोटा भिखारी है, पाँच लाख और करोड़ माँगे, वह बड़ा भिखारी-बड़ा भिखारी है। हाँ महाराज! कहे। हमें कहाँ उसके पास से कुछ लेना था? व्याख्यान में आया था। दो-तीन बार आया था। भावनगर का दरबार। उसकी एक वर्ष की एक करोड़ रुपये की आमदनी है। बड़ा भिखारी, कहा। करोड़ रुपये माँगते हो, माँगण, माँगण है। माँगता है, लाओ... लाओ... लाओ... लाओ... लाओ... लाओ... आहाहा! धर्मी को आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, हे मुनि! तेरे चिन्तवन से, तेरे स्वभाव के चिन्तवन से। यहाँ तो चरण-कमल लिये हैं। है न? **तेरे चरणकमल-युगल के चिन्तन से...** अर्थात् सेवा से। उसके पास कायम रहे। **मेरा जन्म सदा सफल है।** प्रभु! आहाहा! अब मेरा जन्म नहीं है। आहाहा! अनादि काल के भव का अन्त और अनन्त काल की शान्ति उत्पन्न हुई। अनन्त काल, भूतकाल से भविष्य काल अनन्त गुना है। गत काल से भविष्य काल अनन्त गुना है तो भूतकाल के दुःख का अन्त हुआ और अतीन्द्रिय आनन्द की, धर्म की, समकित की शुरुआत हुई। आहाहा! तो सादि-अनन्त। उत्पन्न हुआ वहाँ से अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... कहीं अन्त नहीं, इतना काल सुख रहेगा। आहाहा! भूतकाल की अपेक्षा भविष्य काल अनन्त गुना है। आहाहा! तो आनन्द का काल अनन्त गुना है, दुःख के काल से; (और दुःख का काल) अनन्तवें भाग है। आहाहा!

मुनि को ऐसा कहते हैं। हे मुनिराज! गुरु को कहते हैं। आपके चरण-कमल की सेवा से, उसके चिन्तवन से मेरा जन्म सदा सफल हो गया। आहाहा! इसका अर्थ कि अपने स्वभाव की ओर के ध्यान से अपनी पहिचान कर ली कि आत्मा आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु है। उसकी पहिचान की तो जन्म सफल हो गया। इसके बिना सब जन्म... आहाहा! यह २५१ (श्लोक पूरा हुआ)।

श्लोक-२५२

(मालिनी)

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः,
स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समन्तात्।
सहज-सम-रसेनापूर्ण-पुण्यः पुराणः,
स्ववशमनसि नित्यं सन्स्थितः शुद्धसिद्धः ।।२५२।।

(वीरछन्द)

निजरस के विस्तार पूर से अघ को जिसने धो डाला।
समतारस से पूर्ण पवित्र पुराण सुस्थित मन वाला॥
जिसका मन है सदा स्ववश, जो शुद्ध सिद्ध भगवान समान।
तेजराशि में मग्न सहज वह जीव सदा रहता जयवन्त॥२५२॥

[श्लोकार्थः] जिसने निज रस के विस्ताररूपी पूर द्वारा पापों को सर्व ओर से धो डाला है, जो सहज समतारस से पूर्ण भरा होने से पवित्र है, जो पुराण (सनातन) है, जो स्ववश मन में सदा सुस्थित है (अर्थात् जो सदा मन को—भाव को स्ववश करके विराजमान है) और जो शुद्ध सिद्ध है (अर्थात् जो शुद्ध सिद्धभगवान समान है)—ऐसा सहज तेजराशि में मग्न जीव जयवन्त है॥२५२॥

श्लोक - २५२ पर प्रवचन

---

२५२ (श्लोक)

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः,
स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समन्तात्।
सहज-सम-रसेनापूर्ण-पुण्यः पुराणः,
स्ववशमनसि नित्यं सन्स्थितः शुद्धसिद्धः ।।२५२।।

श्लोकार्थ: जिसने निज रस के विस्ताररूपी पूर द्वारा पापों को सर्व ओर से धो डाला है,... आहाहा! जिसने निज रस के विस्ताररूपी पूर द्वारा। आहाहा! अन्तर में आनन्द का पूर भरा है। जैसे पानी का पूर आता है। पानी में पूर आता है, वैसे आत्मा में आनन्द का पूर भरा है। आहाहा! कभी सुनने को नहीं मिलता और भिखारी की भाँति पूरे दिन धन्धे में रुककर पाँच-पच्चीस लाख मिल जाए तो मानो बस, अभिमान की हूंफ चढ़ जाती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! **जिसने निज रस के विस्ताररूपी पूर द्वारा पापों को सर्व ओर से धो डाला है,...** आहाहा! मार्ग यह है, ऐसा कहते हैं। गुरु जो मार्ग बताते हैं, वह यह है। दूसरा कोई क्रियाकाण्ड—दया पालो, व्रत पालो, भक्ति करो, पूजा करो, मन्दिर बनाओ तो जन्म-मरण का अन्त होगा, ऐसा नहीं है। अरबों रुपये का मन्दिर बनाओ तो राग की मन्दता होगी तो पुण्य होगा, बन्धन होगा, धर्म-बर्म होगा नहीं, जन्म-मरण का अभाव होगा नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **जिसने निज रस के...** आत्मरस, आनन्दरस। रागरस को छोड़कर, पुण्य-पाप के राग का रस छोड़कर **जिसने निज रस के विस्ताररूपी पूर द्वारा...** आनन्द का विस्तार किया। आहाहा! शक्ति में तो आनन्द पड़ा है, परन्तु पर्याय में आनन्द का विस्तार किया, फैलाव किया। आहाहा! अन्तर समकितदर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर विस्तार किया। आहाहा! अरे! अब ऐसी बातें।

जिसने निज रस के... अपना आनन्दरस। अतीन्द्रिय आनन्दरस, अतीन्द्रिय ज्ञानरस, अतीन्द्रिय शान्तरस से भरपूर प्रभु है। वह अपने निजरस से... आहाहा! **विस्ताररूपी पूर...** विशाल पर्याय में एकाग्र हुआ तो पर्याय में विशाल आनन्द हुआ, विशाल वीर्य की स्फुरणा हुई, विशाल शान्ति हुई... आहाहा! **विस्ताररूपी पूर द्वारा...** आहाहा! अपने आत्मा के आनन्द के अनुभव के पूर द्वारा। आहाहा! कितनों ने तो आत्मा नाम सुना नहीं होगा। आत्मा और होगा, आत्मा है। परन्तु कौन है, इसकी खबर नहीं होती। अन्ध के अन्ध। आहाहा! यहाँ कहीं मक्खन-बक्खन नहीं है। किसी को ठीक लगे, ऐसा बोलना- ऐसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो आचार्य महाराज कठिन बात है, वह भी करते हैं। आहाहा! मरकर नरक में जाएगा। यदि आत्मा का भान नहीं करे और पाप करेगा तो मरकर नरक में जाएगा। वहाँ

तेरा कोई शरण नहीं है। आहाहा! तैंतीस-तैंतीस सागर (अर्थात्) असंख्य अरब, असंख्य अरब वर्ष। एक-दो बार नहीं, अनन्त बार (गया है)। आहाहा!

जिसने आत्मा में नजर की और उसका विस्तार किया। शक्ति में जो अनन्त आनन्द था, वह पर्याय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र से, वीर्य की रचना से पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का विस्तार किया। आहाहा! विस्तार से पूर्ण भरपूर। **पूर्ण भरा होने से पवित्र है,...** आहाहा! अपनी पर्याय—दशा में अनन्त आनन्द से पूर्ण भरा है, तब सर्वज्ञ होता है। केवलज्ञान होता है, तब पूर्ण आनन्द और पूर्ण शान्ति भरी है। आहाहा! **जो पुराण (सनातन) है,...** यह सनातन चीज़ है। यह कोई नयी चीज़ नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अन्तर में से अनन्त आनन्द का विस्तार करके पूर्ण विस्तार किया, वह चीज़ कोई नयी नहीं है। अनादि की चीज़ पड़ी थी, उसे निकाली है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। अभी दुकान से घड़ी भर निवृत्त नहीं होता, उसे ऐसा उपदेश आहाहा!

सर्व ओर से धो डाला है,... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु के अवलम्बन से, राग-द्वेष के त्याग से, पर्याय में जो आनन्द और शान्ति का विस्तार-विशालता प्रगट हुई। अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की विशालता प्रगट हुई। अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा... आहाहा! उसके विस्तार से **पूर्ण भरा होने से...** आहाहा! **पूर द्वारा पापों को सर्व ओर से धो डाला है,...** नाश किया है, सर्व ओर से धो डाला है। **जो सहज समतारस से पूर्ण भरा होने से पवित्र है,...** कैसा है भगवान? सहज समतारस, स्वाभाविक वीतरागभाव से भरपूर है। अरूपी भगवान अन्दर विस्तार से विशाल वीतरागभाव से भरा है। आहाहा!

समतारस से पूर्ण भरा होने से पवित्र है,... भगवान आत्मा पवित्र है। आहाहा! अपनी पर्याय के अतिरिक्त कभी अन्तर में जाने का सुना ही नहीं। आहाहा! उसे यह कहाँ से प्रगट हो? आहाहा! अनन्त-अनन्त भव दु:ख में व्यतीत किये। अनन्त भव किये। अब कहते हैं, एक बार अन्दर भगवान के पास जा न! विस्तार-आनन्द, ज्ञान और शान्ति का विस्तार कर। विस्तार से पाप को धो डाल। आहाहा! **सहज समतारस से पूर्ण भरा होने से...** आत्मा तो सहज वीतराग भाव से भरा है, इसलिए पवित्र है। प्रगट पर्याय में भी वीतराग

समतारस प्रगट हुआ। जो शक्ति में था, स्वभाव में पूर्ण वीतराग पवित्रता थी, वह पर्याय में पूर्ण वीतरागता आयी। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जो पुराण (सनातन) है,... वह तो अनादि का है। शान्ति, आनन्द अनादि की (चीज़) है। कोई नयी चीज़ नहीं है। आहाहा! **जो स्ववश मन में सदा सुस्थित है...** जो प्राणी अपने आत्मा के वश मन से सदा अन्दर सुस्थित है। आहाहा! **(अर्थात् जो सदा मन को—भाव को स्ववश करके विराजमान है)...** मन का भाव जो पर की ओर का था, उसे छोड़कर निज मन का भाव अपना आत्मा सागर-समुद्र है, वहाँ ले गया। आहाहा! इस ओर विराजमान है। स्ववश से विराजमान है। **और जो शुद्ध सिद्ध है (अर्थात् जो शुद्ध सिद्धभगवान समान है)...** 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' आहाहा! सिद्ध समान सदा पद मेरो। माहात्म्य आवे तब न! यह बाहर में माहात्म्य धूल में (पड़ा है)। आहाहा! इस शरीर की कुछ जवानी हो और स्त्री ठीक मिली हो और पाँच-पचास लाख रुपये हों। हो गया, मर गया बेचारा। जीते-जी मर गया। जो चैतन्य अन्दर सनातन है, वह नहीं, यह (संयोग) मैं। तो वह नहीं, यह मैं, इसका अर्थ इसने आत्मा को मार डाला। आहाहा! यह कहते हैं, देखो!

जो शुद्ध सिद्धसमान है। आहाहा! **ऐसा सहज तेजराशि में मग्न जीव जयवन्त है।** आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा स्वाभाविक तेजराशि – ज्ञान के प्रकाश के तेजराशि का पुंज प्रभु में मग्न, मग्न जीव जयवन्त है। उसमें मग्न रहनेवाला जयवन्त है। आहाहा! वस्तु तो वस्तु है परन्तु वस्तु में से निकालकर अपने अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति में जो रहता है, वह जीव जयवन्त है। वह सुखी है, वह सिद्ध हुआ। आहाहा! और वह जीव जयवन्त है। आहाहा! वह जीव जीया। उस जीव ने जीवन लिया। उस जीव का जीवन अमृतमय (हुआ)। उसने अमृतमय बनाया। अज्ञानी ने जहरमय बनाया। पुण्य-पाप में जीव के जीवन को जहरमय बनाया। इसने (ज्ञानी ने) अमृतमय बनाया। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२५३

(अनुष्टुप्)

सर्वज्ञ-वीतरागस्य स्व-वशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ।।२५३।।

(वीरछन्द)

वीतराग सर्वज्ञ और निज वश योगी में किञ्चित भी।
भेद नहीं है किन्तु अरे रे! हम जड़ मानें भेद सही॥२५३॥

[श्लोकार्थ:] सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में कभी कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरे रे! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं॥२५३॥

प्रवचन-१७०, श्लोक-२५३-२५४, गाथा-१४७, सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण २, दिनांक ३०-०६-१९८०

नियमसार २५३ कलश। २५३ कलश।

**सर्वज्ञ-वीतरागस्य स्व-वशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ।।२५३।।**

श्लोकार्थ: आहाहा! **सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में...** आत्मा के आनन्द के आश्रय से जो योगी है, परमात्मा परमपारिणामिकभाव के आश्रय से योगी है और वे सर्वज्ञ भगवान हैं। **कभी कुछ भी भेद नहीं है;...** इन दोनों में कोई भेद नहीं है। पहले जरा आ गया था। सहज अन्तर है, ऐसा श्लोक आ गया है। यहाँ निकाल दिया है। आहाहा! सर्वज्ञ वीतराग और यह स्ववश योगी। आहाहा! अन्तर आत्मा आनन्दस्वरूप के वश है। जिसे विकल्प नहीं, वह केवलज्ञानी जैसे ही हैं, ऐसा कहते हैं।

इस योगी में कभी भी... आहाहा! कुछ भी। दो बोल लिये हैं। कभी और कुछ भी भेद नहीं है। आहाहा! धन्य वह मुनिपना! जो अकेले आत्मा के आश्रय से स्ववश पूर्ण होते हैं और सर्वज्ञ भगवान, दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! क्योंकि आत्मा पूर्णानन्द प्रभु

परमात्मस्वरूप का पूर्ण अवलम्बन लिया है। परमात्मा सर्वज्ञ ने पूर्ण अवलम्बन लेकर प्राप्त किया है। यह भी प्राप्त करने की तैयारी में है। आहाहा! मुनि उन्हें कहते हैं, जो परम पंचम भाव उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक चार भाव से रहित परमपारिणामिकभाव के अवलम्बन में स्थित है, वह योगी स्ववश है, अपने वश है। आहाहा! वह और सर्वज्ञ भगवान, दोनों में कोई भेद नहीं है, (ऐसा) यहाँ कहते हैं। आहाहा!

कभी... आहाहा! विशिष्टता तो क्या कही है? विशिष्टता तो यह है। **कभी कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरे रे!...** आहाहा! वे मुनि हैं, भावलिंगी हैं, सन्त हैं। निर्मानी, इतने निर्मानी कहते हैं **अरे रे! हम जड़ हैं...** आहाहा! उनमें भेद माने, वह जड़ है—ऐसा नहीं कहा। हम जड़ हैं। आहाहा! सर्वज्ञ योगी परमात्मा पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण के वश स्थित हैं। सर्वज्ञ प्रभु तो पूर्ण आत्मा के वश ही हैं और योगी भी स्ववश ही हैं। दया, दान, व्रत के वश योगी नहीं है। वह योगी और मुनि कहलाता नहीं है। वह तो ठीक परन्तु दोनों में कुछ भी भेद नहीं है, यह भी ठीक। परन्तु... आहाहा! निर्मानता गजब बात है।

अरे रे! हम जड़ हैं... आहाहा! मुनि स्वयं भावलिंगी स्ववश अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में हैं। एक संज्वलन का कषाय है। बाकी अनुभव में स्थित हैं। वे अपने को ऐसा कहते हैं। दूसरे को कहते हैं परन्तु उसमें अपने को डाला है। नहीं तो हम अथवा दूसरे ऐसा माने यह नहीं लिया। **अरे रे! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं।** आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग और सन्त किसे कहते हैं? आहाहा! साधु जो आत्मा आनन्द... आनन्द... आनन्द... अतीन्द्रिय ज्ञान, पंचम पारिणामिकभाव में लिपट गये हैं, वश हो गये हैं। आहाहा! ऐसे स्ववश योगी और केवलज्ञानी परमात्मा दोनों में कुछ भी भेद नहीं है।

अरे रे! हम... मुनि कहते हैं। गजब बात करते हैं। **अरे रे! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं।** आहाहा! आहाहा! निर्मानता की हद है। आहाहा! जिन्हें तीन कषाय का नाश हुआ है, अपने आनन्द का अनुभव है। अतीन्द्रिय आनन्द का (अनुभव है और) तीन कषाय के अभाव से आनन्द है। आहाहा! विकल्प है तो कहते हैं कि अरे रे! जो अन्दर में वश पड़ा है, विकल्प भी जिसे नहीं... आहाहा! ऐसे स्ववश जो मुनि हैं, हम विकल्प में आये... आहाहा! इतना लिखने के विकल्प में आये (तो कहते हैं), अरे रे! हम जड़ हैं। आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ में न रहकर ऐसा लिखने का विकल्प आया, तो वे स्ववश मुनि

जो अन्दर में एकाकार हैं, वे और सर्वज्ञ दोनों एक सरीखे हैं। उनमें अन्तर मानता है तो कहते हैं, हम जड़ हैं। आहाहा! गजब बात है। अरे रे! वापस खेद करके कहते हैं। आहाहा!

हम जड़ हैं... कहने का आशय तो यह है कि हमको यह विकल्प आया है और जो मुनि विकल्परहित अन्तर स्ववश में पड़े हैं... आहाहा! सप्तम गुणस्थान में अन्तर आनन्द में पड़े हैं, जिन्हें शास्त्र की टीका करने का भी विकल्प नहीं... आहाहा! उनमें भेद मानता है, वह जड़ है। आहाहा! इतनी निर्मानता। अभिमानता छोड़कर इतनी निर्मानता है। आहाहा! यहाँ तो जरा मान जाए तो खदबदाहट होती है। आहाहा!

भगवान ज्ञानस्वरूपी पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु में लिखने का विकल्प (आवे, वह) भी जड़ है। विकल्प जड़ है तो हम भी जड़ हैं, कहते हैं। आहाहा! इतने विकल्प में आये क्यों? यशपालजी! आहाहा! देखो! दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहाहा! गजब! कहीं है नहीं। भरतक्षेत्र में ऐसी बात कहीं है नहीं। आहाहा! यह २५३ (श्लोक पूरा) हुआ।

श्लोक-२५४

(अनुष्टुप्)

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः।
स्ववशः सर्व-कर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ।।२५४।।

(वीरछन्द)

स्ववश महामुनि इस भव में हैं सदा एक ही धन्य अहो।
जो अनन्यमतिवाले रहते हुए कर्म से बाहर हों॥२५४॥

[श्लोकार्थः] इस जन्म में स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है कि जो अनन्य बुद्धिवाला रहता हुआ (-निजात्मा के अतिरिक्त अन्य के प्रति लीन न होता हुआ) सर्व कर्मों से बाहर रहता है॥२५४॥

श्लोक - २५४ पर प्रवचन

२५४ (श्लोक)

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः।
स्ववशः सर्व-कर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः।।२५४।।

श्लोकार्थः इस जन्म में... ओहो! इस मनुष्यपने के अवतार में **स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है...** आहाहा! जिन्हें पंच महाव्रत या लिखने का विकल्प भी नहीं। आहाहा! स्ववश अपने आनन्दस्वरूप में गुप्त हो गये हैं। अतीन्द्रिय आनन्द परम पारिणामिकभाव में लीन हो गये हैं। **इस जन्म में स्ववश महामुनि...** अपने वश हुए, वे महामुनि। **एक ही...** आहाहा! वापस एक ही। आहाहा! **सदा धन्य है...** सदा अन्तर में आनन्द में गुप्त हुए, जिन्हें टीका लिखने का विकल्प नहीं, भगवान के शास्त्र लिखने का भी विकल्प नहीं। आहाहा! ऐसा यह कहते हैं। ऐसे मुनि अन्दर में स्थित हैं। वे महामुनि स्ववश एक ही, वे एक ही। एक ही। एक के एक ही। सदा धन्य हैं। आहाहा!

अब यहाँ क्रमबद्ध और निश्चय की बात करे तब कहे, एकान्त है। क्या करे? प्रभु! उसे सूझ पड़े तद्नुसार करे। उसका फल क्या आयेगा? कठिन है, प्रभु! उसे भी विपरीत मान्यता का फल दुःख होगा, वह कोई चाहेगा? किसी प्राणी को दुःख हो, ऐसा चाहे नहीं। सर्व प्राणी सुखी होओ, सब अतीन्द्रिय आनन्द रहो। आहाहा! विपरीत भाव से दुःख होगा, भाई! आहाहा! जन्म-मरण में माता के गर्भ में सवा नौ महीने उल्टे सिर रहना... आहाहा! श्वास किस प्रकार लेना? आहाहा! श्वास तो है। आहाहा! मनुष्यभव में... तिर्यंच भव में, नरक भव में, निगोद की तो बात क्या करना? मनुष्यभव में भी जन्म... आहाहा! सवा नौ महीने उल्टे सिर रहना... आहाहा! और जब बाहर निकलना कठिन पड़े, दबाव में से निकलना पड़ेगा। आहाहा! ऐसा मनुष्य का अवतार, उसके वश होना छोड़कर... आहाहा! अपने अतीन्द्रिय आनन्द के वश हो गये हैं। फिर से अवतार लेना नहीं है। आहाहा! महामुनि लिये हैं न?

इस जन्म में स्ववश महामुनि... आहाहा! **एक ही सदा धन्य है...** अपनी भी भावना भाते हैं कि विकल्प से रहित मैं पूर्ण हो जाऊँ। आहाहा! लिखता हूँ तो अच्छा है, लाभ होगा,

यह कुछ है नहीं। मुझे विकल्प आता है। पहले कलश में आता है कि मेरा मन बारम्बार होता है कि टीका करूँ, इसका रहस्य स्पष्ट करूँ, इसका रहस्य स्पष्ट करूँ, ऐसा विकल्प बारम्बार आता है। यह पहले लिखा है। इसलिए यह बन गया है। पहला है न? पहले श्लोक में है। पहले श्लोक है न। आहाहा!

मुमुक्षु : छठवाँ श्लोक तीसरे पृष्ठ पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : छठवाँ श्लोक। क्या कहा?

मुमुक्षु : तीसरा पृष्ठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीसरा पृष्ठ। छठवाँ श्लोक। **अभी हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से...** आहाहा! **पुष्ट रुचि से...** मुनि हैं। आहाहा! **पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित हो रहा है।** मैं इसे बनाऊँ, मैं इसे बनाऊँ, ऐसा विकल्प बारम्बार आता है। विकल्प नाश नहीं होता। आहाहा! विकल्प से प्रेरित होने के कारण, आहाहा! **उस रुचि से प्रेरित होने के कारण...** देखा! आहाहा! **'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है।** आहाहा! मन में विकल्प आया करता है कि इसकी टीका होवे। टीका, वह टीका है। आहाहा! समयसार की टीका से भी कितनी ही बार तो उच्च श्रेणी की बात की है। ओहोहो! देखो न! यहाँ भी कहा, आहाहा!

एक ही सदा धन्य है... आहाहा! **इस जन्म में स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है...** एक ही सदा धन्य है। आहाहा! **कि जो अनन्य बुद्धिवाला रहता हुआ...** अनन्य अर्थात् अन्य में बुद्धि नहीं जाकर अपनी अनन्य बुद्धि के आनन्द की बुद्धि में रहनेवाला। **(-निजात्मा के अतिरिक्त अन्य के प्रति लीन न होता हुआ) सर्व कर्मों से बाहर रहता है।** आहाहा! सर्व विकल्परूपी कार्य-सर्व विकल्परूपी कर्म-उनसे बाहर रहता है। आहाहा! अभी (ऐसा कहते हैं), विकल्प से करो, उसके व्यापार से, महाव्रत से कल्याण होगा। अरे! प्रभु! क्या हो? तेरे लाभ का कारण है न, प्रभु! लाभ का काम तो सत्य से होगा या असत्य से होगा? आहाहा!

इस क्रमबद्ध का बहुत विरोध हुआ। जिसमें पुरुषार्थ है। क्रमबद्ध में स्व-सन्मुख का पुरुषार्थ है, क्योंकि पर्याय का निर्णय करने में पर्याय पर लक्ष्य नहीं करने से होता है।

पर्याय का निर्णय करने में द्रव्य पर जब लक्ष्य होता है, तब द्रव्य का ज्ञान होता है, तब पर्याय का निर्णय यथार्थ होता है, यही पुरुषार्थ है। आहाहा! परन्तु (अभी ऐसा कहते हैं) क्रमबद्ध जिस समय होगा, उस समय होगा, यह तो नियति हुई। अरे! प्रभु! नियति के साथ पाँच समवाय साथ में है। उसमें पुरुषार्थ की मुख्यता है। आहाहा! अपनी पर्याय को अपनी ओर झुकाना, झुकाव करना, प्रभु! यह कहीं अल्प पुरुषार्थ है? आहाहा! इस पुरुषार्थ को पुरुषार्थ गिनते नहीं और पर्याय उल्टी-सीधी, आगे-पीछे करना और ऐसा करना और वैसा करना, (उसे पुरुषार्थ मानते हैं)। आहाहा!

जिस समय में जो पर्याय होनी है, उस समय में वह पर्याय होगी। ऐसा जब निर्णय होता है, तब द्रव्य का पुरुषार्थ होता है, ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ होता है। आहाहा! बात कठिन पड़ी, परन्तु क्या करे? क्रमबद्ध को नियत करके (निकाल डाला)। परन्तु शास्त्र देखते नहीं कि शास्त्र में क्रमबद्ध लिखा है।

समयसार ३०८ गाथा में क्रमनियमित (शब्द है)। आहाहा! क्रम और नियमित जिस समय होनी हो, उस समय होगी। वह नियमित है। आहाहा! क्रम निश्चित-क्रम निश्चित। आहाहा! परन्तु उसका पुरुषार्थ करने में द्रव्य की ओर जाना, तब क्रमनियमित का, पर्याय का... द्रव्य का निर्णय होने पर पर्याय का निर्णय होता है, वही पुरुषार्थ है। आहाहा! क्रमबद्ध की बात नहीं थी। नयी लगी। परन्तु पाठ में तो है। यह कहीं नया समयसार है? समयसार में क्रमनियमित पाठ है। प्रत्येक द्रव्य की क्रमनियमित (पर्याय) होती है। आहाहा! आगे-पीछे करने में जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है—ऐसा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है। जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। परन्तु इसमें ही पुरुषार्थ आया। आहाहा!

स्व-सन्मुख होते ही क्रमबद्ध का निर्णय होता है, वही पुरुषार्थ है। इसमें पाँचों ही समवाय आ गये और उसके भव का नाश हो गया। आहाहा! और मोक्ष की शुरुआत हो गयी। आहाहा! अब इसे एकान्त मानते हैं। अरे! प्रभु! क्या करता है? ऐसी बुद्धि कैसे सूझती है। यहाँ तो इनकार करते हैं। आहाहा!

मुनि तो अन्तर में लीन होते हैं। आहाहा! यह टीका करने का विकल्प भी हम जड़ है। आहाहा! गजब है। समाधिशतक में भी कहा है। हम जो यह बोलते हैं, उसमें विकल्प है, वह पागल जैसा है। ऐसा लिखा है। मुनि। हम समझाते हैं, उसमें विकल्प आता है, वह

पागल है। क्योंकि विकल्प से कोई उसे ज्ञान नहीं होता तथा विकल्प से मुझे लाभ नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? सुननेवाले को भी विकल्प से ज्ञान नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं के पुरुषार्थ से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसके पुरुषार्थ से होता है और कहनेवाले को विकल्प से लाभ नहीं होता। विकल्प तो राग है। ऐसा समाधिशतक में कहा है कि उपदेश देनेवाला पागल है। आहाहा! यह दिगम्बर सन्त कहते हैं। जिन्हें जगत की पड़ी नहीं है, जगत की दरकार नहीं है, जगत मानेगा या नहीं मानेगा, सुगठित रहेगा या नहीं रहेगा, इसकी कुछ दरकार नहीं है। आहाहा! यहाँ कहते हैं...

मुमुक्षु : सुननेवाले को तो देशनालब्धि का लाभ होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इससे अन्तर में नहीं जाता। अन्तर में देशनालब्धि का ज्ञान काम नहीं करता।

मुमुक्षु : ऐसी प्रतीति होती है कि पर से लाभ होगा, इसलिए पर में भटकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर से लाभ होता ही नहीं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी निकलती है, तो उससे भी आत्मा को लाभ नहीं है। भगवान तो यहाँ तक कहते हैं कि परमात्मा त्रिलोकनाथ समयसार की ३१वीं गाथा में (ऐसा कहते हैं) कि प्रभु! हम तेरी अपेक्षा से इन्द्रिय हैं। हमारे प्रति लक्ष्य जाएगा तो तुझे दुर्गति—राग होगा। आहाहा! इन्द्रियों को जीतना, तब होगा कि राग को, जड़ इन्द्रिय को, भावेन्द्रिय को, इन्द्रिय के जितने विषय हैं—महावीर तीर्थंकर, सर्वज्ञ की वाणी आदि सबका लक्ष्य छोड़कर अन्दर में जाना, वह इन्द्रिय का जीतना है। आहाहा! ऐसी वाणी दिगम्बर मुनि के अतिरिक्त कहीं नहीं है, कहीं नहीं है। आहाहा! गजब बात करते हैं न! आहाहा!

इन्द्रिय। '**जो इंदिये जिणित्ता**' (समयसार गाथा ३१)। जो कोई इन्द्रियों को जीतकर। इसके अर्थ में ऐसा लिया है कि इन्द्रिय का अर्थ क्या? कि जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय (अर्थात्) एक इन्द्रिय एक विषय करे वह और इन्द्रिय का विषय—भगवान तीर्थंकर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, भगवान की वाणी सब इन्द्रिय का विषय है। आहाहा! इन्द्रिय के विषय को इन्द्रिय कहा, तो इन्द्रिय को जीतना। उनके ऊपर का लक्ष्य छोड़ना

और अतीन्द्रिय में आना, वह लाभ का कारण है। यशपालजी! इसमें यशपाल है। इसमें यश निकलता है। आहाहा! बाकी अपयश है। आहाहा! दुनिया में भटकना... आहाहा!

देखो न! वे आये हैं बेचारे। आठ वर्ष की लड़की ऊपर से गिरकर मर गयी। ऊपर से गिरकर। आहाहा! ऐसे मरण अनन्त बार किये हैं। इस जीव ने अनन्त बार ऐसे मरण किये हैं। उसने किये, यह बात नहीं। अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... आहाहा! जिसकी आदि नहीं - शुरुआत नहीं, उसका माप क्या? उसकी मर्यादा क्या? उसका अनन्त का अन्त क्या? उसके अनन्त का अन्त क्या? आहाहा! है... है अनादि काल से, भ्रमणा करता है तो उसमें अनन्त भव ऐसे आये हैं कि अनन्त बार घानी पिला और छुरे द्वारा अनन्त बार कटा। शिकारी... आहाहा! माँस बेचनेवाले। कसाई-कसाई। कसाई... कसाई के हाथ से जीवित मनुष्य मिले तो उसके टुकड़े करे, ऐसा अनन्त बार हुआ है, प्रभु! आहा! अनन्त बार... अनन्त बार... अनन्त काल में सब हो गया है। आहाहा! किसका अभिमान करना? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **इस जन्म में...** आहाहा! **स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है...** आहाहा! **कि जो अनन्य बुद्धिवाला रहता हुआ...** अपने स्वभाव की ओर से निकलकर दूसरे में नहीं जाता। अनन्य बुद्धि, अपने में बुद्धि रखता है, वह यश है, वह धन्य है। वह सर्व कर्म से बाहर रहता है। आहाहा! सुनना कठिन पड़े। १४६ हुई।

गाथा-१४७

आवासं जह इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्ण-गुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।।१४७।।

आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभावम्।
तेन तु सामायिक-गुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य।।१४७।।

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत्। इह हि बाह्यषडावश्यकप्रपञ्च-कल्लोलिनीकलकलध्वनिश्रवणपराङ्मुख हे शिष्य शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं सन्सारव्रततिमूललवित्रं यदीच्छसि, समस्तविकल्पजालविनिर्मुक्तनिरञ्जन-निजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषु सततनिश्चलस्थिरभावं करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रियाभिः किं जातं, अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः। अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भवपुरन्ध्रिका-सम्भोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः ह्न

(मालिनी)

यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्,
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसङ्गः।
तदनवरत-मन्त-र्मग्न-सम्विग्न-चित्तो,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम्।।

तथाहि ह्न

आवश्य का कांक्षी हुआ तू स्थैर्य स्वात्मा में करे।
होता इसी से जीव सामायिक सुगुण सम्पूर्ण रे॥१४७॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि तू [आवश्यकम् इच्छसि] आवश्यक को चाहता है तो तू [आत्मस्वभावेषु] आत्मस्वभावों में [स्थिरभावम्] स्थिर भाव [करोषि]

करता है; [तेन तु] उससे [जीवस्य] जीव को [सामायिकगुणं] सामायिकगुण [सम्पूर्णं भवति] सम्पूर्ण होता है।

टीका : यह, शुद्धनिश्चय-आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय, उसके स्वरूप का कथन है।

बाह्य षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी नदी के कोलाहल के श्रवण से (-व्यवहार छह आवश्यक के विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से) पराङ्मुख हे शिष्य! शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान तथा शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यक को—कि जो संसाररूपी लता के मूल को छेदने का कुठार है उसे—यदि तू चाहता है तो तू समस्त विकल्पजाल रहित निरंजन निज परमात्मा के भावों में—सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र और सहज सुख आदि में—सतत-निश्चल स्थिरभाव करता है; उस हेतु से (अर्थात् उस कारण द्वारा) निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यकक्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ? *अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ ऐसा अर्थ है। इसलिए अपुनर्भवरूपी (मुक्तिरूपी) स्त्री के सम्भोग और हास्य प्राप्त करने में प्रवीण ऐसे निष्क्रिय परम-आवश्यक से जीव को सामायिकचारित्र सम्पूर्ण होता है।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री योगीन्द्रदेव ने (अमृताशीति में ६४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

किसी तरह यदि निज स्वरूप से मन विचलित हो जाता है।
निज से बाहर भटके तो सब दोष प्रसंग आ जाता है॥
इसीलिए तू अन्तर्मग्न सतत संवेगी मनयुत हो।
जिससे मोक्षपुरी के शाश्वत् गृह का तू फिर अधिपति हो॥

[श्लोकार्थः] यदि किसी प्रकार मन निज स्वरूप से चलित हो और उससे बाहर भटके तो तुझे सर्व दोष का प्रसंग आता है, इसलिए तू सतत अन्तर्मग्न और [1]संविग्न चित्तवाला हो कि जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा।

---

* अनुपादेय=हेय; पसन्द न करनेयोग्य; प्रशंसा न करनेयोग्य।

१. संविग्न=संवेगी; वैरागी; विरक्त।

गाथा - १४७ पर प्रवचन

१४७ (गाथा)

आवासं जह इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्ण-गुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।।१४७।।
आवश्य का कांक्षी हुआ तू स्थैर्य स्वात्मा में करे।
होता इसी से जीव सामायिक सुगुण सम्पूर्ण रे॥१४७॥

आहाहा! यहाँ सामायिक कहा, देखा? सामायिक गुण सम्पूर्ण।

टीका : यह, शुद्धनिश्चय-आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय... शुद्धनिश्चय आवश्यक। व्यवहार आवश्यक तो राग का कारण है, बन्ध का कारण है। आहाहा! व्यवहार सामायिक, चौविसंथो, वन्दन, प्रतिक्रमण सब राग तो बन्ध का कारण है। आहाहा! अब इसे निश्चय कहकर एकान्त कहते हैं। व्यवहार से भी लाभ होता है। उसने विपरीत अर्थ किये हैं न? इनने तो कलश-प्रमाण अर्थ किये हैं, इसलिए इनने लिखा है, उसमें तो व्यवहार का निषेध किया है। ऐसा अर्थ नहीं है। ऐसा अर्थ है। आहाहा! पण्डित-पण्डित.. धर्मचन्द है कोई शास्त्री। संघस्थ-कोई साधु का संघ है, उसमें रहता होगा। आहाहा! ऐसा कहता है कि तुम ऐसा मानते हो, वह बात नहीं है। व्यवहार का अर्थ तुम तो ऐसा करते हो कि यह निषेध करना, (परन्तु) ऐसी बात नहीं है। ऐसी बात नहीं है वहाँ। उसका अर्थ यह नहीं है, ऐसा कहता है। व्यवहार से भी लाभ होता है। अरे रे! अब क्या करे? अरे! मनुष्यपना आया, दिगम्बर में जन्म हुआ, दिगम्बर साधु के साथ रहा। संघस्थ लिखा है अर्थात् दिगम्बर साधु के साथ कोई संघ में होगा। आहाहा! उसने यह सब अर्थ ऐसे किये है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, **शुद्धनिश्चय-आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय उसके स्वरूप का कथन है।** व्यवहार आवश्यक का कथन यहाँ नहीं। आहाहा! शुद्धस्वरूप का, शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय है, उसके स्वरूप का कथन है।

टीका : बाह्य षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी नदी के कोलाहल के श्रवण से (-व्यवहार छह आवश्यक के विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से)

पराङ्मुख... आहाहा ! व्यवहार जो षट् आवश्यक के विकल्प आते हैं-सामायिक, चौविसंथो, वन्दन आदि; उनसे पराङ्मुख हो जा। वह तो कोलाहल है। व्यवहार आवश्यक तो कोलाहल है। विकल्प का, राग का कोलाहल है। दु:ख का कोलाहल है। राग कहो या दु:ख कहो। आहाहा ! है ?

बाह्य षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी... षट् आवश्यक प्रपंच है। आहाहा ! मुनि को दरकार नहीं है कि ऐसे शब्द लिखे हैं तो दुनिया क्या अर्थ करेगी। दुनिया, दुनिया की जाने। विकल्प आया है तो टीका होती है-हो जाती है। यह टीका तो शब्दों से होती है। विकल्प आया, इसलिए टीका हुई - ऐसा नहीं है। यह टीका तो शब्दों से उस समय होनेवाली थी तो हुई है। यह विकल्प से नहीं हुई। आहाहा ! ऐसी बात ! यहाँ तो बाह्य षटकारक, सामायिक, चौविसंथो, भगवान की स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग, सामायिक, वन्दना, पडिक्कमण / प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, ध्यान, सब विनय, बारह (प्रकार का) विनय, देव-गुरु-शास्त्र का विनय... आहाहा ! यह **षट्-आवश्यकप्रपंचरूपी नदी के कोलाहल...** आहाहा ! है न ?

ऐसा आचार्य पुकार करके करके कहते हैं। दिगम्बर सन्त पुकार कर कहते हैं। आहाहा ! उन्हें जगत की कुछ पड़ी नहीं है। एक जगह आता है कि समाज सुगठित रहेगी या नहीं, इसकी दरकार नहीं है। सत्य प्रसिद्ध करते हैं। दिगम्बर सन्त सत्य की पुकार करते हैं। सत्य यह है। बाकी षट् आवश्यक भी असत्य है। आहाहा ! बाह्य सामायिक, आत्मज्ञान से रहित सामायिक, प्रौषध, भगवान की स्तुति, वन्दन सब कोलाहल है। नदी का कोलाहल होता है। कलकलाहट-नदी में जैसे कल... कल... कल... (होता है), वैसे विकल्प की, राग की कलकलाहट है। आहाहा ! ऐसी बात सुनी भी न हो, ऐसी बात है, प्रभु ! आहाहा !

प्रभु ! तू विराजता है न ! तेरी सत्ता पूर्ण है। पूर्ण सत्ता में कोई पर की अपेक्षा नहीं है न। ऐसा निरपेक्ष पंचम पारिणामिक ज्ञायकभाव के आश्रय से छह आवश्यक के कोलाहल को छोड़ दे। आहाहा ! छह आवश्यक नदी का कोलाहल। नदी में जैसे कोलाहल होता है न ? खलबलाहट-खलबलाहट बहुत पानी आवे तब होती है। आहाहा ! **नदी के कोलाहल के श्रवण से....** आहाहा ! उन वचनों के श्रवण से (**-व्यवहार छह आवश्यक के**

विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से)... आहाहा! विकल्प उठता है और तू सुनता है। आहाहा! **पराङ्मुख...** है। निश्चय आवश्यक तो व्यवहार आवश्यक से पराङ्मुख है। उसमें लिखा है कि व्यवहार से निश्चय विरुद्ध नहीं। विरुद्ध अर्थ लिखा, वह झूठा है। किसी समय विरुद्ध अर्थ लिखा है। भाई ने-जगमोहनलालजी ने। एक जगह भूल की है। व्यवहार से निश्चय होता है, शुभभाव से। खोटी-झूठ बात है। शुभभाव से निश्चय होता ही नहीं। शुभभाव कोलाहल है, राग है। आहाहा!

अब छह आवश्यक का विकल्प भी कोलाहल, प्रपंच... आहाहा! राग, दुःख-उस जाल में से निकलकर, प्रभु! निश्चय में आ जा। आहाहा! अभी तो सुनने को मिला न हो, वह कब करे? आहाहा! व्यवहार और निश्चय दो है या नहीं? दो है तो दोनों लाभ का कारण है या नहीं? प्रभु! दोनों लाभ का कारण होवे तो दो होते ही नहीं। तो दो क्यों पड़े? एक ही नाम नहीं पड़े। निश्चय और व्यवहार दो पड़े हैं तो विरुद्ध हैं तो विरुद्ध पड़े। यदि एक होवे तो उससे भी लाभ हो और इससे भी लाभ हो, तो निश्चय-व्यवहार दो भाग ही न पड़ें। आहाहा! न्याय से भी अभी बात स्वीकार में नहीं आती तो परिणमन में कहाँ से आवे? आहाहा! अन्तर का परिणमन कहाँ से हो? और इसके बिना संसार का अन्त कभी नहीं होता, प्रभु! आहाहा! यह देह तो छूट जाएगी और कहीं आवास करेगा। अन्तर का भान नहीं तो चौरासी के अवतार में कहाँ निवास होगा? आहाहा! कोई साथ में नहीं आयेगा। आहाहा! यह विकल्प भी साथ में नहीं आयेगा। विकल्प से कर्मबन्धन होता है, वह कर्म साथ में आता है। जो विकल्प आया था, वह तो गया। उससे जो स्वतन्त्र बन्ध हुआ, तो वह कर्म अपनी पर्याय की योग्यता से साथ में आता है। आत्मा के कारण से नहीं। आहाहा! आत्मा भी ऐसे जाता है तो कर्म भी अपनी पर्याय की योग्यता से स्वयं के कारण से साथ में आता है। आहाहा!

ऐसा कोलाहल। आवश्यक के विस्ताररूपी **(-व्यवहार छह आवश्यक के विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से) पराङ्मुख हे शिष्य!...** आहाहा! पराङ्मुख हे शिष्य! **शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान तथा शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यक को—**कर। आहाहा! शुद्ध धर्मध्यान और शुक्लध्यान। निश्चय स्वभाव जो शुद्ध चैतन्य राग से रहित, भेद से रहित, अभेद चीज़ जो है, उसके आश्रय से

ही निश्चय आवश्यक होता है। आहाहा! अब इसमें समय कब मिले? सुमनभाई! नौकरी करना पूरे दिन स्त्री, पुत्र सम्हालना। लड़कियों का विवाह करना, अच्छी जगह डालना। फिर भले वैष्णव में डाले परन्तु कहीं ठिकाने लगाकर... आहाहा! अरे रे! अरे! जन्म, अरे! जन्म मनुष्य... आहाहा!

इस मनुष्य जन्म में क्या करना? कि यह एक करना है। छह आवश्यक के विकल्प से रहित निश्चय आवश्यक करना है। आहाहा! आहाहा! ऐसी बात जैन के अतिरिक्त तो कहीं है नहीं। जैन में भी दिगम्बर जैन के अतिरिक्त कहीं नहीं है। श्वेताम्बर और स्थानकवासी में यह बात नहीं है, प्रभु! दुःख लगे तो माफ करना। हम स्थानकवासी हैं और हम मन्दिरमार्गी हैं। हमें मिथ्या सिद्ध करते हैं। आचार्य (कल्प पण्डित टोडरमलजी ने) तो मोक्षमार्गप्रकाशक में सिद्ध किया है। श्वेताम्बर-स्थानकवासी जैन नहीं, अन्यमत है। वह जैन ही नहीं। आहाहा! इन्होंने बहुत गड़बड़ कर डाली है। देव-गुरु-शास्त्र की, धर्म की बहुत गड़बड़ कर डाली है। आहाहा! दिगम्बर में आवे तो भी वापस गड़बड़ करे। (दिगम्बर में) जन्मे तो क्या हुआ? आहाहा!

मुमुक्षु : दिगम्बर में भी केवल यहाँ ही है, अन्यत्र कहीं नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर धर्म, दिगम्बर धर्म अर्थात् जैनधर्म, जैनधर्म अर्थात् वास्तविक वस्तु का स्वरूप। वह कोई पक्षपात नहीं। आहाहा! वह तो वस्तु का जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय है और जैसा स्वतन्त्र है, वैसा जाना, वैसा भगवान ने कहा। वह कोई पक्ष या वाड़ा नहीं है। अरे रे! क्या करें? सत्य कहते हैं तो तूफान करते हैं। नहीं, यह एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... यह मिथ्यात्व है। अच्छा, भाई! प्रभु! आहाहा!

यहाँ कहते हैं... आहाहा! **हे शिष्य!** गुरु कहते हैं, देखो! **हे शिष्य! शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान...** अपना आत्मा आनन्दस्वरूप का ध्यान और शुक्लध्यान निर्विकल्प विशेष। अभी धर्मध्यान में अबुद्धिपूर्वक का विकल्प होता है। वह तो बन्ध का कारण है परन्तु अन्तर में जितना आश्रय हुआ, उतना धर्मध्यान है और शुक्लध्यान में तो विकल्प भी नहीं है। वह विकल्परहित **शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यक को—** आहाहा! स्व-आत्मा के आश्रित। इन छह आवश्यक के विकल्प स्व-आत्मा नहीं है, वे तो अनात्मा है। आहाहा! छह व्यवहार आवश्यक जो सामायिक, चौविसंथों, बन्धन, प्रभु

की भक्ति, पूजा, वह सब अनात्मा है। आहाहा! गजब बात है। कठिन है, प्रभु! बात तो ऐसी है, प्रभु! तुझे रुचे, न रुचे... आहाहा! वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है। आहाहा!

स्वात्माश्रित... आहाहा! यह सिद्धान्त है। **स्वात्माश्रित आवश्यक...** छह आवश्यक व्यवहार, वह पर आत्मा आश्रित है। विकल्प पराश्रित राग है। आहाहा! वास्तव में तो वह छह आवश्यक पुद्गल हैं। आहाहा! आत्मा नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के रस से भरपूर है न, प्रभु! अतीन्द्रिय वीतराग की मूर्ति है न, नाथ! उसके अवलम्बन से जो आवश्यक होता है, वह स्वाश्रित आवश्यक है। आहाहा! सुना न हो कभी। बाहर में यह करो... यह करो... यह करो... आहाहा! **स्वात्माश्रित...** स्व आत्मा में परमात्मा भी नहीं। तीर्थंकर भी पर आत्मा है। उनके आश्रय से भी विकल्प-राग होता है। आहाहा!

आहाहा! अरे! टाइम जाता है, समय चला जाता है। मृत्यु के नजदीक (जाता है)। आहाहा! किस समय किस प्रकार से देह छूटना है, उस प्रकार से देह छूटेगी। उसमें लाख उपाय अन्दर के करे और इंजेक्शन लगावे और डॉक्टर का बुलावे तथा इंजेक्शन लगावे तो भी धूल भी नहीं रहेगी। आहाहा! जिस समय में देह छूटना है, वह छूटेगी.. छूटेगी और छूटेगी। आहाहा! वह डॉक्टर की दवा स्पर्श नहीं करती, इंजेक्शन शरीर को स्पर्श नहीं करता। शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता, तेरा इंजेक्शन क्या काम करेगा? आहाहा! सुमनभाई! इंजेक्शन शरीर को स्पर्श नहीं करता। शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता। तेरा इंजेक्शन क्या करेगा? आहाहा! इन भाई को इंजेक्शन दिया था न यहाँ, अभी पाँच-छह दिन पहले, गुजर गये न भाईलालभाई! आयी थी माधुरीबहिन, डॉक्टर बहिन है न? वह बहिन आयी थी। छह इंजेक्शन दिये, बेचारी मेहनत बहुत करती थी, ऐसे घिसने की परन्तु शरीर बड़ा लट्ठ जैसा। उड़ गया यहाँ। आहाहा! उड़ गया क्या? उड़ा हुआ ही था। क्षेत्रभेद हो गया, इसलिए बाहर ऐसा लगता है। बाकी यहाँ भी क्षेत्र भेद है। जिस क्षेत्र में आत्मा है, उस क्षेत्र में शरीर नहीं, शरीर में आत्मा नहीं। आहाहा! आत्मा और शरीर का क्षेत्र दोनों भिन्न हैं। आहाहा!

स्वात्माश्रित आवश्यक को—कि जो संसाररूपी लता के मूल को छेदने का कुठार है... स्व आत्मा के आश्रय से होनेवाली क्रिया, निर्विकल्प आनन्द की, शान्ति की, वीतराग की क्रिया, संसाररूपी बेल-संसाररूपी लता / भव के मूल को छेदने का कुठार

है। उसके मूल को छेदने का कुठार है। आहाहा! यह शुद्धनिश्चय आवश्यक। संसाररूपी लता / बेल, विकल्प को मूल से छेदने में समर्थ है। आहाहा! उसे **यदि तू चाहता है...** आहाहा! उसे यदि तू चाहता है **तो तू समस्त विकल्प जाल रहित...** आहाहा! समस्त विकल्प जाल रहित। भगवान कहते हैं या गुरु कहते हैं कि मेरा भी विकल्प छोड़ दे। आहाहा! मेरे ऊपर नजर करेगा तो प्रभु! तुझे विकल्प होगा। तेरी प्रभुता का पता नहीं मिलेगा। आहाहा! तेरी प्रभुता का पता तो तेरी प्रभुता के स्वभाव से मिलेगा। आहाहा! ऐसी बात!

समस्त विकल्प जाल रहित... समस्त में कोई विकल्प बाकी नहीं कि मैं गुणी हूँ और यह ज्ञानगुण है, ऐसा भी जहाँ विकल्प नहीं। गुण-गुणी का भी जहाँ विकल्प नहीं। आहाहा! **समस्त विकल्प जाल रहित निरंजन निज परमात्मा के भावों में**—आहाहा! जिसमें निरंजन अर्थात् मलरहित निज परमात्मा-निज परमात्मा... आहाहा! जहाँ हो, वहाँ वाणी यह डाली है। निज परमात्मा; भगवान नहीं, पर परमात्मा नहीं। आहाहा! पर परमात्मा के ऊपर लक्ष्य जाएगा तो प्रभु! तुझे राग होगा। आहाहा! ऐसी बात है। व्यवहार की रुचिवाले को कठिन लगे कि यह तो बस निश्चय.. निश्चय.. निश्चय.. एक ही निश्चय। अर्थात् क्या? सत्य.. सत्य.. सत्य.. बात करते हैं। असत्य बात नहीं करते। व्यवहार असत्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार अपने आप छूट जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार तो राग है, वह अपने आप छूट जाता है, ऐसी दृष्टि / श्रद्धा तो पहले करे। बात ध्यान में, लक्ष्य में तो ले कि ऐसी चीज़ है। आहाहा!

निरंजन **निज परमात्मा के भावों में**—आहाहा! **यदि तू चाहता है तो तू समस्त विकल्प जाल रहित निरंजन निज परमात्मा के भावों में**—निज परमात्मा के भावों में, देखा? आहाहा! वह है तो अभेद, हों! परमात्मा के भावों में भेद नहीं है। परमात्मा के भाव में। अन्दर आनन्द, ज्ञान, दर्शन आदि भाव पड़ा है। आहाहा! **परमात्मा के भावों में**— अन्दर परमात्मा का कैसा भाव है? परमात्मा, निज परमात्मा। **सहज ज्ञान, सहज दर्शन,...** स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप ही है। उसकी उत्पत्ति नहीं, उसकी हानि-वृद्धि नहीं, उसका नाश नहीं, एकरूप रहनेवाला ज्ञान त्रिकाल सहजज्ञान, परमात्मा का एक भाव है। परमात्मा-भगवान आत्मा का तो वह भाव है। आहाहा! विकल्प का जाल है, वह आत्मा का भाव नहीं है। आहाहा!

सहज ज्ञान,... स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र और स्वाभाविक सुख, आहाहा! इत्यादि में। आदि अनन्त स्वभाव। भगवान आत्मा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त (स्वभाव है)। असंख्य से पार। अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं, अनन्त गुण पड़े हैं। आहाहा! सुख आदि-अनन्त **सतत-निश्चल स्थिर भाव करता है;...** यदि इच्छा हो वह सतत, निश्चय चलित बिना स्थिर भाव करता है। आहाहा! गाथा तो एक-एक... आहाहा! गजब गाथा है।

मुमुक्षु : निर्विकल्प समाधि की अद्‌भुत महिमा की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निर्विकल्प समाधि। आहा! आहाहा! लोगों की चिल्लाहट यह कि व्यवहार है तो होता है न, व्यवहार है तो होता है न! पहले व्यवहार आता है या नहीं? आता है, परन्तु उससे नहीं होता। आहाहा! क्या हो? जिसकी पर्याय के क्रम में जो आया हो, वह आवे। आहाहा! **स्थिरभाव करता है; उस हेतु से (अर्थात् उस कारण द्वारा) निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर,...** उससे निश्चयसामायिक उत्पन्न होती है। सच्ची सामायिक। आहाहा! सहज निजपरमात्मा के गुण में स्थिर निश्चयसामायिक होती है। आहाहा! **निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यक-क्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ?** आहाहा! **निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यकक्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ?** तुझे छह आवश्यक से क्या उत्पन्न हुआ? क्या सामायिक गुण उत्पन्न हुआ? आहाहा! विकल्प उत्पन्न होता है, वह तो राग है। आहाहा! इतना तो व्यवहार का निषेध आता है, उसका शोर (करते हैं)। व्यवहार का निषेध, सोनगढ़वाले व्यवहार का निषेध करते हैं। एकान्त है, एकान्त है। करे, पुकार करो, भगवान!

निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होने पर, मुमुक्षु जीव को बाह्य छह आवश्यक-क्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ? अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ... छह आवश्यक से अनुपादेय, हेय, नापसन्द करनेयोग्य, नहीं महिमा करनेयोग्य। आहाहा! छह आवश्यक का फल तो यह है, हेय है, पसन्द करनेयोग्य नहीं है। राग है, दुःख है। आहाहा! है न? **अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ ऐसा अर्थ है।** लो, आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१७१, श्लोक-२५५, गाथा-१४७-१४८, मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण ३, दिनांक ०१-०७-१९८०

इसमें से यह निकाला। यहाँ तक आया है न? **आवश्यकक्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ?** आत्मा में अन्दर वस्तु का भान नहीं होता और छह आवश्यक करे, इससे उसे क्या उत्पन्न हुआ? आहाहा! **अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ, ऐसा अर्थ है।** अनुपादेय **हेय; पसन्द न करनेयोग्य;...** यह क्रिया तो राग है। छह बाह्य आवश्यक है, वह तो राग की क्रिया है। आहाहा! अभी तो उसी राग की क्रिया को धर्म मानकर बैठे हैं। यहाँ कहते हैं कि छह प्रकार की बाह्य क्रिया जो है, उसका फल संसार है। वह राग है, शुभराग है और शुभराग का फल संसार है। आहाहा!

इसलिए... इस कारण से। जब बाह्य छह आवश्यक का फल उपादेय नहीं है और छोड़नेयोग्य है, **इसलिए अपुनर्भवरूपी (मुक्तिरूपी) स्त्री के सम्भोग...** जिसे आत्मा के आनन्द की मुक्ति चाहिए हो, आनन्द का लाभ, ऐसा जो मोक्ष, अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ, ऐसा जो मोक्ष, वह जिसे चाहिए हो, उसे उस मोक्षरूपी स्त्री का **सम्भोग और हास्य प्राप्त करने में...** अर्थात् आनन्द। आहाहा! मुक्तिरूपी स्त्री का अनुभव और आनन्द। मोक्ष अर्थात् आत्मा का पूर्ण स्वरूप आनन्द, उसका-आनन्द का अनुभव; वह जिसे चाहिए हो उसे। आहाहा! **हास्य प्राप्त करने में प्रवीण ऐसे निष्क्रिय...** यह छह आवश्यक है, वह तो सक्रिय-राग है। आहाहा! और छह आवश्यक बिना आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, उसे रागरहित की जो क्रिया, उसे यह निष्क्रिय कहा है। राग की अपेक्षा से छह आवश्यक जो व्यवहार है। राग को सक्रिय कहा। इस अपेक्षा से आतमा की निष्क्रिय क्रिया (अर्थात्) अकेले अतीन्द्रिय आनन्द का स्पर्श करना, अतीन्द्रिय ज्ञान के स्वभाव में एकाग्रता होना, उसका नाम निष्क्रिय क्रिया है, उसका नाम धार्मिक क्रिया है। आहाहा! बहुत कठिन काम। निर्विकल्प वीतरागी क्रिया, निर्मल पवित्र परिणति की क्रिया (करने पर) उस जीव को सामायिक चारित्र सम्पूर्ण होता है।

इस परम आवश्यक से **निष्क्रिय परम-आवश्यक से...** आहाहा! अन्तर में आनन्दस्वरूप भगवान को राग की क्रिया बिना स्वाभाविक क्रिया को यहाँ निष्क्रिय कहा है। राग को क्रिया कहा, तब आत्मा की मोक्षमार्ग की क्रिया-धर्मक्रिया को निष्क्रिय कहा

है। जब द्रव्य को निष्क्रिय कहना हो, तब तो इसको सक्रिय कहा जाता है, वरना राग की अपेक्षा से इसे निष्क्रिय कहा जाता है। आहाहा! परम आवश्यक से जीव को... आहाहा! परम समता रागरहित आत्मा के आनन्द के अनुभव से होनेवाली जो सामायिक, इसका नाम सामायिक। आहाहा! यह दुनिया करके बैठे जो यह आसन बिछाया, नमोत्थुणं और अरिहंताणं, नवकार और तिक्खुत्तो और इच्छामि पडिकमण (बोले तो) हो गयी मानो सामायिक। वह सामायिक नहीं है। ऐसा तो अनन्त बार किया है। आहाहा!

आत्मा का अन्तरज्ञान जो परम पवित्र परमात्मस्वरूप, उसका अनुभव, उसका ज्ञान, उसका अनुभव और उसमें स्थिरता—ऐसा जो निष्क्रिय, उस निष्क्रिय परम आवश्यक से जीव को सामायिक चारित्र सम्पूर्ण होता है। उसे समता पूर्ण-पूर्ण प्राप्त होती है। आहाहा! सब दुनिया से विरुद्ध। सम्प्रदाय में चले, उससे बात विरुद्ध चली है। सम्प्रदाय में सत्य बात छोड़ दी और असत्य पर सब चढ़ गया है। आहाहा! सामायिक, चौविसंथो, वन्दना, प्रतिक्रमण, भक्ति, पूजा, व्रत यह सब राग की क्रिया है। यह राग तो संसार है। यह कोई धर्म की क्रिया नहीं है। धर्म की क्रिया तो यह निष्क्रिय जो आवश्यक क्रिया, राग के विकल्प रहित, आत्मा के निर्विकल्पस्वभाव की जो क्रिया / परिणति, उसका नाम सामायिक की प्राप्ति है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें!

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री योगीन्द्रदेव ने (अमृताशीति में ६४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्,
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसङ्गः।
तदनवरत-मन्त-र्मग्न-सम्विग्न-चित्तो,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम्॥

श्लोकार्थ : आहाहा! **यदि किसी प्रकार मन निज स्वरूप से चलित हो...** आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द और चैतन्यमूर्ति है। वीतरागस्वरूपी आत्मा है, उसमें से मन चलित हो। **किसी प्रकार...** आहाहा! संसार के काम के लिये या धर्म के नाम से मन में किसी प्रकार से भी निज स्वरूप से चलित हो। आहाहा! शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा, उसके निजस्वरूप से मन किसी भी प्रकार से यदि धर्म के नाम

से भी चलित हो **और उससे बाहर भटके...** आहाहा! अन्तर में न जाकर मन बाहर भ्रमे **तो तुझे सर्व दोष का प्रसेग आता है...** आहाहा! अन्तर प्रभु चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को छोड़कर मन कुछ भी बाहर में जाए तो सब दोष का प्रसंग आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : सब दोष अर्थात ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ये राग-द्वेष सब, मिथ्या भ्रान्ति सब। यह ठीक करता हूँ, यह मिथ्यात्व के साथ सभी दोष इकट्ठे आते हैं। आहाहा! अकेला मन बाहर जाए तो अकेला दोष चारित्र का है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। उसे वापस अपना माना लाभदायक और मिथ्यात्वसहित... आहाहा! **सर्व दोष का प्रसंग आता है,...** मन बाहर जाने पर उससे लाभ मानने से सर्व दोष का प्रसंग आता है। आहाहा! ऐसी बात अब। वाड़ा में तो सुनी न हो। जिन्दगी मजदूरी-मजदूरी करके निकाली हो। चिमनभाई! यह क्या तुम्हारा धन्धा बड़ा मजदूर का है, पूरे दिन। भले पाँच-पच्चीस लाख पैदा करे, परन्तु बड़ा मजदूर। आत्मा अन्दर मन का संग करे... कहते हैं। आहाहा! तो सब दोष का प्रसंग होता है। आहाहा! आत्मा मन का प्रसंग-संग करे। क्योंकि आत्मा प्रभु मनरहित चीज़ है। उसमें मन नहीं है। वह मनरहित चीज़ आत्मा अन्दर है, उसे छोड़कर यह आत्मा मन का संग करे, मन का प्रसंग करे। आहाहा!

किसी प्रकार मन निज स्वरूप से चलित हो... आहाहा! भ्रमणा से, राग से, प्रेम से, शुभ से, अशुभ से, किसी भी प्रकार से मन चलित हो... आहाहा! और उससे बाहर भ्रमे, आहाहा! चैतन्य भगवान के अतिरिक्त मन बाहर भ्रमे, अरे! मन पंच परमेष्ठी का स्मरण करे तो भी वह संसार है, राग है। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा! कहा न ? **उससे बाहर भटके तो तुझे सर्व दोष का प्रसंग आता है,...** उसमें अपना वापस कुछ ठीक करता हूँ, यह भी साथ ही अन्दर माने, इसलिए मिथ्यात्व भी साथ ही आता है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया ?

आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु वीतरागमूर्ति आत्मा है। कहते है, उसे राग के प्रसंग में मन को जोड़े तो सर्व दोष का प्रसंग आता है। चारित्रदोष का तो आवे, परन्तु 'ठीक करता हूँ'—ऐसी बुद्धि होवे, वह मिथ्यात्व का दोष भी साथ में आता है। आहाहा! समझ में आया ? अब एक ओर दुकान और धन्धा मुम्बई के-मोहनगरी के; और एक ओर ऐसी

बात। कोई पूर्व-पश्चिम का मिलान खाये, ऐसा नहीं होता। आहाहा! पूरे दिन...

मुमुक्षु : धन्धा करते हैं, पैसा कमाते हैं, फिर यहाँ बैठते है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में, परन्तु मर जाएगा बीच में तो पैसा कमाना कहाँ? पैसा कमाने से पहले बीच में मर जाएगा तब? कब देह छूट जाएगी? देह छूटी ही पड़ी है। उसका क्षेत्र भी भिन्न है, उसका काल भिन्न; भगवान आत्मा का काल और क्षेत्र भिन्न है। वह यहाँ से क्षेत्र बाह्यरूप से क्षेत्र भिन्न पड़ा, साथ में देह छूट जाएगी। आहाहा! इसके भरोसे रहकर... पहले कमायेंगे और फिर करेंगे... आहाहा!

यह यहाँ कहा। बाहर में मन को कहीं भी जोड़े... आहाहा! अरे! वांचन में, श्रवण में, मनन में, लेखन में भी जोड़े (तो) **सर्व दोष का प्रसंग आता है,...** आहाहा! भगवान स्व-आश्रय छोड़कर और पराश्रय में मन में जुड़े, उसे सर्व दोष का प्रसंग आता है। आहाहा! कठिन काम है। **इसलिए तू...** इस कारण से तू **सतत अन्तर्मग्न...** आहाहा! **सतत अन्तर्मग्न...** करना। ऐसा है न? **अन्तर्मग्न और संविग्न चित्तवाला हो...** आहाहा! इसलिए तू निरन्तर अन्तर्मग्न। ज्ञानानन्दस्वभाव को एक समय भी भूल नहीं, भाई! तेरा प्रभु वह है। उसे एक समय भी भूला तो भ्रमित हो गया। सब दोष आयेंगे। आहाहा! इसमें बड़े धन्धे के (कारण) निवृत्ति नहीं मिलती। यह विचार करने की निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन यह किया... यह किया... यह किया और यह किया... आहाहा!

इसलिए तू... इसलिए अर्थात् क्या? स्वरूप से—चैतन्य भगवान से मन को कहीं भी यदि बाहर जोड़ दिया... आहाहा! सर्व दोष का प्रसंग आयेगा। **निज स्वरूप से चलित हो और उससे बाहर भटके तो तुझे सर्व दोष का प्रसंग आता है, इसलिए तू सतत अन्तर्मग्न...** आहाहा! निरन्तर भगवान आनन्दस्वरूप में लीनता निरन्तर कर। आहाहा! और मन के जुड़ान में गया तो दोष का पार नहीं आयेगा। आहाहा! पार नहीं आयेगा, इसका अर्थ? दोष भी बहुत और दोष का अन्त भी नहीं आयेगा। आहाहा! और इसमें (अन्तर्मग्नता में) दोष उत्पन्न होंगे नहीं और दोषों का अन्त आकर सच्ची सामायिक होगी, मुक्ति मिलेगी। अन्तर आत्मा में ध्यान और स्वरूप में अन्दर एकाग्रता से समता मिलेगी, समकित मिलेगा, चारित्र मिलेगा और मुक्ति मिलेगी। आहाहा! कहो, सुमनभाई! ऐसी बातें हैं। सवेरे की अलग और और यह रात्रि की अलग। आहाहा!

जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा। आहाहा! संवेगी, वैरागी। मन से भी विरक्त और आत्मा में रक्त, ऐसी विरक्तता के कारण... आहाहा! **संविग्न चित्तवाला हो कि जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी...** आहाहा! कायम रहनेवाला। यह देह तो क्षण में आवे और चली जाए। आहाहा! निगोद के भव, देखो न! एक अन्तर्मुहूर्त में ६६ हजार भव किये। याद किसे? भगवान जाने। यह वर्तमान में है, वह (सर्वस्व हो गया)। निगोद लहसुन और प्याज, उसके अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ भव किये, अन्तर्मुहूर्त में। ऐसे अनन्त अन्तर्मुहूर्त में। आहाहा! भूल गया। मनुष्य हुआ, वहाँ भूल गया। आहाहा! जन्मा तो ऊआं... ऊआं... ऊआं.... वह वहाँ का वहाँ और यहाँ का यहाँ अब हमारे हो गया। आहाहा! कुछ भान नहीं होता। जन्मे तब पहले आँख नहीं उघाड़ता। जन्मे तब पहले ऊआं.. ही पहले करता है। जन्म होता है न? वह बालक पहले आँख नहीं उघाड़ता। ऊआं.. आवाज करता है। आहाहा! तब उसकी माँ खोजती है कि यह लड़की है या लड़का। आहाहा! ऐसे अवतार।

कहते हैं, सब मन के प्रसंग के कारण यह सब बनते हैं; आहाहा! इसलिए मन के इस प्रसंग को छोड़कर संविग्न चित्तवाला हो। आहाहा! संवेगी-वैरागी। वैराग्य तो उसे कहते हैं कि शुभ और अशुभभाव से भी भिन्न पड़े, उसका नाम वैराग्य। पूरी दुनिया से भिन्न पड़े, तब वैराग्य कहलाता है। आहाहा! अन्तर में शुभभाव से भी भिन्न पड़े, उसे वैराग्य कहा जाता है। और शुभ से भी जहाँ भिन्न पड़ा तो पूरी दुनिया से भिन्न (पड़ गया)। आहाहा! पंच परमेष्ठी, सिद्ध भगवान से भी भिन्न (पड़ा)। ऐसा संविग्न अर्थात् वैरागी अर्थात् कि विरक्त। आहाहा! ऐसा विरक्त चित्तवाला हो। आहाहा! मुनिराज कहते हैं, ऐसा हो न, प्रभु!

जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा। आहाहा! इससे मोक्षरूपी स्थायी धाम—कायम रहनेवाला। यहाँ तो पाँच-पच्चीस, पाँच-पचास वर्ष रहे और मरकर कहीं चार गति में भटकने चला जाएगा। आहाहा! नरग और निगोद, शूकर और... आहाहा! रींछ और शूकर में जन्मेगा। आहाहा! परन्तु यह संविग्न-विरक्त से मोक्षरूपी स्थायी धाम-स्थिर रहनेवाले, कायम रहनेवाले धाम को प्राप्त करेगा, उसका अधिपति होगा। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

और (इस १४७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):— यह तो आधार दिया। अब स्वयं टीका (श्लोक) करते हैं।

श्लोक-२५५

और (इस १४७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येवं चरणं निजात्म-नियतं सन्सार-दुःखापहं,
मुक्तिश्रीललना-समुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।
बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा,
सोऽयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ।।२५५।।

(वीरछन्द)

इस प्रकार यदि भवदुःख नाशक आत्मनियत चारित्र हो तो।
मुक्तिश्री से होनेवाले सुख का अतिशय कारण हो॥
यही जानकर जो मुनि निर्मल समयसार का करते ज्ञान।
बाह्य क्रिया के त्यागी पाप वनों को दाहक अग्नि समान॥२५५॥

[श्लोकार्थः] यदि इस प्रकार (जीव को) संसारदुःखनाशक [1]निजात्मनियत चारित्र हो, तो वह चारित्र मुक्तिश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले सुख का अतिशयरूप से कारण होता है;—ऐसा जानकर जो (मुनिवर) निर्दोष समय के सार को सर्वदा जानता है, ऐसा वह मुनिपति—कि जिसने बाह्य क्रिया छोड़ दी है वह—पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है॥२५५॥

श्लोक - २५५ पर प्रवचन

यद्येवं चरणं निजात्म-नियतं सन्सार-दुःखापहं,
मुक्तिश्रीललना-समुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।

१. निजात्मनियत=निज आत्मा में लगा हुआ; निज आत्मा का अवलम्बन लेता हुआ; निजात्माश्रित; निज आत्मा में एकाग्र।

बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा,
सोऽयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ।।२५५।।

श्लोकार्थः यदि इस प्रकार (जीव को) संसारदुःखनाशक... संसार के दुःख का नाश करनेवाले। भगवान आत्मा की दृष्टि और अनुभव है, वह पुण्य-पाप के भाव संसार का नाश करनेवाले हैं। आहाहा! संसार दुःख का नाशक **निजात्मनियत चारित्र...** है ? **निज आत्मा में लगा हुआ;...** नियत है न ? **निज आत्मा का अवलम्बन लेता हुआ; निजात्माश्रित; निज आत्मा में एकाग्र।** निजात्मनियत। अपने आत्मा में निश्चय, स्थिरता। मन में जुड़ान वह कहीं अपने आत्मा में स्थिरता नहीं है; वह तो व्यग्रता है। आहाहा! **संसारदुःखनाशक निजात्मनियत चारित्र...** निज आत्मा अपना, उसमें नियत-निश्चयचारित्र। निश्चयस्वरूप में रमणता, वह निश्चयचारित्र। आहाहा! क्रिया-ब्रिया सब वह कोई चारित्र-वारित्र नहीं है। आहाहा! वाड़ा में तो अभी यही सब चलता है।

मुमुक्षु : वाड़ा में तो चिभड़ा ही उगे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! सत्य बात कहने जाए तो कहे, ऐ... ! एकान्त है-एकान्त है। व्यवहार मानते नहीं। व्यवहार मानते नहीं, ऐसा नहीं है। व्यवहार है, परन्तु व्यवहार का फल संसार है। व्यवहारनय नहीं है-ऐसा नहीं है। व्यवहारनय है, व्यवहारनय का विषय है और उसका फल भी है। व्यवहारनय अर्थात् ज्ञान का अंश। तो ज्ञान का अंश तो उसका तो उसका ज्ञेय अर्थात् वस्तु है। राग, भेद-यह सब उसका विषय है और नय है, वह विषयी है। इसलिए उसका-व्यवहार का विषय है। व्यवहार नहीं है - ऐसा नहीं है, परन्तु उसका फल संसार है। आहाहा!

निजात्मनियत चारित्र.... भाषा देखो! आहाहा! निजात्मनियत चारित्र। अपने आत्मा में निश्चयचारित्र। आहाहा! अपना जो शुद्ध चैतन्यघन आत्मा है, उसमें नियत-निश्चय से रमना, वह चारित्र **होवे, तो वह चारित्र मुक्तिश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले...** आहाहा! यह संसाररहित आनन्द की पूर्णदशारूप वह मुक्ति, उस सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले **सुख का अतिशयरूप से कारण होता है;—**आहाहा! मन बाहर भ्रमे तो सब दोष उत्पन्न होते हैं। आत्मा में नियत चारित्र होवे तो सब गुण उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

निजात्मनियत चारित्र हो, तो वह चारित्र मुक्तिश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले सुख का अतिशयरूप से कारण होता है;— निजात्मा का आश्रय करने पर, अपने भगवान आत्मा का आश्रय और अवलम्बन करने पर मुक्तिरूपी सुन्दरी से उत्पन्न होनेवाले सुख का अतिशय कारण होता है। उस आनन्द का कारण होता है। आहाहा! **ऐसा जानकर...** ऐसा जानकर कि **जो (मुनिवर) निर्दोष समय के सार को सर्वदा जानता है,...** आहाहा! निर्दोष समय का सार वीतरागता। आहाहा! निर्दोष समय के सार को सर्वदा जानता है। आहाहा! पूरी भाषा अलग प्रकार की पूरा। आहाहा! बाहर में तो यह चलता है (कि) व्यवहार साधन है, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है; व्यवहार कारण है, निश्चय कार्य है; व्यवहार पहले आवे और निश्चय का फल बाद में आवे। आहाहा! अरे रे! यहाँ कहते हैं कि व्यवहार में मन बाहर गया, उसका फल संसार है। यह व्यवहार का फल कहा। आहाहा!

अन्तर्मुख निजात्म नियत चारित्र से सुख का अतिशयरूप से कारण होता है। आत्मा का चारित्र... आहाहा! सहज सुखस्वरूप भगवान आत्मा का जो चारित्र अर्थात् रमण दशा, सुख का कारण होता है। यह पैसा, स्त्री, पुत्र, सुख का कारण होता है, ऐसा नहीं कहा। यह तुम्हारे हीरा-माणिक वह सुख का कारण (नहीं कहा)।

मुमुक्षु : मुनि ऐसा कहेंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। मुनि की बात कहाँ? आहाहा!

सवेरे आया नहीं था? कि दीपक दूसरे को प्रकाशित करता है परन्तु दीपक प्रकाशित करता है, उसके पास नहीं जाता तथा उस दीपक को दूसरी चीज़ प्रकाशित नहीं करती तथा वह दीपक दूसरी चीज़ को उत्पन्न नहीं करता तथा दूसरी चीज़ दीपक को उत्पन्न नहीं करती। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यरूपी दीपक, वह रागादि परचीज़ को उत्पन्न करता ही नहीं और रागादि आत्मा के ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते। आहाहा! अब ऐसा कब जँचे? आहाहा! जैसे वह दीपक जिस चीज़ को प्रकाशित करता है, वह चीज़ दीपक को विक्रिया-विपरीत नहीं कर सकती तथा वह दीपक उस चीज़ को उत्पन्न नहीं कर सकता, तथा बदला नहीं सकता। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा...

यह लोहचुम्बक का दृष्टान्त दिया था न ? जैसे लोहचुम्बक सुई को खींचे, वैसे दीपक जिसे प्रकाशित करे, उसे खींचता नहीं है और जो प्रकाशित करता है, वह चीज़ भी दीपक को खींचती नहीं है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा जिसे जानता है, उसे खींचता नहीं है। उससे जीव भिन्न रहता है। आहाहा ! इसी प्रकार स्वयं ज्ञान परचीज़ को खींचता नहीं, लाता नहीं। ज्ञानस्वरूप तो ज्ञान में रहता है। रागस्वरूप और पुण्य स्वरूप को बाहर के फलस्वरूप वे उनमें रहते हैं। आहाहा ! प्रभु तो प्रकाशमय है। दीपक की भाँति चैतन्य तो प्रकाशमय है। आहाहा ! दीपक दूसरी चीज़ को प्रकाशित करे, इससे दीपक में कहीं विक्रिया आवे, ऐसा नहीं है तथा वह दीपक का प्रकाश जिसे प्रकाशित करे, उससे प्रकाशित है, ऐसा नहीं है। तथा दीपक जिसे प्रकाशित करता है, वह प्रकाश उस चीज़ को लाता है और उस चीज़ को रचता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! दृष्टान्त छोड़ दिया था, एकदम फिर सिद्धान्त लिया था। बाकी दृष्टान्त में यह है। आहाहा !

दीपक समान चैतन्यप्रभु, दूसरी चीज़ को प्रकाशित करते हुए दूसरी चीज़ उसे विक्रिया नहीं कर सकती तथा दीपक, वह जिसे प्रकाशित करता है, उसे लाता नहीं, उसे रचता नहीं। आहाहा ! दीपक जिसे प्रकाशित करता है, उसकी उत्पत्ति दीपक नहीं करता। आहाहा ! और जिसे प्रकाशित करता है, वह दीपक तो उत्पन्न नहीं करता।

इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य दीपक जिस चीज़ को प्रकाशित करता है, यह व्यवहार, वह भी अभी व्यवहार है। आहाहा ! हरिभाई ने प्रश्न किया था न ?— कि पर को जानता है न ? पर को जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। पर को कर्ता तो नहीं, पर में तो नहीं, पर उसके कारण नहीं परन्तु पर को जानना, वह भी व्यवहार है। आहाहा ! ऐसी बात सम्प्रदाय को कठिन लगती है, निश्चय लगती है, एकान्त लगती है। क्या हो ? भाई ! प्रभु ! मार्ग तो यह है। सत्य का सत् परमसत्य शरण तो यह है। इसके अतिरिक्त कहीं कोई चीज़ शरण है नहीं। सच्चिदानन्द प्रभु, ज्ञानानन्द का धारक आत्मा, वही शरण है; दूसरी कोई चीज़ शरण नहीं है। आहाहा ! आत्मा से बाहर मन गया तो चार गति में भटकना है, ऐसा कहते हैं। आहाहा !

भगवान आत्मा चैतन्य की ज्योति अन्दर दीपक है, चैतन्य दीपक है, आनन्द का समुद्र है। उसमें से यदि मन को बाहर रखा तो सब दोष की उत्पत्ति है और मन छोड़कर

अन्दर में गया, एकाग्र (हुआ) तो सब गुण की उत्पत्ति है। आहाहा! यह बात कहाँ जँचे? दीपक के दृष्टान्त से यह कहा है। दृष्टान्त व्यर्थ नहीं दिया है।

लोहचुम्बइ सुई को खींचती है और सुई खिंच जाती है; इसी प्रकार दीपक प्रकाशित करता है, इसलिए दूसरी चीज़ उसे खींचती है या दीपक दूसरी चीज़ को खींचता है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा पर को जानने पर, व्यवहार से जानने पर, पर में नहीं जाता, पर को नहीं खींचता, समीप या असमीप, उस जानेनवाले प्रभु के पास समीप वस्तु हो या असमीप हो, वह तो जाननेवाला, जाननेवाला ही है। समीप हो या असमीप हो। यह चैतन्य दीपक भगवान अन्दर देह में हड्डियों के पीछे... यह तो हड्डियाँ-माँस है, इनके पीछे रहा हुआ चैतन्य दीपक, वह चैतन्य दीपक... आहाहा! पर को प्रकाशते हुए पर में नहीं जाता, तथा पर के कारण जानता है, ऐसा नहीं है। यह तो भगवान आत्मा चैतन्य जाननहार प्रकाशमूर्ति है। आहाहा! कहाँ से आवे सुनने? अन्दर में चीज़ मिलती नहीं। अनादि से चार गति में रखड़पट्टी है। आहाहा! बाहर सत्य सुनने को मिलता नहीं, उसमें अन्दर यह (करना)... ओहोहो! परन्तु क्या बात की है!

ऐसा जानकर... कैसा जानकर? कि संसार के दु:खनाशक निजात्म निज चारित्र है, ऐसा जानकर। मन का चारित्र मन के कारण से शुभरागादि क्रिया (होवे), वह कोई दु:ख का नाशक नहीं है। आहाहा! **ऐसा जानकर...** ऐसा जानकर अर्थात्? संसार दु:ख का नाश करनेवाला तो निजात्म चारित्र ही है। दूसरी कोई चीज़ दु:ख का नाश करनेवाली, संसार का अभाव करनेवाली है ही नहीं, ऐसा जानकर... आहाहा! **जो (मुनिवर)...** मुख्य तो उनको उपदेश है न? **समय के सार को सर्वदा जानता है,...** समय अर्थात् भगवान आत्मा, उसका सार जो शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द उसे जो सर्वदा जानता है। सर्वदा। एक क्षण में जाना और फिर गिर गया, हो गया, समाप्त, ऐसा नहीं। आहाहा! कोई काललब्धि पक गयी हो और एक क्षण कोई आ गया हो, वह तो कुछ वस्तु नहीं। आहाहा! वापस मिथ्यात्व में ठिकाने पड़े वह का वह। आहाहा! पर के काम करना, पर से मान लेना, पर में पुष्टि करना, उसकी यह दशा वापस है।

यहाँ यह कहते हैं कि **ऐसा जानकर जो (मुनिवर) निर्दोष समय के सार को सर्वदा जानता है,...** आहाहा! मुनिवर चैतन्यमूर्ति को सर्वदा जानते हैं। किसी समय जाने

और किसी क्षण (न जाने), ऐसा नहीं है। आहाहा! **ऐसा वह मुनिपति—कि जिसने बाह्य क्रिया छोड़ दी है...** आहाहा! जिसने मन के संग की क्रिया, राग की क्रिया छोड़ी है। आहाहा! यह व्यवहार है। छोड़ी है, वह व्यवहार है और पर को जानता है, वह व्यवहार है तो यह छोड़ी तो फिर कहीं व्यवहार है। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, वह अतीन्द्रिय आनन्द में रमे, रहे अर्थात् पर में न जाए, उसे पर छोड़ता है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! कथनशैली क्या करे? व्यवहार बिना का कथन। यह व्यवहार का कथन आवे तो मान बैठे कि यह वस्तु है। आहाहा!

जिसने बाह्य क्रिया छोड़ दी है... आहाहा! मुनिवर उसे कहते हैं, जिसने अतीन्द्रिय आनन्द की रमणता में बाह्य क्रिया छोड़ी है। बहिन नहीं आये। नहीं? आहाहा! **वह—पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है।** आहाहा! जिसने बाह्य राग की क्रिया है, वह छोड़ी है और भगवान चिदानन्द प्रभु वीतरागमूर्ति आत्मा को अवलम्बन कर वीतरागी क्रिया की है। आहाहा! वह **पापरूपी अटवी...** आहाहा! वह पुण्य और पाप के भाव दोनों पापरूपी बड़ा वन-अटवी है। आहाहा! पुण्य और पाप के दोनों भाव, **पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है।** आहाहा!

एक-एक शब्द में कितना भरा है! अब लोगों को ऐसा लगे एकान्त है.. एकान्त है.. अभी ऐसा नहीं होता, अभी व्यवहार होता है। एक श्रुतसागर साधु है न? शान्तिसागर के अनुगामी, (वह कहते हैं), अभी शुभभाव ही होता है। ऐसी प्ररूपणा करते हैं। अभी दूसरा भाव शुभ के अतिरिक्त होता ही नहीं। आहाहा! अरे रे! अन्तर जाने की आवश्यकता है, इतना भी नहीं मानते। शुभभाव से कुछ भी आत्मा को लाभ नहीं है। सर्व दोष की उत्पत्ति का स्थान शुभभाव है। आहाहा! क्योंकि शुभभाव, वह संसार है, राग है; वह राग सर्व दोष की उत्पत्ति का स्थान है। भगवान आत्मा रागरहित चीज़ है। वह सब गुणों की उत्पत्ति का स्थान है। स्थायी, कायम रहनेवाले गुण में मुक्ति के गुणों की उत्पत्ति का स्थान प्रभु है। आहाहा! ऐसा एकान्त लगे न? पण्डितजी! लोगों को यह एकान्त लगे। वाड़ा में... यह तो एकान्त... एकान्त... आत्मा... आत्मा... आत्मा... आहाहा!

श्रीमद् में एक पत्र आता है। वे आधार दे। ऐसा कि अन्तर में बहुत थक जाए, तब शुभभाव में थोड़ा विश्राम ले, परन्तु शुभभाव विश्राम कहाँ है? आहाहा! अरे रे! विश्राम तो

आत्मा है। शुभभाव अविश्राम है। वह है उसमें लेख। भाई ऐसा कहते थे। छोटालाल ब्रह्मचारी नहीं थे? इन्दौर में। छोटालाल ब्रह्मचारी इन्दौर आश्रम में थे, वे यहाँ आते न, वे बहुत बार (कहते थे)। पहले यह बात बैठी थी, फिर और वापस बदल गयी। शुभ जरा विश्राम लेने का स्थान है। शुभ में विश्राम ले, फिर थक जाए तो अन्दर जाए। आहाहा! ऐसा कहते थे परन्तु फिर बाद में बदल गया। बाद में यहाँ आकर (कहे), झूठ बात है। ऐसा नहीं, बापू! ऐसा नहीं।

शुभभाव को तो यहाँ घोर संसार कहा है, भाई! वह उदयभाव है, वह स्वभाव पारिणामिकभाव से भिन्न है, पूरब-पश्चिम की दशा है, बापू! आहाहा! तू कौन और राग कौन? भाई! तू परमेश्वर और राग रंक। आहाहा! तू बड़ा परमेश्वर प्रभु अनन्त गुण का धाम (और) राग रंक। एक समय रहे और नाश हो जाए तथा वह फल दे तो दुःख दे। आहाहा! ऐसा सुनना, पण्डितजी! मुश्किल पड़ गया है। सब बाहर की सबने लगायी है, इसलिए कठिन पड़ गया। यह तो भाग्यशाली इस बात को सुनने आये हैं। सुनें, रुचे, सुहावे। आहाहा! एकदम निराला प्रभु... निजात्म चरित्र, ऐसा कहा न?

बाह्य क्रिया छोड़ दी... राग की क्रिया शुभ आदि है, उसे छोड़कर **पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है।** पुण्य और पापरूपी संसार का नाश करनेवाला भगवान है। आहाहा! यह पुण्य और पाप की उत्पत्ति करनेवाला प्रभु आत्मा नहीं है। आहाहा! शुभभाव को उत्पन्न करनेवाला भी आत्मा नहीं है। आहाहा! उसने बाह्य क्रिया छोड़ी है, वह पापरूपी अटवी, पापरूपी बड़ा वन, शुभ और अशुभभाव बड़ा वन... आहाहा! उसे (जलाने के लिये) अग्नि समान है। उसे जलानेवाला है, उसे रखनेवाला नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा की जहाँ रक्षा करता है, तब वह पुण्य-पाप को जलानेवाली अग्नि है। ऐसी वस्तु है। कहो, यशपालजी! आहाहा!

गाथा-१४८

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्त-कमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा।।१४८।।

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः।
पूर्वोक्त-क्रमेण पुनः तस्मा-दावश्यकं कुर्यात्।।१४८।।

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम्। अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवन्दना-प्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमा-ध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थः। पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चय-धर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति।

रे श्रमण आवश्यक-रहित चारित्र से प्रभ्रष्ट है।
अतएव आवश्यक करम पूर्वोक्त विधि से इष्ट है॥१४८॥

अन्वयार्थ : [आवश्यकेन हीनः] आवश्यक रहित [श्रमणः] श्रमण [चरणतः] चरण से [प्रभ्रष्टः भवति] प्रभ्रष्ट (अति भ्रष्ट) है; [तस्मात् पुनः] और इसलिए [पूर्वोक्तक्रमेण] पूर्वोक्त क्रम से (पहले कही हुई विधि से) [आवश्यक कुर्यात्] आवश्यक करना चाहिए।

टीका : यहाँ (इस गाथा में) शुद्धोपयोगसम्मुख जीव को शिक्षा कही है।

यहाँ (इस लोक में) व्यवहारनय से भी, समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि छह आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र परिभ्रष्ट (चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट) है; शुद्धनिश्चय से, परम-अध्यात्मभाषा से जिसे निर्विकल्प-समाधिस्वरूप कहा जाता है, ऐसी परम आवश्यक क्रिया से रहित श्रमण निश्चयचारित्रभ्रष्ट है—ऐसा अर्थ है।

(इसलिए) स्ववश परमजिनयोगीश्वर के निश्चय-आवश्यक का जो क्रम पहले कहा गया है, उस क्रम से (-उस विधि से), स्वात्माश्रित ऐसे निश्चय-धर्मध्यान तथा निश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप से, परम मुनि सदा आवश्यक करो।

गाथा - १४८ पर प्रवचन

---

१४८ गाथा।

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्त-कमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा।।१४८।।

रे श्रमण आवश्यक-रहित चारित्र से प्रभ्रष्ट है।
अतएव आवश्यक करम पूर्वोक्त विधि से इष्ट है॥१४८॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) शुद्धोपयोगसम्मुख जीव को शिक्षा कही है। आहाहा! यह क्रिया जितनी है, वह सब अशुद्धोपयोग है। आहाहा! वह अशुद्धोपयोग छोड़कर शुद्धोपयोग-सन्मुख जीव को, अन्तर शुद्धोपयोग जो शुभ-अशुभरहित... आहाहा! शुभ-अशुभभावरहित शुद्धोपयोग-सन्मुख हुआ है अर्थात् कि शुभ से भी छूटकर अब अन्दर में जाना चाहता है। आहाहा! ऐसे जीव को शिक्षा दी है। आहाहा! ऐसे आत्मा को यह शिक्षा दी है, कहते हैं।

यहाँ (इस लोक में) व्यवहारनय से भी, समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि छह आवश्यक से रहित श्रमण... यह छह प्रकार के व्यवहार हैं, इनसे भी भ्रष्ट है, वह **चारित्र परिभ्रष्ट (चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट) है;...** देखो विशिष्टता! निश्चय तो है परन्तु छह व्यवहार से भ्रष्ट है तो भी वह भ्रष्ट है। शुभभाव में न रहे और अशुभ में आ जाता है (वह भ्रष्ट है)। आहाहा! ऐसी बात है। **व्यवहारनय से भी,...** आहाहा! **समता,...** व्यवहार **स्तुति,...** प्रभु की **वन्दना,...** गुरु की। **प्रत्याख्यान...** वस्तु का **आदि छह आवश्यक से रहित श्रमण...** व्यवहार के छह आवश्यक से रहित है, वह भी **श्रमण चारित्र परिभ्रष्ट (चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट) है;...** क्योंकि वह अशुभ में है। आहाहा! शुभ में जो नहीं है। निश्चयसहित की बात है, हों! अकेला व्यवहार नहीं। निश्चय जहाँ है और व्यवहार नहीं

तो भी चारित्र से भ्रष्ट है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्योंकि उस जगह व्यवहार आये बिना रहता नहीं। जहाँ पूर्ण स्वरूप नहीं, वहाँ शुभराग आता है। व्यवहारनय का विषय होता है, आता है। भले उसका फल दूसरा हो परन्तु वह आये बिना नहीं रहता। छह आवश्यक का विकल्प ही न हो, अकेला निर्विकल्प ही कोई मुनि हो, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! वह तत्काल एकदम अन्दर में चौथे, पाँचवें से सातवें में चढ़कर गया हो, स्थिर (हुआ तो) अन्तर्मुहूर्त में श्रेणी माँडकर केवल (ज्ञान) हो जाता है, यह बात अलग। आहाहा! परन्तु जो कोई निश्चयसहित व्यवहार से भी भ्रष्ट है, निश्चयसहित की बात है, निश्चय तो है परन्तु यदि इस व्यवहार से भी भ्रष्ट है। आहाहा! चारित्र।

छह आवश्यक से रहित श्रमण चारित्र परिभ्रष्ट (चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट) है; शुद्धनिश्चय से, परम-अध्यात्मभाषा से जिसे निर्विकल्प-समाधिस्वरूप कहा जाता है ऐसी परम आवश्यक क्रिया से रहित... आहाहा! जब निश्चय आत्मा के अवलम्बन में है और फिर छह आवश्यक भी नहीं है, व्यवहार के शुभविकल्प भी नहीं है, वह भी भ्रष्ट कहा जाता है। आहाहा! तो **शुद्धनिश्चय से, परम-अध्यात्मभाषा से...** आहाहा! **जिसे निर्विकल्प-समाधिस्वरूप कहा जाता है...** रागरहित शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... ऐसा जिसे कहने में आता है, **ऐसी परम आवश्यक क्रिया से रहित...** ऐसी जो निश्चय की परम क्रिया से रहित, वह **श्रमण निश्चयचारित्रभ्रष्ट है—** वह व्यवहारचारित्र भ्रष्ट है, यह निश्चयचारित्र भ्रष्ट है। आहाहा! व्यवहार आता है न ? शाम-सवेरे प्रतिक्रमण में व्यवहार में आवे परन्तु उसका जोर है निश्चय में। विकल्प आता है परन्तु जोर निश्चय में है। आदरणीय नहीं परन्तु आये बिना नहीं रहता और न ही हो तथा निश्चय अकेला करे तो भी कहते हैं भ्रष्ट है, तो फिर निश्चय जहाँ नहीं, वहाँ तो भ्रष्ट में भ्रष्ट है। निश्चय से भी भ्रष्ट है और व्यवहार से भी भ्रष्ट है। आहाहा! कहा ?

(चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट) है;... व्यवहार नहीं, वहाँ चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट है। इसलिए **शुद्धनिश्चय से, परम-अध्यात्मभाषा से जिसे निर्विकल्प-समाधिस्वरूप कहा जाता है...** आहाहा! 'समाहिरमुत्तम दिंतु' लोगस्स में आता है, नहीं ? कहाँ अर्थ की खबर होती ? पहाड़े बोलते हैं। समाधि किसे कहना ? यह लोगस्स तो किया होगा ? नहीं किया ? ठीक! जुड़ गये वापस लोहे में। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, **निर्विकल्प-समाधिस्वरूप कहा जाता है...** व्यवहार से भ्रष्ट है, वह तो भ्रष्ट है ही, परन्तु निश्चय में भी जो नहीं, वह भी भ्रष्ट है। आहाहा! है? **निश्चयचारित्र भ्रष्ट है—**वह व्यवहारचारित्र भ्रष्ट है। **ऐसा अर्थ है।** आहाहा! पाठ में है न? **आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।** इसमें से यह निकाला। व्यवहार आवश्यक से हीन, निश्चय आवश्यक से हीन। आहाहा! भले हेय है, उसका फल संसार है, परन्तु आये बिना नहीं रहता। छद्मस्थ को पूर्ण वीतराग नहीं है, तब तक शुभराग व्यवहार छह आवश्यक आता है, निश्चय भान होने पर भी (आता है)। अन्दर स्थिर नहीं हो सकता तो आता है। वह यदि न हो तो व्यवहार से भी भ्रष्ट है और निश्चय में स्व का आलम्बन नहीं तो वह निश्चय से भ्रष्ट है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। नौकरी में वहाँ कहीं सुनायी दे, ऐसा नहीं है पूरे दिन। आहाहा! **ऐसा अर्थ है।**

(इसलिए) स्ववश परमजिनयोगीश्वर के निश्चय-आवश्यक का जो क्रम पहले कहा गया है... स्वयं के वश परम परमजिनयोगीश्वर। आहाहा! परम योगीश्वर। यह शुभभाव कहा, वह आवश्यक का शुभभाव, हों! दूसरा शुभ नहीं। आवश्यक का शुभभाव। आवश्यक के जो शुभभाव हैं, उनसे भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट है। दूसरे शुभभाव की यहाँ बात नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह अन्तर है। आवश्यक के जो सामायिक का जो शुभभाव है, उससे जो भ्रष्ट है, व्यवहारचारित्र से भ्रष्ट है। दूसरे जो शुभभाव होते हैं, वह तो और सब प्रकार से भ्रष्ट है। आहाहा! गजब बात।

स्ववश परमजिनयोगीश्वर के निश्चय-आवश्यक का जो क्रम पहले कहा गया है... आहाहा! **उस क्रम से (-उस विधि से),...** लो, यह विधि आयी। वह नहीं आया था? विधि अनुसार। वहाँ फिर कर्म के अनुसार, कोई कहता है। आया था न? विधि अनुसार। विधि अनुसार अर्थात् वहाँ शास्त्र की विधि, उस विधि अनुसार। वहाँ विधि के (अर्थात्) कर्म के अनुसार, ऐसा नहीं है।.... हुआ था न? यहाँ यह कहा, देखो! आहाहा! **पहले कहा गया है, उस क्रम से (-उस विधि से), स्वात्माश्रित ऐसे...** (अपने आत्मा के आश्रित ऐसे) **निश्चय-धर्मध्यान तथा निश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप से, परम मुनि सदा आवश्यक करो।** परम मुनि सदा इस प्रकार का आवश्यक करो। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२५६

[अब इस १४८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं,
कुर्यादुच्चै-रघ-कुल-हरं निर्वृतेर्मूलभूतम्।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः,
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति।।२५६।।

(वीरछन्द)

सहज परम आवश्यक मात्र एक ही जो अघनाशक है।
मुक्ति-मूल उस आवश्यक को ही अतिशय कर्त्तव्य कहें॥
इससे विस्तृत सदा स्वरस से पूर्ण भरा है पुरुष पुराण।
कोई वचनातीत सहज शाश्वत सुखमय पाता निर्वाण॥२५६॥

[श्लोकार्थः] आत्मा को अवश्य मात्र सहज-परम-आवश्यक एक को ही— कि जो *अघसमूह का नाशक है और मुक्ति का मूल (-कारण) है उसी को— अतिशयरूप से करना चाहिए। (ऐसा करने से) सदा निज रस के विस्तार से पूर्ण भरा होने के कारण पवित्र और पुराण (सनातन) ऐसा वह आत्मा वाणी से दूर (वचन-अगोचर) ऐसे किसी सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है॥२५६॥

प्रवचन-१७२, श्लोक-२५६-२५७, गाथा-१४९, शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण ८, दिनांक ०५-०७-१९८०

नियमसार, १४८ गाथा। उसका श्लोक है। श्लोक २५६

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं,
कुर्यादुच्चै-रघ-कुल-हरं निर्वृतेर्मूलभूतम्।

* अघ=दोष; पाप। (अशुभ तथा शुभ दोनों अघ हैं।)

सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः,
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति ।।२५६।।

श्लोकार्थ : आहाहा! **आत्मा को अवश्य...** आवश्यक यह है कि मनुष्यपना पाकर... आहाहा! अनन्त-अनन्त जीव निगोद में पड़े हैं, वे अनन्त काल में लट भी होनेवाले नहीं हैं, तो ऐसा जो मनुष्यपना मिला, आर्य कुल और जैन अवतार (मिले) तो कहते हैं कि **आत्मा को अवश्य...** आवश्यक यह है। आहाहा! **मात्र सहज-परम-आवश्यक...** वापस देखा? दूसरा कुछ नहीं। दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं। आहाहा! सहज मात्र। - ऐसा कहा न? अवश्य और मात्र। सहज। आहाहा! मात्र परम आवश्यक को। अकेले व्यवहार छह आवश्यक को नहीं। परम आवश्यक निश्चय। आहाहा!

निश्चय परम आवश्यक को **एक को ही—** एकान्त किया। कथंचित् निश्चय करना और कथंचित् व्यवहार करना, ऐसा नहीं आया। आहाहा! **परम-आवश्यक एक को ही—** आहाहा! जिसे आत्मा का हित करना है, उसे तो एक अवश्य आत्मा अखण्डानन्द प्रभु की ओर का लक्ष्य करके उसमें स्थिर होने का, यह अवश्य एक कर्तव्य है। आहाहा! वापस भाषा क्या है? **मात्र...** अर्थात् दूसरा कुछ नहीं। छह आवश्यक व्यवहार, वह नहीं। आहाहा! वह **सहज-परम-आवश्यक...** स्वाभाविक आनन्दस्वरूप, भगवान जो आनन्दस्वरूप, उसकी एकाग्रता, उस **एक को ही...** आहाहा! करनेयोग्य है। उस एक को ही करनेयोग्य है। धर्म के नाम से भी इस एक को ही करनेयोग्य है, ऐसा कहते हैं। संसार में तो अकेला पाप है, परन्तु धर्म के नाम से करना हो तो... आहाहा! अवश्य आत्मा को एक ही आवश्यक, सहज **परम-आवश्यक एक को ही—कि जो...** परम आवश्यक कि जो एक ही परम आवश्यक। आनन्दस्वरूप में एकाग्रता, वह अवश्य एक ही आवश्यक। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप से भरपूर भगवान है। उस एक को ही। आहाहा! कितने शब्द प्रयोग किये हैं।

मात्र सहज-परम-आवश्यक को... व्यवहार को नहीं। मात्र कहने से व्यवहार को नहीं और यह निश्चयस्वभाव उस एक को **कि जो...** यह आवश्यक निश्चय जो **अघसमूह का नाशक है...** पुण्य और पाप के भाव का नाश (करना) वह आवश्यक है। आहाहा! अपना प्रभु परमात्मा से भिन्न नहीं, परमात्मस्वरूप ही है। जिन और जिनवर में कुछ भेद

नहीं है। आहाहा! उस ओर का मात्र स्वाभाविक अवश्य करनेयोग्य एक ही है। आहाहा! यह सब व्यवहार वापस कहा, वह कहाँ गया? वह आता है, होता है, परन्तु करनेयोग्य यह एक है। आहाहा! व्यवहार आता है। यह कहा न? सामायिक, चौविसंथो, वन्दन ऐसे छह आवश्यकों का पहले विकल्प होता है। पहले अर्थात्? निश्चय है, उसे पहले ऐसा विकल्प आता है। पश्चात् वह विकल्प तोड़कर अन्दर में जाता है। निश्चय नहीं और विकल्प तोड़कर (अन्दर) जाए, यह बात नहीं। विकल्प है, उसे लेकर जाए, ऐसा भी नहीं। आहाहा!

यह भगवान आत्मा पूर्णानन्द का सागर प्रभु मात्र सहज अवश्य आत्मा का काम अवश्य करने का एक ही है। आहाहा! इसमें सब आ गया, लो। (निश्चय) और आवश्यक आत्मा के अवलम्बन से होता है, दूसरे के अवलम्बन से नहीं। वाणी से आवश्यक नहीं होता, मन से नहीं होता, देह से नहीं होता... आहाहा! पैसा और लक्ष्मी से आवश्यक कर्म नहीं होता। पाँच-पच्चीस लाख खर्च किये, इसलिए उसे (आवश्यक कर्म हुआ, ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसा है। एक लाईन में इतना भरा है, लो! आहाहा!

आत्मा को... आत्मा को, आत्मा को अवश्य मात्र स्वाभाविक परम आवश्यक, निश्चय परम आवश्यक **एक को ही—कि...** क्यों एक को ही करनेयोग्य है? **कि जो अघसमूह का नाशक है...** पुण्य और पाप का दोनों का नाशक है। आहाहा! है नीचे? **पाप। (अशुभ तथा शुभ दोनों अघ हैं।)** आहाहा! स्वभाववस्तु जो आत्मा, उसके आश्रय बिना पुण्य और पाप के भाव का नाश नहीं होता। यहाँ तो नाश करने का (कहते हैं)। पुण्य से ऐसा हो, शुभभाव करने से अन्दर जाया जाए, यह बात तो ली नहीं। यहाँ तो इस स्वरूप का आवश्यक करने से पुण्य-पाप का अघ जो समूह, जिसे लोग मददगार कहते हैं, व्यवहार सहायक कहते हैं। उसे मात्र सहज आवश्यक यह करने योग्य है। आहाहा! **अघसमूह का नाशक है...** दो बातें।

तब वह **मुक्ति का मूल (-कारण) है...** आहाहा! आत्मा, भगवान आत्मा की एकाग्रता, आत्मा के आनन्द को पकड़कर एकाग्र होना, वह एक ही मुक्ति का मूल है। मोक्ष का मूल यह एक ही है। मोक्ष का मार्ग यह एक ही है। कोई दो कहते हों और ऐसा है और वैसा है, यह नहीं। आहाहा! है? इसमें है या नहीं? जो **मुक्ति का मूल (-कारण)**

है... परम आवश्यक क्यों ?—कि प्रभु आत्मा स्वयं मुक्तस्वरूप ही है। त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक परमपारिणामिकभाव, वह मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप के आश्रय से मुक्ति होती है। बाकी दूसरे के आश्रय से / अवलम्बन से मुक्ति / मोक्ष, मोक्ष का मार्ग नहीं होता। आहाहा! यह झगड़ा, व्यवहार का झगड़ा। व्यवहार का ऐसा करना और व्यवहार... आता अवश्य है। रात्रि को प्रश्न नहीं होते थे ? ७३ गाथा में आवे, पहले यह निर्णय करो। परन्तु वह तो निर्णय करो, ऐसा आया किन्तु उससे होता है, ऐसा नहीं। वहाँ दृष्टान्त ऐसा लिया कि जैसे जहाज को भँवर ने पकड़ा हो। समुद्र में भँवर ने जहाज को पकड़ा हो, वह भँवर छोड़े तो जहाज अलग पड़े। इसी प्रकार पुण्य-पाप के विकल्प से बन्धन में पड़ा है, उसे स्वयं छोड़े तो मुक्ति को प्राप्त हो। उससे मुक्ति को प्राप्त हो, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसी बात है। कठिन लगती है।

शब्द पड़े हैं, मात्र एक ही। मात्र अवश्य... आहाहा! स्वभाव जो पूर्णानन्द, उसका ही स्पर्श, उसका ही आश्रय, उसका ही अवलम्बन, उसका ही आधार, वही एक मुक्ति का मूल और पुण्य-पाप के नाश का कारण है। आहाहा! एक लाईन में इतना सब समाहित कर दिया। बड़ा झगड़ा, व्यवहार से होता है, इससे होता है। शास्त्र में आवे न, ऐसे शब्द तो आवे, परन्तु किस अपेक्षा से ? वह तो व्यवहार का ज्ञान कराने के लिये आते हैं।

उसी को—वह मुक्ति का मूल है अवश्य। सामायिक, चौविसंथा, वन्दना, यह आत्मा का ध्यान और आनन्द यह सब छह आवश्यक है। आहाहा! कठिन पड़े। **मुक्ति का मूल (-कारण) है...** बहुत न्याय दिये। अवश्य का मात्र परम-आवश्यक तो एक को ही करना है क्योंकि वह पुण्य-पाप का नाशक है और मुक्ति का मूल है। आहाहा! **उसी को— अतिशयरूप से करना चाहिए।** उसे ही विशेषरूप से-अतिशयरूप से, अतिशयरूप से-विशेषरूप से वह एक ही करनेयोग्य है। आहाहा!

मनुष्यपना प्राप्त करके यह करनेयोग्य है। नहीं तो निगोद के जीव... आहाहा! विचार करे इसे खबर पड़े। एक निगोद के अनन्तवें भाग में मोक्ष जाते हैं, ऐसे असंख्य शरीर हैं। निगोद में ऐसे के ऐसे रहनेवाले हैं। आहाहा! प्रभु! प्रभु! प्रभु! कब वह त्रस है और मनुष्य हो ? कितने ही तो कभी होनेवाले नहीं हैं। त्रस ही होनेवाले नहीं हैं। आहाहा! ऐसे अनन्त जीव लहसुन और प्याज, काई में जीव पड़े रहते हैं। आहाहा! ऐसा ढ़ेर देखे

बरसात में जब तब चारों ओर काई। पत्ते काई, नीम, घास, पूरा हरा... हरा... हरा... (दिखता है)। आहाहा! उसमें से त्रस होना कठिन, उसमें उसे मनुष्य होना कठिन, उसमें उसे लम्बा आयुष्य मिलना कठिन, उसमें उसे आयुष्य में निरोगता रहना कठिन, उसमें उसे वीतराग की सच्ची वाणी कान में पड़ना मुश्किल। आहाहा! सच्ची वाणी तो यह है। आहाहा!

लाख बात की बात भी यह है। चाहे जितनी बात आवे। आहाहा! मात्र आत्मा की अवश्य अन्दर आवश्यक एक को ही करनेयोग्य है क्योंकि उससे ही पुण्य और पाप का नाश होता है और उससे ही मुक्ति का मूल है तो मुक्ति मिलती है। कहो, शान्तिभाई! इसमें कहीं पैसा-बैसा का, जवाहरात का कुछ नहीं आया। यह लाख, दो लाख, पाँच लाख खर्च करे... आहाहा! यह अभी एक चौपानिया (अखबार) आया था तो धर्मचन्दभाई बताने आये थे। कितनों के नाम दिये हैं।....अमुक के और अमुक के बड़े-बड़े। आहाहा! अरेरे! भाई! यह महिमा कब तक रहेगी? प्रभु! दुनिया बड़ा माने, दुनिया बड़ा कहे, कितने काल रहेगा यह? तू तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! यह दुनिया की महत्ता तेरे साथ नहीं आयेगी। आहाहा! और उससे तुझे लाभ नहीं होगा।

अवश्य का (यह) एक है। सामायिक तो यह, प्रतिक्रमण तो यह, प्रत्याख्यान तो यह, चौविसंथा तो यह, वन्दन तो यह, कायोत्सर्ग तो यह, प्रत्याख्यान तो यह (एक है)। आहाहा! अवश्य करने का चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द का कन्द नाथ, उसके आश्रय से एक ही करनेयोग्य है, आवश्यक तो यह एक ही है। आहाहा!

(ऐसा करने से) सदा निज रस के विस्तार से पूर्ण भरा होने के कारण... आहाहा! कैसा है भगवान? अब यह कहते हैं। आत्मा कैसा है? **सदा निज रस के...** अर्थात् आनन्द के रस के **विस्तार से पूर्ण भरा होने के कारण पवित्र...** प्रभु है। आहाहा! भगवान आत्मा जिसे कहते हैं, वह तो पवित्र है। उसमें अपवित्र की गन्ध नहीं है। आहाहा! यह आत्मा का कर्तव्य कर, आवश्यक काम कर - ऐसा कहते हैं। आहाहा! पहले बात की, परन्तु आत्मा कैसा है कि जिसे अवश्य काम करना, उसके सन्मुख जाकर अन्दर का। तो कहते हैं, अनन्त **सदा निज रस...** आनन्द के रस से विस्तार से **पूर्ण भरा होने के कारण पवित्र...** है। यह प्रभु पवित्र है। इससे (अधिक) कोई पवित्र है नहीं। आहाहा! दूसरे कोई अपवित्र कार्य से यह पवित्र कार्य नहीं होता (या) पवित्र के सामने देखा जाए, सन्मुख

हुआ जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! **और पुराण (सनातन) ऐसा वह आत्मा...** यह सनातन है। यह पुण्य-पाप का नाश होना और मुक्ति प्राप्त होना, वह तो पर्याय है। समझ में आया? पहले कहा वह तो पर्याय की बात की है। पुण्य-पाप का नाश और मुक्ति का मूल, वह तो पर्याय (हुई) परन्तु वस्तु क्या? वस्तु तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! अनादि-अनन्त। **निज रस के विस्तार से पूर्ण भरा होने के कारण...** आहाहा! निज अर्थात् अपने, सदा अर्थात् तीनों काल आनन्द के रस और शान्ति रस के फैलाव से... आहाहा! पूर्ण भरपूर होने के कारण। जैसे पूर्ण घड़ा भरा हो, वैसे आत्मा भगवान पूर्ण आनन्दादि स्वभाव से पूर्ण भरपूर है। आहाहा! आठ वर्ष में समझकर केवल (ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष जाता है। आहाहा! अन्तर की ऋद्धि, चैतन्य चमत्कारिक प्रभु... आहाहा! कहा न?

सदा निज रस... तीनों काल निज रस से भरपूर भगवान का फैलाव है, अन्दर विस्तार है। पूर्ण होने के कारण प्रभु तो पवित्र है। आहाहा! उस पवित्र का आश्रय, वह अवश्य कर्तव्य आवश्यक है, ऐसा कहते हैं। पवित्र जो आत्मा, उसके सन्मुख (होना), वह अवश्य आवश्यक है। वह करनेयोग्य है। आहाहा! तब यह पढ़ना कब? पढ़े बिना समझ में नहीं आता। पहले पढ़ना? पढ़ना कहाँ? आठ वर्ष का बालक भी केवलज्ञान प्राप्त कर जाता है। आहाहा! क्योंकि सनातन पवित्र पड़ा है। अनादि-अनन्त अन्दर पवित्र भगवान है, उसे कोई काल लागू नहीं पड़ता। आहाहा!

सनातन पवित्र है, **ऐसा वह आत्मा...** आहाहा! ऐसा यह आत्मा **वाणी से दूर...** वाणी से कहा जा सके, ऐसा नहीं है, कहते हैं। यह सर्वज्ञ भगवान की वाणी में आया न? वीतराग की वाणी में पूर्ण आया, ऐसा बोला जाता है। एक ओर कहते हैं कि वाणी का विषय नहीं है, वाणी जड़ है। चैतन्यतत्त्व से वह वाणी पूर्ण भिन्न तत्त्व जड़ है। आहाहा! भगवान जैसे पूर्ण पवित्रता से सदा भरपूर है, वैसे वाणी भी पूर्ण जड़ के स्वभाव से भरपूर है। आहाहा! वाणी तो ठीक, वाणी का एक-एक परमाणु, वाणी का एक-एक परमाणु पूर्ण जड़ के अनन्त गुण से भरा हुआ पूरा है। आहाहा!

वह आत्मा वाणी से दूर (वचन-अगोचर) ऐसे किसी सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। आहाहा! यह जो अवश्य काम करता है, सदानन्द प्रभु का आश्रय लेकर स्थिर होता है, उसे अवश्य कोई सहज शाश्वत सुख (प्राप्त होता है)। स्वाभाविक आनन्द

का सागर... आहाहा! अतीन्द्रिय सुख और आनन्द से भरचक भरा हुआ भगवान है। एक गुण से पवित्र नहीं, ऐसे अनन्त गुण से पवित्र है। आहाहा! इसका मान कहाँ आया है? कुछ बाहर का करे, उसका अर्थ कि अन्दर से निकल जाए, तब इसे ठीक पड़े। भगवान आत्मा में से कुछ निकले तो बाहर दिखे और दुनिया को खबर भी पड़े। आहाहा! फोटो आये हैं। हिन्दुस्तान के परिचित सब बड़े पुरुष आये हैं। उसमें क्या भला हुआ? आहाहा! दुनिया में महिमा हुई, दुनिया में प्रसिद्ध हुए, दुनिया में सामने पड़ा, दुनिया में सामने पड़ा। भटकने में सामने पड़ा। आहाहा!

ऐसा वह आत्मा वाणी से दूर... है। आहाहा! तो प्रभु! आप कहते हो न यह? वह वाणी से दूर है। वाणी वहाँ स्पर्श नहीं करती। वह वाणी का विषय नहीं है। वह तो निर्विकल्प तत्त्व है। आहाहा! **ऐसा वह आत्मा वाणी से दूर (वचन-अगोचर) ऐसे किसी सहज...** जो इस परम आवश्यक को सहज आत्मा के अवलम्बन से एक को ही अवश्य करता है, वह **सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।** आहाहा! प्राप्त करता है तो पर्याय में, परन्तु वह शाश्वत् अर्थात् पश्चात् नहीं जाता। आत्मा तो त्रिकाल है परन्तु इस सहज सुख को पाता है, वह तो पर्याय है। वस्तु जो है त्रिकाल सहज परम पवित्रता से भरपूर है, परन्तु उसका अवलम्बन लेकर उसमें जो स्थिर होता है, वह अवश्य सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। वह स्वाभाविक अन्दर में जो सुख भरा है, आनन्द से भरपूर है, (उसे प्राप्त करता है)।

पहले कह गये न **सदा निज रस के विस्तार से पूर्ण भरा होने के कारण...** इसके ऊपर लाईन कही। **सदा निज रस के...** निज रस के। जिसमें राग का रस नहीं, निमित्त का रस नहीं। आहाहा! **निज रस के विस्तार से पूर्ण भरा होने के कारण पवित्र...** सहज शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। वह पर्याय में पवित्रता, स्वाभाविक शाश्वत सुख आया, वह जाता नहीं। सादि-अनन्त... आहाहा! ऐसे सुख को प्राप्त करता है। कहो, एक कलश में कितना आया! निश्चय से अस्ति आयी, व्यवहार की नास्ति आयी, अनेकपने की नास्ति आयी, एकपने की अस्ति आयी, त्रिकालपने के रस से भरपूर का आश्रय लेने से शाश्वत सुख को पाता है। आहाहा!

श्लोक-२५७

(अनुष्टुप्)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ।।२५७।।

(वीरछन्द)

स्ववश मुनीश्वर को उत्तम निज आत्म अनुभवन होता है।
और यही आवश्यक कर्म मुक्ति-सुख कारण होता है ॥२५७॥

[श्लोकार्थः] स्ववश मुनीन्द्र को उत्तम स्वात्मचिन्तन (निजात्मानुभवन) होता है; और यह (निजात्मानुभवनरूप) आवश्यक कर्म (उसे) मुक्तिसौख्य का कारण होता है ॥२५७॥

श्लोक - २५७ पर प्रवचन

---

२५७ (श्लोक)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ।।२५७।।

श्लोकार्थः स्ववश मुनीन्द्र को... स्वभाव के वश हुए मुनीन्द्र किसे कहना? स्वभाव के आधीन हुए मुनीन्द्र किसे कहना? कि जो **उत्तम स्वात्मचिन्तन...** कि जो उत्तम स्वात्मचिन्तन अर्थात् अनुभव। चिन्तन का अर्थ यहाँ अनुभव है। चिन्तन अर्थात् विकल्प नहीं। आहाहा! यहाँ दुकान आदि से निवृत्ति बारह महीने में एक महीने, दो महीने निवृत्ति लेनी हो तो ले नहीं सके। आठ-दस दिन, पन्द्रह दिन महा कठिनता से ले। आहाहा! अब उसमें ऐसी बात! आहाहा!

स्ववश मुनीन्द्र को... चैतन्यस्वभाव शुद्ध पवित्र भगवान, उसके वश हुए, उसके सन्मुख हुए, उसमें तल्लीन हुए। आहाहा! वह **उत्तम स्वात्मचिन्तन...** उत्तम स्वात्म

अनुभव है वह। वह आत्मा के आनन्द का रस है। आहाहा! अनुभव अर्थात् आनन्द का रस है। आहाहा! ऐसे अनुभव को आत्मचिन्तन होता है। स्ववश मुनीन्द्र को उत्तम आत्म-अनुभव होता है। आहाहा! मुनीन्द्र मुनि भले हुए परन्तु जिसे स्ववश आत्म आश्रय अनुभव है, उसे यहाँ मुनि कहा गया है। आहाहा! आया न इसमें ?

और यह (निजात्मानुभवनरूप) आवश्यक कर्म (उसे)... आहाहा! **मुक्तिसौख्य का कारण होता है।** आहाहा! उसे मुक्ति के सुख का कारण (होता है)। चैतन्यस्वभाव जो भगवान, वह पूर्ण हीरा भरपूर, अनन्त गुण के पासा से जैसे हीरा भरा हो। आहाहा! हीरा को तो अनन्त गुण होते नहीं। आहाहा! अनन्त सुख को प्राप्त करता है, वह सहज शाश्वत् है। **स्ववश मुनीन्द्र को उत्तम स्वात्मचिन्तन (निजात्मानुभवन) होता है; और यह (निजात्मानुभवनरूप) आवश्यक कर्म...** मुनीन्द्र का यह कार्य है। कर्म अर्थात् कार्य। मुनि की यह पर्याय है। मुनि की यह दशा है, मुनि की यह हालत है। कर्म अर्थात् कार्य। आवश्यक कार्य उसे मुक्तिसौख्य का कारण है। आहाहा! है ? **(निजात्मानुभवनरूप) आवश्यक कर्म...** वह अवश्य का कर्म आवश्यक है। यह बाहर के सामायिक, चौविसंथो, वन्दन यह सब तो शुभराग है, यह कहीं आवश्यक और अवश्य करनेयोग्य नहीं है। वह तो छोड़नेयोग्य है। आहाहा! छोड़नेयोग्य है, उसे आदरणीय मानता है। आहाहा!

अरे! प्रभु! तू कहाँ तक दुःखी रहेगा ? प्रभु! तू आनन्द है न! सभी आत्माएँ आनन्दमूर्ति हैं न, प्रभु! सब आत्माएँ आनन्द और पवित्रता से भरपूर हैं न! आनन्द को प्राप्त करो न, प्रभु! तुम कब तक दुःख भोगोगे ? आहाहा! यह नरक के और निगोद के... आहाहा! पराधीनता के दुःख। इस दुःख की व्याख्या कठोर। यह गिलहरी और चिड़िया ऐसे घूमते हैं, कौवे आकर पकड़कर खा जाते हैं। आहाहा! चिड़िया बाहर घूमे। कमरा है न कमरा ? वहाँ घूमते हैं। कौआ आकर उठाकर खा जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : कौआ आकर पकड़ लेता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ लेता है। बड़ी होवे तब तो एकदम दौड़कर कहीं चली जाए, परन्तु छोटा होवे तो इतना चल नहीं सके। कौआ ले जाए। कमरे के ऊपर से ले जाता है। आहाहा! दिखता है। कौवे का ध्यान होता है कि गिलहरी, चिड़िया का बच्चा कहीं घूमता हो तो पकड़ ले। आहाहा! इन सब दुःखों से मुक्त होना होवे तो सुख की प्राप्ति का

कारण तो स्व आवश्यक है। सुख की प्राप्ति का कारण स्व आवश्यक। भगवान आत्मा पहिचाने बिना अवश्य कर्तव्य आयेगा कहाँ से ? आत्मा कितना है ? कैसा है ? यह जब तक दृष्टि में न आवे, तब तक उसमें स्थिर कहाँ से होगा ? वस्तु दृष्टि में आवे, पश्चात् उसमें स्थिर हो। दृष्टि में आये बिना स्थिर कहाँ हो ? ज्ञान में चीज़ आयी नहीं, अब स्थिर किसमें होना ? आहाहा ! पहले ज्ञान इस प्रकार सम्यग्दर्शन अनुभव होता है, तब उसमें उसे स्थिर होना बनता है। आहाहा ! तो यह सब करता है वह क्या ? सब सामायिक और प्रतिक्रमण... आहाहा ! हमने भी सब किये थे, हों ! वहाँ पालेज। प्रतिक्रमण करें, आठ दिन। आठ ही दिन, हों ! आठ दिन सब इकट्ठे होकर प्रतिक्रमण करें तो सब प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए। अपने पर्यूषण के दिन हैं, धर्म किया। राग और अभिमान दोनों है। यह कर्तापने का मिथ्यात्व और कर्ता हो, इसलिए जरा शुभभाव (हों)। आहाहा ! मिथ्यात्व अशुभ, भाव शुभ वह वास्तव में अशुभ है परन्तु उसे नहीं कहा जाता। नहीं तो वह अशुभ के साथ अशुभ होता है। अशुभ के साथ शुभ नहीं होता। क्या कहा ?

जहाँ मिथ्यात्व है, वही अशुभ है। इसलिए शास्त्रकार ने तो ऐसा भी कहा है कि मिथ्यादृष्टि को शुभभाव नहीं होता। शुभ तो समकिती को होता है। उसे शुभ होता है तो भी गिना नहीं। क्योंकि मिथ्यात्व है, वह महा अशुभ है। उसके साथ का भाव आवे, वह जरा सा, उसे शुभ कैसे कहना ? आहाहा ! वे दोनों अशुभ ही हैं। मिथ्यात्व और शुभभाव दोनों अशुभ ही हैं। आहाहा ! दोनों नाश करनेयोग्य हैं। आहाहा ! दोनों का आश्रय लेने योग्य नहीं। आश्रय लेनेयोग्य तो भगवान है, इसलिए कहा कि आवश्यक कर्म, ऐसा जो आवश्यक कार्य। आहाहा !

मुनि ने बहुत थोड़े शब्दों में ठेठ मूल पकड़ा है। आहाहा ! मूल-मूल पकड़ा है, मूल। ऐसा जो निजात्म अनुभव कर्म, उसे मुक्ति सौख्य का कारण होता है। लो ! मोक्ष के सुख का कारण उसे होता है। आहाहा ! दुनिया कहाँ पड़ी है ! दो पृष्ठ लाये थे धर्मचन्दभाई। दो शब्द उसमें थे। इन्दिरा गाँधी ने लड़के के गुणगान किये हैं। मर गया उसके। पलंग पर पड़-पड़कर मर जाए, उसकी अपेक्षा मर गया बहुत अच्छा है, ऐसा लिखा है। अच्छे मरण से मर गया है। ऐसा है न ? धर्मचन्दभाई !

मुमुक्षु : रजनीश ने ऐसा कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : रजनीश ने ऐसा कहा, ऐसा न ? ठीक ! कहो, यह धर्म ! अर..र.. ! महासंसार का प्रवीण, संसार का चतुर। रजनीश ने कहा न ? आहाहा ! यह रजनीश धर्म की बात करे, प्रभु ! प्रभु ! अरे ! सत्य बात करे, वहाँ सुहावे नहीं। कठिन बात है। आहाहा ! वह तो महा अधर्म का काम करता था।

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! आवश्यक कर्म तो उसे कहते हैं कि जो मुक्ति सौख्य का कारण हो। आया न ? **आवश्यक कर्म (उसे) मुक्तिसौख्य का कारण होता है।** आहाहा ! मुक्त स्वभाव आत्मा है। पुण्य-पाप अधिकार में आता है न ? पुण्य-पाप बन्ध है, तो बन्ध में से बन्ध ही होगा। और आत्मा मुक्त है तो उसके आश्रय से ही मुक्ति होगी। बन्ध के आश्रय से बन्ध होगा और मुक्ति के आश्रय से मुक्ति होगी। आहाहा ! समयसार में पुण्य-पाप के अधिकार में आता है। सूक्ष्म बात है, भाई ! आहाहा ! यह १४८ (गाथा पूरी) हुई।

गाथा-१४९

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा।।१४९।।

आवश्यकेन युक्तः श्रमणः स भवत्यन्तरङ्गात्मा।
आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा।।१४९।।

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः। अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मक-स्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यककर्मणानवरतसंयुक्तः स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टो-ऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा। असंयत-सम्यग्दृष्टिर्जघन्यान्तरात्मा। अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः। निश्चयव्यवहारनयद्वय-प्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहीनो बहिरात्मेति।

उक्तञ्च मार्गप्रकाशे ह्न

(अनुष्टुप्)

बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः।।
जघन्य-मध्यमोत्कृष्ट-भेदादविरतः सुदृक्।
प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो मध्यमोमध्यमस्तयोः।।

तथाहि ह्न

रे साधु आवश्यक-सहित वह अन्तरात्मा जानिये।
इससे रहित हो साधु जो बहिरातमा पहिचानिये॥१४९॥

अन्वयार्थ : [आवश्यकेन युक्तः] आवश्यक सहित [श्रमणः] श्रमण, [सः] वह [अंतरंगात्मा] अन्तरात्मा [भवति] है; [आवश्यकपरिहीणः] आवश्यक रहित [श्रमणः] श्रमण, [सः] वह [बहिरात्मा] बहिरात्मा [भवति] है।

टीका : यहाँ, आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है, ऐसा कहा है।

अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयात्मक *स्वात्मानुष्ठान में नियत परमावश्यक-कर्म से निरन्तर संयुक्त ऐसा जो 'स्ववश' नाम का परम श्रमण, वह सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है; यह महात्मा सोलह कषायों के अभाव द्वारा क्षीणमोहपदवी को प्राप्त करके स्थित है। असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है। इन दो के मध्य में स्थित सर्व मध्यम अन्तरात्मा हैं। निश्चय और व्यवहार इन दो नयों से प्रणीत जो परम आवश्यक क्रिया, उससे जो रहित हो, वह बहिरात्मा है।

श्री मार्गप्रकाश में भी (दो श्लोकों द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

बहिरात्मा अरु अन्तरात्मा अन्य-समय के उभय प्रकार।
तन-इन्द्रिय में आत्मबुद्धि करनेवाले बहिरात्मा जान॥

[श्लोकार्थः] अन्य समय (अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकार के हैं; उनमें बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धिवाला होता है।

(वीरछन्द)

अन्तरात्मा उत्तम मध्यम जघन तीन, समदृष्टि जघन।
क्षीणमोह है उत्तम इनके मध्य स्थित जानो मध्यम॥

[श्लोकार्थः] अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ऐसे (तीन) भेद हैं; अविरत सम्यग्दृष्टि, वह प्रथम (जघन्य) अन्तरात्मा है; क्षीणमोह, वह अन्तिम (उत्कृष्ट) अन्तरात्मा है और उन दो के मध्य में स्थित, वह मध्यम अन्तरात्मा है।

---

* स्वात्मानुष्ठान=निज आत्मा का आचरण। (परम आवश्यक कर्म अभेद-अनुपचाररत्नत्रयस्वरूप स्वात्माचरण में नियम से विद्यमान है अर्थात् वह स्वात्माचरण ही परम आवश्यक कर्म है।)

गाथा - १४९ पर प्रवचन

१४९ गाथा।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा।।१४९।।

रे साधु आवश्यक-सहित वह अन्तरात्मा जानिये।
इससे रहित हो साधु जो बहिरातमा पहिचानिये॥१४९॥

यह आवश्यक-निश्चय आवश्यक। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसके आश्रय से.... आहाहा! उसका एक आचरण ही **अंतरंगप्पा** कहलाता है। उसे अन्तरात्मा, अन्तर में उतरा है, उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। जो आनन्द का सागर भगवान, पूर्ण आनन्द भरपूर, पूर्ण ज्ञान भरपूर, अरे! पूर्ण वीर्य, वीररस, ज्ञानरस, शान्तरस, आनन्दरस पूर्ण रस से भरपूर प्रभु है। ऐसे अनन्त-अनन्त रस के गुण से भरपूर है। आहाहा! वह उसे मुक्ति सुख का कारण है। अब १४९

टीका : यहाँ, आवश्यक कर्म के अभाव में... यह जहाँ आत्मा का अवलम्बन नहीं। जहाँ आत्मा आननदस्वरूप का अवलम्बन नहीं और पुण्य-पाप की क्रिया में-गड़बड़ में खड़ा रहा है... आहाहा! पुण्य-पाप के जाल में गोते मारता है... आहाहा! ऐसे **आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है...** आहाहा! जिसे आत्मा के आनन्द का आश्रय नहीं, वह बहिरात्मा है। आहाहा! पुण्य करे तो बहिरात्मा है, यह बात नहीं ली है। यहाँ तो आवश्यक कर्म के अभाव में (-ऐसा कहा है)। आहाहा! शुद्ध चैतन्य भगवान पुण्य और पाप के विकल्प से, राग से भिन्न भरपूर भगवान... आहाहा! ऐसे सब भगवान पूर्ण हैं और उनमें अनन्त गुण से छलकाये हुए - भरे हुए हैं। आहाहा!

आचार्य ने तो यहाँ तक कहा न? प्रभु! तुझे यह दशा अब न रहो, अब। प्रभु! यह तुझे शोभा नहीं देता, हों! आहाहा! अनन्त आनन्द से भरपूर भगवान, अनन्त शान्ति के रस का कन्द पूरा, उसके बिना तुझे यह सब शोभता है? यह नहीं शोभता, प्रभु! आहाहा! दुश्मन को भी ऐसा कहते हैं। जैनधर्म का विरोधी हो, उसे भी ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू सुखी हो। यह राग और एकत्वबुद्धि छोड़कर आत्मा के आश्रय में आ जा, बापू! दुःख

कठोर पड़ेगा, भाई! आहाहा! कोई प्राणी दु:खी हो, ऐसी भावना धर्मी की नहीं होती। दुश्मनपना छोड़ दे, आनन्द के अन्दर जा। आहाहा! ऐसा कहा न?

आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है... आहाहा! **अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयात्मक...** अब यह आवश्यक कौन सा? ऐसा कहते हैं। निश्चय आवश्यक, निश्चय अवश्य का, जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो, उसमें वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। रुचि अनुयायी वीर्य। जिसकी रुचि हो, वहाँ वीर्यरस ढले बिना नहीं रहता। आहाहा! इसकी रुचि नहीं तो इसकी ओर झुकाव नहीं हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : जिसकी यादशक्ति कच्ची हो, वह क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ यादशक्ति का काम नहीं है। यहाँ तो पूर्णाननद का नाथ, उसे पकड़ना। एक ही बात। भले नाम न आता हो। आत्मा नाम भी न आता हो। तिर्यंच को नव तत्त्व के नाम भी नहीं आते और क्षायिक समकित होता है। जुगलिया को, यहाँ पहले समकित नहीं हुआ? यहाँ तिर्यंचगति का आयुष्य बँध गया और बाद में क्षायिक समकित हुआ। अब वह मरकर कहाँ जाए? जुगलिया। भोगभूमि। देवकुरु-उत्तरकुरु वहाँ अवतरित हो। समकिती... आहाहा! आयुष्य पहले बँध गया और बाद में हुआ समकित। श्रेणिक को नरक का आयुष्य बँध गया, बाद में हुआ समकित। नरक का आयुष्य बँध गया तो नरक में जाना पड़ा। परन्तु तिर्यंच का आयुष्य बँध गया हो और समकित (बाद में) समकित होवे तो जुगलिया में जाना पड़े। आहाहा! देवकुरु-उत्तरकुरु (भोगभूमि)। वहाँ बाह्य दु:ख की गन्ध नहीं है। बाहर के सुख का-सुविधा का पार नहीं है। वहाँ पकाना नहीं पड़ता, अनाज बोना नहीं पड़ता। बो कर नहीं खाना पड़ता। कहो। आहाहा! देव में कहाँ पकाना पड़ता है उसे? उसे तो एक हजार वर्ष में डकार आती है। आहाहा! इतनी अधिक निवृत्ति, तथापि आत्मा के प्रति निवृत्ति नहीं करता। आहाहा! कितनी निवृत्ति! उसे वस्त्र की आवश्यकता नहीं; शाश्वत् तैयार होते हैं। देवलोक में शाश्वत् वस्त्र तैयार होते हैं। आहहा! उसे बुनना नहीं पड़ता, भिगोना नहीं पड़ता, करना नहीं पड़ता। आहाहा! लकड़ियाँ, कण्डे लेना नहीं पड़ता, पकाना नहीं पड़ता।

मुमुक्षु : पकाना नहीं पड़ता, फिर लकड़ियाँ, कण्डे की कहाँ आवश्यकता?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई एक वस्तु नहीं। आहाहा! इतनी निवृत्ति होने पर भी आत्मा

की ओर झुकाव नहीं करता—ऐसा मेरा कहना है। आहाहा! तो भी बाहर के फन्द में फँस जाता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयात्मक...** अभेद-अनुपचार। भेद नहीं। यह दर्शन-ज्ञान और चारित्र, ऐसे भेद नहीं। अभेद-अनुपचार। उपचार नहीं, आरोप नहीं। अभेद अनुपचार रत्नत्रयस्वरूप भगवान, **स्वात्मानुष्ठान...** यह स्व-आत्मा का अनुष्ठान। उस **अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयात्मक स्वात्मानुष्ठान...** आहाहा! नीचे अर्थ (फुटनोट में) **निज आत्मा का आचरण। (परम आवश्यक कर्म अभेद-अनुपचाररत्नत्रयस्वरूप स्वात्माचरण में नियम से विद्यमान है अर्थात् वह स्वात्माचरण ही परम आवश्यक कर्म है।)** आहाहा! भगवानआत्मा अनन्त गुण से भरपूर, उसके अवलम्बन की पर्याय है, वह जरूर-आवश्यक मोक्ष का कारण है। आहाहा! बाकी कोई क्रियाकाण्ड धर्म का कुछ कारण नहीं है। आहाहा!

अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयस्वरूप स्वात्मानुष्ठान में... स्व आत्मा का अनुष्ठान-अपने आत्मा का आचरण। आहाहा! कुछ अनुष्ठान करते हो? (-ऐसे पूछे)। वह अनुष्ठान-आचरण। स्व आनन्दस्वरूप भगवान का आचरण, वह अनुष्ठान, वह आत्मा का अनुष्ठान। उसमें जो **नियत परमावश्यक-कर्म से निरन्तर संयुक्त...** होवे। आहाहा! ऐसी निश्चय स्वात्मानुभव रत्नत्रयरूप क्रिया, उससे निश्चय परम आवश्यक कर्म से निरन्तर संयुक्त ऐसा। आहाहा! वापस उसमें भी निरन्तर। एक समय का भेद नहीं। आहाहा! जैसे स्वयं सदा प्रभु निरन्तर है, वैसे उसका निश्चय आवश्यक सदा निरन्तर है। आहाहा! भगवान आत्मा अनादि-अनन्त सनातन है तो उसके आश्रय से पर्याय शाश्वत मिले, ऐसी है।

निरन्तर संयुक्त ऐसा जो 'स्ववश' नाम का... आहाहा! **'स्ववश' नाम का परम श्रमण...** आहाहा! स्वयं के आधीन हुआ, ऐसा स्ववश मुनि। जो विकल्प की आधीनता छोड़कर, बाहर के अनुष्ठान की आधीनता छोड़ा; आत्मा के अनुष्ठान और आचरण में रहता हुआ... आहाहा! **परम श्रमण वह सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है;...** लो! बाहरवें गुणस्थान में वीतराग... सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा। सर्व उत्कृष्ट अन्तरात्मा। **यह महात्मा सोलह कषायों के अभाव द्वारा...** बारहवाँ गुणस्थान। अन्तरात्मा की अन्तिम दशा बारहवाँ गुणस्थान। पश्चात् तुरन्त तेरहवाँ, उसका फल।

सोलह कषायों के अभाव द्वारा क्षीणमोहपदवी को प्राप्त करके... आहाहा! क्षीणमोह के नाश की (बारहवें गुणस्थान की) प्राप्ति करके **स्थित है**। आहाहा। अन्दर में जम गया है, कहते हैं। आहाहा! अपना जो आत्मस्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय वीर्य, अतीन्द्रिय शान्ति और अतीन्द्रिय सुख, उसमें जम गया है। आहाहा! वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। **सोलह कषायों के अभाव द्वारा क्षीणमोहपदवी को प्राप्त करके...** यह क्षीणमोह पदवी। बारहवाँ गुणस्थान। आहाहा! **क्षीणमोहपदवी को प्राप्त करके स्थित है।** आहाहा! **असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है।** यहाँ लिया, देखा! असंयत सम्यग्दृष्टि भी जघन्य अन्तरात्मा है। कोई कहता है न कि समकिती को अनुभूति नहीं होती, चौथे (गुणस्थान) में अनुभूति नहीं होती। सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ अनुभूति नहीं होती – ऐसे अर्थ करते हैं। **असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है।** चौथे गुणस्थान में वह निचली श्रेणी में जघन्य अन्तरात्मा है। है तो अन्तरात्मा, परन्तु जघन्य। **इन दो के मध्य में स्थित सर्व मध्यम अन्तरात्मा हैं।** क्षीणमोह है, वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। चौथे में है, वह जघन्य अन्तरात्मा है। **इन दो के मध्य में स्थित सर्व मध्यम अन्तरात्मा हैं।** अन्तरात्मा की व्याख्या की। तीन प्रकार—उत्कृष्ट अन्तरात्मा क्षीणमोह; जघन्य अन्तरात्मा समकिती; मध्यम पाँचवें से ग्यारहवें (गुणस्थानवर्ती) मध्यम (अन्तरात्मा)। आहाहा! परन्तु सब अन्तरात्मा हैं। अन्तर को साधते हैं और एक अन्तर्मुहूर्त में केवल को पानेवाले हैं। आहाहा!

निश्चय और व्यवहार इन दो नयों से प्रणीत... आहाहा! यह वीतराग का मार्ग। निश्चय और व्यवहार, इन दो नयों से प्रणीत। भगवान ने दो नयों से कहा है। एक ही निश्चयनय से (नहीं कहा है)। व्यवहार से बात (की है)। व्यवहार का विषय है। व्यवहार का विषय है, व्यवहारनय है। नय है, वह विषयी है तो उसका विषय भी है। भगवान की वाणी में दोनों नयों का उपदेश आया है। एक ही नय का उपदेश नहीं आया। आदर एक का, उपदेश दो नयों का। आहाहा! है?

निश्चय और व्यवहार इन दो नयों से प्रणीत जो परम आवश्यक क्रिया उससे जो रहित हो, वह बहिरात्मा है। दो से रहित कहा, एक से नहीं। निश्चयसहित व्यवहार न हो तो वह बहिरात्मा है। आहाहा! **परम आवश्यक क्रिया उससे जो रहित हो...** निश्चय और व्यवहार दोनों; व्यवहार में विकल्प है, निश्चय में निर्विकल्प है। साधक है, इसलिए

दोनों होते हैं। केवलज्ञानी परमात्मा नहीं। इससे वह बहिरात्मा है। आहाहा! बहिर-आत्मा। आत्मा के अतिरिक्त बाह्य कोई भी चीज़ जो है, उसमें से किसी एक चीज़ को (भी) अपना मानना, वह बहिरात्मा है। आहाहा! अन्तरात्मा अपने पूर्ण स्वरूप को ही मानता है। इसके अतिरिक्त अन्य शुभभाव से लेकर अनन्त चीज़ों को अपनी नहीं मानता। वह जघन्य अन्तरात्मा है। आहाहा! बाहर का एक विकल्प भी अपना है, ऐसा नहीं मानता। शुभराग आवे, भक्ति आवे, परन्तु वह मेरी है—ऐसा नहीं मानता। है न?

निश्चय और व्यवहार इन दो नयों से प्रणीत जो परम आवश्यक... शाम-सवेरे मुनि को प्रतिक्रमण होता है न? विकल्प होता है, व्यवहार होता हे और वह व्यवहार से छोड़कर जाना है निश्चय में। वहाँ अटकना नहीं है। निचली भूमिका में वह आता है, परन्तु उसे छोड़कर जाना है अन्दर में। **दो नयों से प्रणीत जो परम आवश्यक क्रिया उससे जो रहित हो, वह बहिरात्मा है।** विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१७३, श्लोक-२५८, रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण ९, दिनांक ०६-०७-१९८०

नियमसार, ३०१ पृष्ठ है इसमें। सबमें यह है?

श्री मार्गप्रकाश में भी (दो श्लोकों द्वारा) कहा है कि:— यहाँ से शुरु है।

बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ।।

श्लोकार्थ: अन्य समय (अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकार के हैं;... लो! यहाँ तो चौथे से बारहवें तक अन्तरात्मा कहा। पहले में बहिरात्मा; चौथे से बाहर, अन्तरात्मा, तेरहवें (गुणस्थान में) परमात्मा। आहाहा! वह अभी विवाद है न? रयणसार का। कैलाशचन्द्रजी ने कहा है कि रयणसार कुन्दकुन्दाचार्य का नहीं है, तब एक दूसरा 'देवेन्द्र' (नीमच) कोई पण्डित है, उन्होंने बड़ा लेख लिखा है, उनका ही किया हुआ है। प्रवचनसार और समयसार के साथ मिलान खाता है। ऐसे विवाद में आ गये। बड़ी पुस्तक है।

यहाँ तो कहते हैं, **अन्य समय (अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा**

और अन्तरात्मा... आहाहा! **ऐसे दो प्रकार के हैं;...** अन्य समय, वह दो प्रकार से है। एक बहिरात्मा और एक अन्तरात्मा को अन्य समय में डाला। पूर्ण दशा नहीं न ? जैसे पंचास्तिकाय में ज्ञानचेतना केवली को ली है। पंचास्तिकाय में ज्ञानचेतना पाठ है। केवली को ली है; और ऐसे चौथे गुणस्थान से ज्ञानचेतना होती है। पंचाध्यायीकार ने वहाँ ऐसा लिया है। ज्ञानचेतना अर्थात् पुण्य और पाप के विकल्प का चेतना से लक्ष्य न करके अन्तर चैतन्य आनन्द का अनुभव करना, वह ज्ञानचेतना है। वह ज्ञानचेतना चौथे से होती है, तथापि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कुन्दकुन्दाचार्य ने मूल पाठ में ज्ञानचेतना केवली को कही है। पण्डितजी!

ज्ञानचेतना। (चेतना) तीन प्रकार की है। कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, ज्ञानचेतना। कर्मचेतना अर्थात् ? राग और द्वेष आदि विकल्प को करना और भोगना, वह कर्मचेतना और उसका फल हर्ष-शोक का भोगना... आहाहा! वह कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना से भिन्न। एक आत्मा को ही ज्ञान में-लक्ष्य में लेकर वेदन करना, वह ज्ञानचेतना। चौथे में आंशिक शुरु होती है, तेरहवें में पूर्ण (होती है)। इसलिए भगवान ने तेरहवें में ही बात ली है। कुन्दकुन्दाचार्य ने तेरहवें में ली है परन्तु ज्ञानचेतना चौथे से होती है। यहाँ अन्य समय बारहवें तक गिना है। समझ में आया ?

अन्य समय (अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त जीव)... तेरहवें गुणस्थान में जो केवली परमात्मा हैं, उनके अतिरिक्त बहिरात्मा जो राग और शरीर को अपना माने। बहिर्। अन्तर में चीज़ नहीं और बहिर् चीज़ को (अपनी) माने, वह बहिरात्मा है। जो आत्मा है, वह तो आनन्दकन्द प्रभु है। ज्ञान का आनन्द सागर है। अतीन्द्रिय शान्ति का पिण्ड है। उसमें उसे उसका वेदन (होवे), उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। परन्तु लोग बात को पकड़कर वहाँ रहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञानचेतना तेरहवें में ली है। वह पूर्ण ली है और नीचे चौथे गुणस्थान से ज्ञानचेतना शुरु होती है। ज्ञानचेतना अर्थात् आत्मा के आनन्द का स्वाद। जो अनादि से निगोद के जीव से द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु होकर नौवें ग्रैवेयक में गया परन्तु वेदन राग का था। राग का वेदन, इसलिए वह बहिरात्मा है। आहाहा! क्योंकि वह राग स्वरूप में नहीं है। निजस्वरूप में राग का विकल्प नहीं है, इसलिए उस राग को वेदन करे और अपना माने, वह बहिरात्मा है अर्थात् आत्मा में नहीं है, उसे—बाह्य की चीज़ को अपनी माने, वह बहिरात्मा। आहाहा! यह शरीर, वाणी और मन और कर्म, यह

स्त्री, पुत्र, परिवार यह सब 'मेरा' माने। जो परचीज़ है, वह अपनी तीन काल में नहीं है। उसमें अपनी माने, वह बहिर्। आत्मा में नहीं, ऐसी बाह्य चीज़ को अपनी माने, वह बहिरात्मा और आत्मा में ज्ञान, आनन्द, शान्ति है; पुण्य-पाप के राग और उसके फल आदि नहीं, उसे (आत्मा का) वेदन करे, वह ज्ञानचेतना। आहाहा!

यहाँ ज्ञानचेतना चौथे से बारहवें तक गिनी है। है मार्गप्रकाश (शास्त्र का आधार)। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में पाठ कहा कि ज्ञानचेतना तेरहवें में होती है परन्तु इससे कहीं चौथे में ज्ञानचेतना नहीं होती और अकेली कर्मचेतना होती है, ऐसा नहीं है। चौथे में समकित से ज्ञानचेतना होती है, कर्मचेतना भी होती है, कर्मफलचेतना तीनों होती है। दो को वह जाने, वेदन करे, तथापि वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! दया, दान का राग आवे परन्तु ज्ञानी वह मेरा स्वरूप है, ऐसा वह धर्मी नहीं मानता। इसलिए उसे अन्तरात्मा कहा है। अन्तर आत्मा में जो नहीं। भले निर्मलता पूर्ण नहीं परन्तु आत्मा में नहीं, उस चीज़ को बाकी करके अकेला आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, शुद्धता के अनन्त गुण से भरपूर... आहाहा! ऐसे आत्मा को माने, तब समकित की शुरुआत होती है। धर्म की पहली सीढ़ी वहाँ से शुरु होती है, आहाहा! और जब तक दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ, (ऐसा माने), तब तक बहिरात्मा है क्योंकि वे वस्तु में नहीं हैं और जहाँ राग-द्वेष का पूर्ण नाश हो गया और अकेली ज्ञानचेतना पूर्ण प्रगट हुई, वह परमात्मा है। आहाहा! समझ में आया?

अन्य समय... अन्य समय अर्थात्? परमात्मा के अतिरिक्त (सब) अन्य समय। केवलज्ञानी परमात्मा... रयणसार में यह आता है। यह श्लोक। पृष्ठ ११५, गाथा १४५। रयणसार। अन्तरात्मा बारहवें तक गिना है। तेरहवें से परमात्मा गिने हैं। अन्य समय, परमात्मा के अतिरिक्त अन्य समय गिना है। ऐसा यहाँ भी कहते हैं, अन्य समय। आत्मा का वेदन है और साथ में राग तथा द्वेष का वेदन है, उसे यहाँ अन्तरात्मा अन्य समय कहा गया है। अन्तरात्मा अन्य समय। राग और पुण्य मेरे, यह माननेवाला-वेदन करनेवाला अन्य समय बहिरात्मा है और राग-द्वेष बिल्कुल नहीं और अकेले आनन्द का पूर्ण अनुभव है, वह स्वसमय परमात्मा है। समझ में आया? आहाहा! दया का भाव, परजीव की दया का भाव, वह मेरा है (ऐसा मानता है), तब तक वह बहिरात्मा है क्योंकि वह भाव स्वरूप

में नहीं है। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम, वे बहिर् हैं। वे अन्तरात्मा में नहीं हैं, इसलिए अन्तरात्मा पंच महाव्रत के परिणाम को अपना नहीं मानता, तथापि होते हैं, इसलिए ज्ञानी को कर्मचेतना भी है और कर्मफलचेतना भी है। आहाहा! यहाँ अन्य समय अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त अन्य समय लिया है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी जिनेश्वरदेव को यहाँ स्वसमय में लिया है। बाकी के को अन्य समय में लिया है। पहले से बारहवें तक अन्य समय। पहले में बहिरात्मा है, परन्तु चौथे से बारहवें गुणस्थान तक अन्य समय है। आहाहा!

(परमात्मा के अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकार के हैं; उनमें बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धि... आहाहा! मिथ्यादृष्टि अज्ञानी (को) जैनपने की खबर नहीं है। जैन किसे कहना? यह देह और इन्द्रिय तथा पुण्य और दया, दान के भाव, वे मेरे हैं—(ऐसा) माने, वह जैन नहीं है। आहाहा! वह बहिरात्मा अन्य है। आहाहा! भारी कठिन।

मुमुक्षु : तो जैनों की संख्या बहुत कम हो जाएगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : संख्या भले एक ही हो। सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत्य को सत्य की आवश्यकता है। सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं है, तो भी सत्य तो असंख्य पड़े हैं। तिर्यंच समकिती। आहाहा!

अन्य समय। बारहवें गुणस्थान तक अन्य समय कहे, तेरहवें गुणस्थान में स्वसमय कहा यहाँ। और दूसरी जगह चौथे गुणस्थान से स्वसमय लिया। समयसार की शुरुआत करते हुए दूसरी गाथा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने '**पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं**' जो कोई राग और द्वेष में रहता है, वह परसमय है। वह अत्यन्त मिथ्यादृष्टि है। दूसरी गाथा। '**जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो**' तीन को इकट्ठा लिया है। इसलिए कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह सब कथन सातवें गुणस्थान के लिये है, तो फिर यह अष्टपाहुड़ में समकित पाहुड़, समयसार में १४वीं गाथा वह सब समकित की है। समझ में आया? बहुत चर्चा चलती है। आहाहा!

यहाँ तो अन्य समय में (उसे कहा कि) जब तक राग का अंश भी अपने में मानता नहीं परन्तु, है। मानता है, वह बहिरात्मा है। अपना मानता नहीं, वह अन्तरात्मा है और तब

तक अभी अन्य समय में है। आहाहा! और रागरहित दशा, केवलज्ञान परमात्मा की दशा, वह मोक्षदशा है। वह परमात्मा ज्ञानचेतना है। यह बात इतनी अधिक लम्बी है। अन्तरात्मा दो प्रकार से है। क्या कहा? अन्य समय के दो अर्थ लिये हैं। एक बहिरात्मा भी अन्य समय और एक अन्तरात्मा भी अन्य समय, परन्तु बहिरात्मा राग को अपना मानता है, समकिती अपना नहीं मानता, तथापि राग मिटा नहीं है; इसलिए उसे अन्य समय में डाला है। आहाहा! अब ऐसा सब। वह तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, रात्रिभोजन नहीं करो (तो) धर्म हो गया। धूल में भी धर्म नहीं है। ऐसा अनन्त बार किया है, भाई! चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पूर्णानन्द की शान्ति से भरा हुआ, उसका वेदन और श्रद्धा-ज्ञान हुए बिना धर्म की पहली सीढ़ी-शुरुआत भी नहीं होती। चाहे जितनी क्रिया करे, व्रत, तप और भक्ति-पूजा (करे) परन्तु वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

अन्य समय के दो प्रकार : बहिरात्मा और अन्तरात्मा। उन्हें यहाँ अन्य समय में डाला है। आहाहा! और **उनमें बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धिवाला होता है।** आहाहा! देह-मन-इन्द्रियाँ जो नजदीक हैं, वे मेरे हैं। मैं इन्द्रियों से जानता हूँ, मन से जानता हूँ और पर को जाननेवाला अपने को माने, वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात है। **बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धिवाला होता है।** अन्तरात्मा ऐसा नहीं होता और परमात्मा तो रागरहित है।

दूसरा श्लोक।

जघन्य-मध्यमोत्कृष्ट-भेदादविरतः सुदृक्।
प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो मध्यमोमध्यमस्तयोः ॥

अन्तरात्मा—धर्मात्मा—धर्म की शुरुआतवाला, ऐसा कहते हैं, धर्म की शुरुआतवाला। भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनेश्वरदेव की वाणी में, मुखारविन्द में से निकली हुई वह वाणी यह है। यह ऐसा कहते हैं कि **अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे (तीन) भेद हैं;...** अन्तरात्मा अर्थात् चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक। उसके तीन भेद हैं : जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। आहाहा!

अविरत सम्यग्दृष्टि वह प्रथम (जघन्य) अन्तरात्मा है,... परन्तु अन्तरात्मा है न? आहाहा! अविरत, भले विरति नहीं। चारित्र का आचरण नहीं। राज और पाट, परिवार में

बड़ा दिखायी दे, तथापि अन्तर में वह अविरति सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। आहाहा! गृहस्थाश्रम में भी आत्मा में लीन हो सकता है। कोई ऐसा कहे कि मुनि के लिये लीनता होती है। योगीन्द्रदेव में आया न? भाई! योगीन्द्रदेव में ६५ गाथा और १८, दो में। 'गृहकार्य करते हुए जो आतमरस लीन।' कल सज्झाय हुई न? योगसार। उसमें यह आया। 'गृह काम करते हुए अन्तर आतमरस लीन।' आहाहा! वह काम में भले दिखायी दे परन्तु अन्दर में उस काम से भिन्न है। जैसे नारियल में गोला भिन्न है, वैसे चैतन्य भगवान... आहाहा! देह-देवल के परमाणु यह मिट्टी-धूल है, इस मिट्टी से एकदम भिन्न है। आहाहा! उसी और उसी का कहीं आदर नहीं। समझ में आया?

अन्तरात्मा। चैतन्यस्वरूप अनाकुल आनन्द का कन्द और रसकन्द आत्मा है। उसमें उसे पुण्य-पाप हो परन्तु उन्हें अपना माने नहीं। अस्थिरता हो, तथापि अपने मानने की श्रद्धा अन्तर में (नहीं है); इसलिए चौथे गुणस्थान से जघन्य अन्तरात्मा ज्ञानी कहने में आया है। समयसार के अर्थ में आता है (कि) ज्ञानी किसे कहना? तीन प्रकार आते हैं न? ऐसे सब ज्ञानी ही है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप है न! सब भगवान है। सभी आत्माएँ भगवान हैं। अन्दर पूर्णानन्द और ज्ञान से भरपूर हैं, भगवान हैं। ऐसा देखें तो आत्मा तो भगवान कहा। आहाहा! परन्तु उसमें राग-द्वेष को, पुण्य-पाप तत्त्व को वह यदि अपने में खतौनी करता हो तो वह बहिरात्मा है और वही गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, वस्तु में लीन रहने पर भी... है न यह? कल सज्झाय आयी है न? सज्झाय-स्वाध्याय। 'गृह काम करते हुए जो आतमरस लीन।'

मुमुक्षु : हेयाहेय का ज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आहाहा! गृहस्थाश्रम में पड़ा हो। छह खण्ड का राज चक्रवर्ती का। छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, छियानवें करोड़ सैनिक! छियानवें करोड़ गाँव, तथापि वह अन्तरात्मा है। आहाहा! उस चीज़ को अपनी नहीं मानता। आहाहा! नजर करता है, जानपना करता है। आहाहा! जैसे माता-जननी स्नान करती हो और नग्न दिखायी पड़े-नजर पड़े परन्तु उसमें मेरी माँ है, यह हटता नहीं। यह तो मेरी जननी है। दिखायी दे, नजर से देखे तो नजर वहाँ टिकती नहीं। ऐसी नजर गयी, नहाती हो और खाट के आड़ में नहावे न? फिर खड़े होकर माता कपड़े पहनती हो, तथापि

दिखने पर भी यह माता है, यह बात हटती नहीं। इसी प्रकार राग-द्वेष रहे होने पर भी वह मेरी चीज़ नहीं, यह बात ज्ञानी को हटती नहीं। आहाहा!

क्षीणमोह वह अन्तिम (उत्कृष्ट) अन्तरात्मा है... बारहवें गुणस्थान में। यह तो अन्तिम स्थिति। केवल (ज्ञान) लेने की तैयारी। **और उन दो के मध्य में स्थित वह मध्यम अन्तरात्मा है।** पाँचवें से ग्यारहवें अन्तरात्मा। आहाहा! परन्तु है सब आत्मा के भानवाले। अन्तरात्मा और परमात्मा दोनों। भले अन्तरात्मा को अन्य समय कहा। अन्य समय कहा न। अन्य समय कहने पर भी वह अन्य समय की चीज़ जो राग की है, उसे अपना नहीं मानता। मात्र उसे राग है; इसलिए अन्य समय में डाला। किसका अर्थ हुआ यह? आहाहा! उसमें डाला न पहले अन्य समय? पहले श्लोक में। अन्य समय। आहाहा! वह राग में रहा होने पर भी, अन्य समय होने पर भी है वह अन्तरात्मा। आहाहा! और त्यागी हुआ द्रव्यलिंगी मुनि, हजारों रानियों को छोड़कर, तो भी अन्तर में राग के भाव के पक्ष में चढ़ गया है। भगवान के पक्ष से छूट गया है। स्वयं परमात्मा है, परमात्मा भगवान स्वयं है। आहाहा!

सब आत्माएँ भगवान हैं और सब आत्माएँ भगवान हो सकते हैं। आहाहा! ऐसा नहीं कि यह कसाईखाने का आत्मा है, इसलिए कभी छूटेगा ही नहीं। ऐसा कुछ नहीं है। यह दूसरे भव में, अरे! इस भव में छूट जाए। आहाहा! अन्दर महाप्रभु वस्तु पड़ी है, चैतन्यगंज पड़ा है। महासमुद्र-ज्ञान का महासमुद्र, आनन्द का समुद्र, शान्ति का समुद्र (पड़ा है), उसे जहाँ अपना जाना, उसमें राग के कण को अपना कैसे माने? आहाहा! ऐसी चीज़ को जहाँ माने, वह राग के कण को अपना कैसे माने? इसलिए उसे राग है, इससे अन्य समय कहा अवश्य, परन्तु वह है अन्तरात्मा। आहाहा! जघन्य अन्तरात्मा, क्षीणमोह अन्तिम और **दो के मध्य में स्थित वह मध्यम अन्तरात्मा है।** पाँचवें से ग्यारहवें तक। आहाहा! बहुतों को आचरण का जोर बताना है न, उन्हें ऐसा कि इसमें मुनि की ही व्याख्या है। समकित चौथे में हो, उसकी नहीं। सब मुनि की ही व्याख्या है, ऐसा (वे) कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो श्रेणिक राजा जैसे को हजारों रानियाँ थीं। हजारों राजा चंवर ढोरते, क्षायिक समकिती थे, परन्तु पहले बौद्ध को माननेवाले थे। उसमें से मुनि के निकट समकित प्राप्त

किया। तैंतीस सागर की नरक की स्थिति बाँधी थी, उसे तोड़कर चौरासी हजार वर्ष रह गयी। और है अन्तरात्मा। अभी अन्तरात्मा है। पहले नरक में हैं। आहाहा! समकिती को भी पहले नरक में जाना पड़ा। आयुष्य बँध गया था, जो लड्डू बँधे, उसमें से घी निकालकर फिर नवीन पूड़ी नहीं होती। लड्डू बँधा, उसमें से आटा निकालकर रोटी नयी नहीं होती। वह तो लड्डू खाना ही पड़ेगा। उस लड्डू को भले जरा थोड़े दिन सूखावे तो भी उसमें से... क्या कहलाता है? गेहूँ का आटा। गेहूँ का आटा है न उसमें? उसे निकाल सके और नवीन पूड़ी नहीं हो सकती।

इसी प्रकार आत्मा में दर्शन की प्रतीति होने से पहले नरक का आयुष्य बँध गया, तथापि अन्दर में से उसे छोड़कर वस्तु को पा सकता है। आहाहा!

एक व्यक्ति पूछता था, महाराज! मुझे आयुष्य बँध गया होगा? मेरे परिणाम बराबर सुधरते नहीं। ऐसा पूछा था। भाई! मोहनभाई ने। मोहनलाल कालीदास, राजकोट। साथ में रहते थे न पहले? अन्तिम समय साथ में थे तो एक बार पूछा, महाराज! यह परिणाम क्यों नहीं सुधरते? दक्षिण देश में सबको... क्या भाषा है न? स्वामी... स्वामी... कहते हैं। यशपालजी! दक्षिण देश में सबको स्वामी कहते हैं, ऐसा रिवाज है। भले बालक हो, उसे पूछना हो तो ऐई! स्वामी! ऐई स्वामी! ऐसा पूछते हैं।

मुमुक्षु : कर्नाटक में ऐसा पूछते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, सब देखा है न वहाँ। स्वामी कहते हैं। आहाहा! छोटा बालक खड़ा हो, उसे रास्ता पूछना हो ऐई, स्वामी! भाई! यह रास्ता कहाँ आया? परन्तु वह स्वामी तो अज्ञानी भले हो। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अन्तरात्मा पहले से यह चौदहवें तक तीन गुणस्थान में तो बहिरात्मा गिना, चौथे से समकित जघन्य अन्तरात्मा गिना, बारहवें में उत्कृष्ट और इसके अतिरिक्त मध्यम।

श्लोक-२५८

और (इस १४९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(मंदाक्रांता)

योगी नित्यं सहज-परमावश्य-कर्म-प्रयुक्तः,
सन्सारोत्थ-प्रबल-सुखदुःखाटवी-दूरवर्ती।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः,
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ।।२५८।।

(वीरछन्द)

योगी सदा परम आवश्यक सहज कर्म से युक्त रहे।
चहुँगति जन्य सौख्य-दुखरूपी अटवी से वह दूर रहे॥
इसीलिए वह योगी है अति आत्मनिष्ठ अन्तर-आत्मा।
स्वात्मा से जो भ्रष्ट हुआ बहितत्त्वनिष्ठ वह बहिरात्मा॥२५८॥

[श्लोकार्थः] योगी सदा सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ संसारजनित प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी से दूरवर्ती होता है। इसलिए वह योगी अत्यंत आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है; जो स्वात्मा से भ्रष्ट हो, वह बहिःतत्त्वनिष्ठ (बाह्यतत्त्व में लीन) बहिरात्मा है॥२५८॥

श्लोक - २५८ पर प्रवचन

२५८ श्लोक

योगी नित्यं सहज-परमावश्य-कर्म-प्रयुक्तः,
सन्सारोत्थ-प्रबल-सुखदुःखाटवी-दूरवर्ती।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः,
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ।।२५८।।

श्लोकार्थ: योगी... अर्थात् आत्मा में जिसका जुड़ान है। आहाहा! भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसमें जिसका जुड़ान है। योग-जुड़ान। आहाहा! वह अन्तरात्मा है। वह **सदा सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ...** वह सदा अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द को अपना मानता हुआ, अनुभव करता हुआ। सदा-जब से सम्यग्दर्शन हुआ, तब से सदा आत्मा को वेदन करता है। आहाहा!

कितनों को ऐसा है न कि ज्ञान होने के बाद अकेला सुख का ही वेदन होता है। ऐसा नहीं है। सुख का भी वेदन होता है और दु:ख का भी होता है, तथापि उस दु:ख को अपना नहीं मानता। वेदन होता है। आहाहा! वेदन अर्थात्? राग हुआ, वह कहीं वेदन बिना होगा? और कर्म का बन्धन होता है, वह वेदन किये बिना बन्धन हो जाएगा? चौथे-पाँचवें-छठवें में भी कर्म बँधते हैं। इसलिए राग है, वेदन है; इसलिए बँधते हैं, तथापि उसे अपना नहीं मानता। यह यहाँ कहते हैं।

योगी सदा... सदा। धर्मात्मा तो सदा... आहाहा! **सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ...** स्वाभाविक परम आवश्यक-अवश्य की अन्तर की क्रिया, आत्मा में लीनतारूपी क्रिया, उसरूपी कर्म अर्थात् कार्य, उससे युक्त रहता हुआ। आहाहा! **संसारजनित...** आहाहा! भाषा देखो! **संसारजनित प्रबल सुखदु:खरूपी अटवी से...** समकिती को प्रबल सुख-दु:ख की कल्पना आवे तो भी वह संसारजनित होने पर भी उससे **दूरवर्ती होता है।** है? ऐसा है, भान है, तथापि दूरवर्ती है। आहाहा!

लोगों को ऐसा जँचना कठिन पड़ता है क्योंकि उन्हें अभ्यास नहीं होता। बाहर का अभ्यास पूरे दिन। अन्तर कौन है? उसकी चीज़ बिना देह चला जाएगा। आहाहा! यह आत्मा कहीं चला नहीं जाएगा। चला नहीं जाएगा अर्थात् नाश नहीं होगा। चला जाएगा यहाँ से छूटेगा इसलिए। परन्तु कहीं वापस रास्ते में कहीं भव तो करेगा न? भव करेगा, उसमें किस प्रकार का भव करेगा? उसके भान बिना के जीव को संसार में भटकने का भव करेगा। नरक और निगोद, बाघ और सिंह... आहाहा! कूकड़ा और बिल्ली के अवतार होंगे, भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं धर्मी जीव **सदा (स्वाभाविक) सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ संसारजनित प्रबल...** भाषा देखो! कर्म से उत्पन्न हुआ, ऐसी भाषा नहीं

है। क्या कहा? समकिती को कर्म से उत्पन्न हुए राग-द्वेष, ऐसा नहीं तथा उसने उत्पन्न किए, ऐसा भी शब्द नहीं। आहाहा! क्या कहा आत्मज्ञानी धर्मी जीव को पहले ही धर्म की शुरुआत में पहली सीढ़ी में उसे **संसारजनित प्रबल...** गजब किया है न! आहाहा! स्वयं से उत्पन्न किया नहीं। संसार है इतना। उससे उत्पन्न होता है, तथापि उससे दूर वर्तता है। धर्मी उससे दूर वर्तता है। आहाहा! होता है तो भी दूरवर्ती और राग-द्वेष नहीं करता तो भी अन्तर की गहराई में राग की एकताबुद्धि हो... आहाहा! वह तो राग के समीप में वर्तता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **योगी सदा सहज परम आवश्यक...** (अवश्य की क्रिया) **कर्म से युक्त...** (सहज) **रहता हुआ संसारजनित प्रबल...** आहाहा! गजब भाषा की है। आहाहा! '**संसारोत्थ**' है न? दूसरा पद। **संसारोत्थ** आहाहा! संसार किसे कहते हैं, ऐसा समझाया है। संसार, वह स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब नहीं। व्यापार-धन्धा, स्त्री, कुटुम्ब यह संसार नहीं। आहाहा! संसारजनित, परिभ्रमण से उत्पन्न होने में संसरण, आत्मा को छोड़कर पर्याय में संसारजनित विकार। आहाहा! आत्मजनित नहीं, परजनित नहीं। आहाहा! यह संसार—संसरण इति संसार—स्वरूप में से हट जाना, ऐसी दशा को संसार कहते हैं। वह **संसारजनित प्रबल सुखदु:खरूपी अटवी...** बड़ी अटवी-वन। उससे धर्मी **दूरवर्ती होता है**। आहाहा! गजब है!

विशिष्टता तो यह है कि संसारजनित शब्द। आत्मा को कर्म की कमजोरी से हुआ, यह तो नहीं, परन्तु स्वयं से हुआ, यह संसारजनित। संसार है, वह आत्मा का नहीं। यह राग पुण्य-पाप, वह संसार है। वह आत्मा का नहीं। आहाहा! अर्थात् संसारजनित विकार को धर्मी जीव अपना नहीं मानता। आहाहा! वह राग धर्मजनित नहीं। राग और द्वेष के विकल्प उठें, वे धर्मजनित नहीं, कर्मजनित नहीं। आहाहा! ऐसी तो भाषा स्पष्ट पड़ी है, तो भी विकार कर्म के कारण होता है... कर्म के कारण होता है, (ऐसा लोग कहते हैं)। शास्त्र में पाठ ऐसा आवे, कर्म के निमित्त से विकार होता है, निमित्त से विकार होता है, ऐसा पाठ आवे। निमित्त से होता है, इसका अर्थ कि वह है और अपने को परलक्ष्य से होता है। आहाहा!

यह शब्द जो आचार्य ने रखा है, यह तो पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं। **संसारजनित...** आहाहा! अपने से उत्पन्न हुआ नहीं, कर्म से उत्पन्न हुआ नहीं। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव, यह सुख-दु:ख की कल्पना के भाव, समकिती को संसारजनित हैं।

आत्मजनित, स्वभावजनित नहीं हैं। आहाहा! तथा कर्मजनित तो है ही नहीं। पर के कारण विकार होता है, यह तो है ही नहीं। आहाहा! गजब काम किया है! संसारजनित। संसार कोई अलग चीज़ होगी? अलग है। आत्मद्रव्य से संसार-विकृत अवस्था अलग है। आहाहा! वह भिन्न में उत्पन्न होने से विकार... आहाहा! उससे दूरवर्ती है। आहाहा!

राग और द्वेष के विकल्प, इच्छा—अनेक प्रकार की इच्छा की कल्पनाएँ होती हैं। चक्रवर्ती समकिती होवे और हो परन्तु वह संसारजनित है, आत्मजनित नहीं तथा कर्म ने उत्पन्न कराया, ऐसा भी नहीं। आहाहा! गजब अर्थ लिखा है। संसारजनित विकार। संसार स्वयं विकार है। संसार, संसरण इति संसार। स्वभाव में से हटना और राग-द्वेष में (आना), वह संसार है। अत: यही कहा। धर्मी को लेना है न? इसलिए धर्मी स्वयं आनन्दकन्द के स्वरूप में है, इसलिए जो विकार होता है, वह संसारजनित है। आहाहा! अपने अपराधजनित है, उसे संसारजनित कहा है। समझ में आया? बात तो बहुत अलग है। अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होते भाव हैं ये, तथापि यह भाव-संसार वह मेरा नहीं। स्वरूप में से हट जाना, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा!

इसलिए स्वरूप में दृष्टि होने के कारण; ज्ञानी को जो रागादि दोष उत्पन्न होते हैं, सुख-दु:ख के भाव होते हैं, वे संसारजनित हैं। आहाहा! ज्ञानी संसार को अपना नहीं मानता। वापस संसार कहाँ रहता है, यह भी सिद्ध किया। संसार जीव की विकारी पर्याय है। संसार कोई स्त्री, पुत्र, परिवार (नहीं है)। स्त्री, पुत्र, परिवार छोड़ा, इसीलिए संसार छोड़ा, ऐसा नहीं है। करोड़ों की आमदनी का धन्धा छोड़ा, दुकान बन्द कर दी (और) त्यागी (हो गया), वह त्याग नहीं है। आहाहा! गजब है न! देवीलालजी! संसारजनित यह और तीसरी बात। आत्मजनित नहीं, कर्मजनित नहीं। आहाहा!

धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव को प्रबलरूप से चैतन्य के स्वभाव का भान और अनुभव तथा वेदन होने से, वह संसारजनित जो कुछ विकृत अवस्था है... आहाहा! उससे वह दूर वर्तता है। दूर वर्तता है। आहाहा! आत्मा ने किया, प्रबल रूप से पर्याय में वर्तता है, ऐसा न लेकर... आहाहा! भाषा तो देखो! नहीं तो धर्मी को आत्मा की पर्याय में कमजोरी के परिणाम होते हैं। वह तो संसारजनित विकार है। स्वभावजनित नहीं, कर्मजनित नहीं। आहाहा! क्योंकि दूसरा द्रव्य उसे कराता नहीं और स्वभाव में राग होता नहीं। स्वभाव में राग है नहीं; इसलिए पर्याय में संसारजनित राग होता है। आहाहा! समझ में आया इसमें?

पर्याय में... आहाहा! उसका जाननेवाला-देखनेवाला रहता है, इसलिए उस विकार को संसारजनित कहा है। संसार कोई दूसरी चीज़ नहीं है। स्वरूप में से हट जाना, इसलिए उत्पन्न होता है परन्तु हट जाना, ऐसा न गिनकर, स्वरूप में से हट गया है, इतना समकित का भान है और हट गया, इसलिए राग-द्वेष हुआ है, इतना भी नहीं। वह संसारजनित विकार है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! गजब किया है। आहाहा! लोग शोर मचाते हैं, कर्मजनित राग-द्वेष होते हैं, हम कर्म के कारण भटकते हैं, यह एकदम झूठी बात है तथा आत्मा के स्वभाव के कारण हम भटकते हैं, यह भी झूठी बात है। आहाहा!

स्वभाव जानने पर भी जो विकार होता है... आहाहा! गजब काम! वह संसारजनित विकार है। गजब बात! संसार कोई दूसरी चीज़ है? इसलिए कहते हैं, त्रिकाली जो आत्मा मुक्तस्वरूप है... आहाहा! उसका भान वर्तता है। भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप है। सूक्ष्म पड़े, प्रभु! परन्तु यह करना पड़ेगा। आहाहा! आठ-आठ वर्ष के लड़के दरकार करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। आहाहा! गजब किया है। आहाहा! संसारजनित, भाषा कैसी!

मुमुक्षु : ७५वीं गाथा में तो कर्मजनित कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसमें?

मुमुक्षु : समयसार ७५ गाथा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सी?

मुमुक्षु : ७५-७५।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो और अलग प्रकार। वहाँ तो स्वभाव का भान है, इसलिए एक अलग चीज़ उसे गिना है, इसलिए वह तो कर्म कर्ता है और विकार उसका कार्य है, समकिती को। यहाँ तो स्पष्ट कर दिया। आहाहा! वह विकार की कमजोरी के कारण विकार हुआ, ऐसा शब्द न प्रयोग करते हुए... आहाहा! सन्तों की वाणी, बापू! दिगम्बर सन्तों की वाणी... ओहोहो! गहरी, गम्भीरता का पार नहीं होता। आहाहा!

भगवान आत्मा राग के विकल्प से पार निर्विकल्प चीज़ है। ऐसी श्रद्धा और अनुभव होने पर भी कहते हैं, संसारजनित राग-द्वेष होते हैं। वह संसारजनित है। आहाहा! कर्म से नहीं। आहाहा! पुरुषार्थ की कमजोरी, ऐसा न कहकर, संसारजनित विकार है।

आहाहा! नहीं तो अपनी कमजोरी से हुआ है, ऐसा न कहकर... आहाहा! वह मुझमें है ही नहीं, इसलिए प्रश्न क्या? कहते हैं। कमजोरी से होता है, (ऐसा कहने पर) वह मुझमें है, ऐसा आया। यह तो संसारजनित है। आहाहा! गजब काम किया है।

संसारजनित... संसार-संसरणदशा से उत्पन्न हुआ **प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी...** देखा, आहाहा! प्रबल। दो शब्द प्रयोग किये हैं। कठोर क्रोध, मान, माया हो। आहाहा! संसारजनित और कठोर, क्रोध, मान, माया हो। है न? आहाहा! **प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी से...** सुख-दुःखरूपी वन। आहाहा!

मुमुक्षु : योगी को संज्वलन कषाय हो, यहाँ प्रबल कैसे कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्रबल ही है। कषाय वस्तु कहाँ है? वस्तु में विकल्प उठे, वह प्रबल है। निर्विकल्प वस्तु है। आहाहा! आनन्द का सागर है। जहाँ स्त्री, पुत्र का तो स्पर्श भी नहीं। आहाहा! मकान का और इज्जत का स्पर्श नहीं। हमेशा साबुन द्वारा नहाता है परन्तु यह कहते हैं, उसे यह तो स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! पानी, शरीर को स्पर्श नहीं करता; शरीर, पानी को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! मात्र ज्ञानी को संसारजनित जरा राग होता है, विकार होता है, तथापि समकिती उससे दूर वर्तता है। आहाहा! मानों कि कोई दूसरी चीज़ से उत्पन्न हुआ हो ऐसे। अपनी चीज़ से नहीं, कर्म से नहीं। कर्म से विकार तो नहीं, क्योंकि (कर्म) परद्रव्य है परन्तु एक संसारजनित अन्दर... आहाहा! अपनी कमजोरी से समकिती को भी राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया (लोभ) होते हैं। आहाहा!

१४ और १०, चौबीस प्रकार का परिग्रह है न? भाई! चौबीस प्रकार का परिग्रह। उनमें दस प्रकार का परिग्रह बाह्य है। क्षेत्र, मकान है न? सोना, चाँदी... आहाहा! दास, दासी, कपड़ा, बर्तन यह दस प्रकार का परिग्रह बाह्य है। समझ में आया? प्रभु ने चौबीस प्रकार का परिग्रह गिना है। यह दस हुए। क्षेत्र और मकान। क्षेत्र खाली और मकान चिना हुआ। सोना और चाँदी, दास और दासी, बर्तन और कपड़े... आहाहा! यह परिग्रह है। दास और दासी। दास और दासी, वह बाह्यपरिग्रह है। आहाहा! सोना और चाँदी, वह परिग्रह है। पुण्य के कारण प्राप्त हुए हैं, परन्तु है पाप परिग्रह। आहाहा! पुण्य के कारण पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये मिले परन्तु वह पापी है। वह वस्तु पाप है। संसारजनित विकार है। आहाहा! उस वस्तु से भी नहीं। वह बाह्य चीज़ मिली, उससे भी नहीं। आत्मा से तो नहीं

परन्तु उससे भी नहीं। मात्र पर्याय में संसारजनित शब्द कहना। आहाहा! संसार-पर्याय में जरा स्वभाव में से हटता है, उससे उत्पन्न हुए राग और द्वेष। सूक्ष्म है, प्रभु! आहाहा! प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं। तेरी महत्ता... आहाहा! महत्ता और महिमा... आहाहा! तू कोई रंक नहीं; तू तो चैतन्यरत्न भरपूर भगवान है। कहते हैं, ऐसा भान हुआ, पश्चात् उससे विरुद्ध जो कुछ हो, उसे संसारजनित गिनकर दूरवर्ती वर्तता है। आहा! मुझमें उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दूर, ऐसा नहीं। आहाहा! बात समझ में आती है? है न? विमलचन्दजी! संसारजनित। आहाहा! यह क्या है?

एक ओर कहते हैं, कर्म से होता है। शास्त्र में भी ऐसा आता है, समकिती को कर्म से विकार होता है और कर्म, व्यापक; विकार व्याप्य। व्याप्य अर्थात् अवस्था-कार्य। कर्ता, कर्म। कार्य, विकार। परन्तु समकिती को। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि संसारजनित कार्य से दूरवर्ती है। आहाहा! क्षेत्र से दूरवर्ती नहीं। क्षेत्र तो उसकी पर्याय में है परन्तु वास्तविक क्षेत्र देखो तो विकार का क्षेत्र, वह अपना नहीं है। आहाहा! यह आता है या नहीं? संवर अधिकार में। संवर अधिकार, समयसार। विकार का क्षेत्र अलग है। आहाहा! आत्मा के क्षेत्र से विकार का क्षेत्र अलग है। आहाहा! एक समय की पर्याय में विकार उत्पन्न हो, उस स्वक्षेत्र से परक्षेत्र भिन्न है। आहाहा! गजब बात है। ऐसा तो कभी सुना नहीं होगा। ऐसा का ऐसा दिये रखते हैं। आहाहा! यह तो मुनि हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। कहते हैं कि छठवें में वह विकल्प जो उठता है, वह संसारजनित है। मैं दूरवर्ती हूँ। आहाहा! ऐसा समकिती भी... आहाहा! विकार में वर्तता नहीं। वह संसारजनित है, दूरवर्ती है। आहाहा! उससे-अटवी से दूरवर्ती होता है।

इसलिए वह योगी अत्यंत आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है;... यह तो अन्तर आत्मा में निष्ठ है। आत्मा में निष्ठ है। आहाहा! गजब बात है। प्रश्न करना हो तो रात्रि (चर्चा) में करना। आहाहा! **आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है;...** विकार होने पर भी धर्मी आत्मनिष्ठ है, आत्मा में स्थिर है। आहाहा! जो आत्मा से भ्रष्ट हो, आत्मा के ज्ञानानन्द से भ्रष्ट हो, वह बहिर्तत्त्व निष्ठ है। वह बाह्यतत्त्व में स्थिर है, वह राग में स्थिर है, पुण्य में स्थिर है, पुण्य के फल में स्थिर है। उसे यहाँ बाह्यतत्त्व कहा गया है, उसे बहिरात्मा कहने में आया है। आहाहा! विशेष है....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१७४, श्लोक-२५८, गाथा-१५०, सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण १०, दिनांक ०७-०७-१९८०

नियमसार १५० गाथा। कल आया था न? **संसारजनित प्रबल सुखदु:खरूपी अटवी से दूरवर्ती...** आहाहा! कर्म से नहीं लिया, आत्मा से – ऐसा नहीं लिया। पर्याय में संसार है, स्वरूप में संसार नहीं है, बाह्य में संसार नहीं है। पर्याय में संसार है – ऐसा सिद्ध किया। आहा! उस संसारजनित प्रबल सुख-दु:खरूपी वन, अर्थात् असंख्य प्रकार के सुख-दु:ख के भाव, उनसे धर्मी दूरवर्ती है। बात की कि पर्याय में होते हैं – ऐसी बात की। कर्म से होते हैं या आत्मा में होते हैं – ऐसा नहीं लिया। आहाहा! आत्मा वस्तु भगवान पूर्णानन्द स्वरूप है। पर्याय में संसार से उतपन्न हुए, 'संसरण इति संसार', स्वभाव में से हटकर पर्याय में राग और द्वेष (भाव होवे), वह संसारजनित सुख-दु:ख की अटवी... आहाहा! वह विकल्प का अनन्त जाल, ऐसे वन में... आहाहा! धर्मी दूरवर्ती वर्तता है। ऐसी बात है। आहाहा! जिसने, आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्दघन अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागमूर्ति, ऐसा जिसने जाना—अनुभव किया, उसे उसकी पर्याय में संसार है, उस संसार से उत्पन्न हुआ विकल्प जाल, उससे भी रहित है। आहाहा! ऐसी बात है।

संसारजनित कहा। आत्मजनित भी नहीं कहा, कर्मजनित भी नहीं कहा। आहाहा! ऐसे आत्मा की पर्याय से उत्पन्न होता है—ऐसा भी नहीं कहा। आहाहा! क्या सन्तों की वाणी! गजब है! अजब बात! वह वस्तु स्वयं है। संसार की दशारहित स्वभाव है। जिसके स्वरूप में संसार, उसमें से हटना ऐसी वस्तु नहीं है, कहते हैं। आहाहा! उस चीज़ में से हटकर पर्याय में संसार है। उस संसार से उत्पन्न हुआ; उदयभाव से उत्पन्न हुआ – ऐसा भी नहीं कहा। आहाहा! गजब बात है। उदयभाव से होता है – ऐसा भी नहीं कहा; आत्मा की कमजोरी से होता है – ऐसा भी नहीं कहा; कर्म से होता है – ऐसा नहीं कहा। आहाहा! गजब बात की है। यह प्रभु संसाररहित है। चैतन्य भगवान में संसार है ही नहीं। उसकी पर्याय में संसार है, इसलिए संसारजनित शब्द लिया है। पर्यायजनित भी नहीं लिया। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : पर्यायजनित नहीं, परन्तु विभावजनित...

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय है उसकी, उसका भी नहीं। वह संसारजनित उत्पन्न हुआ,

उससे दूरवर्ती है। अर्थात् उसमें वह स्वयं नहीं है, ऐसा। आहाहा! यह मुख्य बात है। ऐसी वाणी दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं है नहीं। आहाहा! बहुत गंभीर! बहुत गहराई! बहुत अन्दर अचिन्त्यता, आहाहा!

एक तो यह सिद्ध करना है कि वस्तुस्वरूप में संसार नहीं है, अर्थात् आत्मा विकार करे – ऐसा नहीं है। आहाहा! तथा कर्म से विकार होता है—ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! कमजोरी से विकार होता है—ऐसा न लेकर, वह संसार, पर्याय में संसार है। आहाहा! पुण्य और पाप का विकल्पजाल संसारजनित भाव सुख-दुःख, प्रबल सुख-दुःख। आहाहा! **प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी से...** उसके वन से **दूरवर्ती होता है।** भगवान तो उससे दूरवर्ती है। आहाहा! गजब भाषा की है। ऐसी शैली कहीं नहीं है। संसार इसके स्वरूप में नहीं है—ऐसा कहना है और संसार, पर्याय है अर्थात् पर्याय से उत्पन्न होता है—ऐसा न कहकर... आहाहा! संसारजनित... आहाहा! प्रबल सुख-दुःखरूप (कहा)। आहाहा! कठोर सुख और दुःख के प्रकार। आहाहा!

मुमुक्षु : छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग होता है, इसलिए यहाँ प्रबल शब्द प्रयोग किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तुस्वरूप में नहीं है; इसलिए प्रयोग किया। स्वरूप में यह है नहीं। आहाहा! यह संसारजनित, पर्याय में संसार है। पर्याय संसार है। धर्मी की पर्यायबुद्धि है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अन्तर की बातें हैं। आहाहा!

ऐसे जो **प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी...** वन। उससे समकिती, ज्ञानी **दूरवर्ती होता है।** दूरवर्ती होता है। दूर वर्तता है, ऐसा कहते हैं। वर्तता तो है पर्याय में। आहाहा! परन्तु यह सुख-दुःख की कल्पना, इससे दूरवर्ती वर्तता है। दूरवर्ती वर्तता है। आहाहा! **इसलिए वह योगी अत्यंत आत्मनिष्ठ...** देखा! संसारजनित विकार की वृत्ति जहाँ अन्तर में है ही नहीं। इसलिए यह दृष्टि का विषय जो आत्मा है, उसमें वह निष्ठ है। आत्मनिष्ठ.... आत्मा में निष्ठ रहा हुआ **अन्तरात्मा है;...** वह अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा का स्वरूप जो है, वह संसारजनित से भिन्न है। इससे भिन्न दूरवर्ती उसका वर्तन है। आहाहा!

यहाँ करोड़पति या धूलपति या अरबपति कुछ काम करे, ऐसा नहीं है। कि भाई, इतने करोड़ होवे तो दिक्कत नहीं। दान करे तो पाप हटे, पुण्य करे तो पाप हटे, ऐसा नहीं

कहते ? बालकों को-लड़कों को रोग होता है न ? बहुत होवे, फिर ऐसा कहे। पुण्य से पाप को धक्का लगता है, इसलिए पुण्य करो। लड़कों को कुछ बाँटो, बर्फी बाँटो, पेड़ा बाँटो, अमुक बाँटो। है या नहीं ? सुना है ? छोटे लड़के को। ऐसी स्थिति में होवे तो कहें पाप, पुण्य से हटेगा। करो पुण्य। आहाहा! यह अपने काठियावाड़ में तो कहावत है। यह तो सुना है न सब। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! यह पर्याय में संसार जो उत्पन्न हुई दशा, उसमें आत्मा निष्ठ नहीं है, उसमें आत्मा स्थित नहीं है। आहाहा! आत्मा तो उसे कहते हैं... आहाहा! कि आत्मनिष्ठ (होवे)। इस संसारजनित प्रबल सुख-दुःख से दूर वर्तता हुआ आत्मनिष्ठ (होवे)। वहाँ से दूर वर्तता है, परन्तु है कहाँ अब ? आहाहा! आत्मनिष्ठ। आत्मा में है। आहाहा! उसे यहाँ अन्तरात्मा कहा जाता है। आहाहा!

जो स्वात्मा से भ्रष्ट हो... इस प्रकार जो आत्मा में संसार नहीं है परन्तु उस संसार में जो हो... विशिष्टता तो यह की है कि संसार यह स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन्धा, यह कुछ संसार नहीं है। यह तो चीज़-परचीज़ है। परचीज़ में संसार कैसा ? संसार तो आत्मा की पर्याय में विकृतरूप है, तो पर्याय न लेकर इन्होंने संसार ही उठाया। संसार पर्याय में है। संकल्प और विकल्प का जाल। आहाहा! धर्मी उस पर्याय में संकल्प-विकल्प होने पर भी, दूरवर्ती वर्तता है अर्थात् आत्मा में वर्तता है, वह अन्तरात्मा है। आहाहा! देवचन्दजी! ऐसे देव की बात है यह। बड़ा देव अन्दर (विराजता है)। आहाहा!

गजब बात की है। लोगों को भाषा साधारण लगती है परन्तु बहुत गम्भीर। मुनि-सन्त दिगम्बर सन्त तो भगवान हैं, वे तो परमेश्वर हैं। पंच परमेष्ठी में परमेश्वर हैं। आहाहा! और वे पंच परमेष्ठी अरिहन्त तो मोक्ष जानेवाले हैं, सिद्ध मोक्ष हो गया परन्तु वह भी एकाध भव में मोक्ष जानेवाले हैं। आहाहा! ये कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, आहाहा! पद्मप्रभमलधारिदेव (मोक्ष जानेवाले हैं)। हम तो यह संसारजनित, संसारजनित... आहाहा! गजब बात है। इसमें हम नहीं। हम संसार में नहीं। बाहर स्त्री, पुत्र छोड़े; इसलिए हम संसार में नहीं - ऐसा नहीं। करोड़ों का व्यापार-धन्धा करता था, वह छोड़ा तो उसने संसार छोड़ा, ऐसा नहीं है। पर्याय में संसारजनित जो विकल्प होता है, उससे दूर वर्ते, उसने संसार छोड़ा। आहाहा! कहो, समझ में आया ?

यह गाथा ऊपर तो कल आ गया था। विशेष (लिया)। आहाहा! और ऐसे स्व-आत्मा से भ्रष्ट है, अर्थात् संसारजनित भाव में जो पड़ा है और उससे रहित भगवान परमात्मा है, विद्यमान चीज़ है, प्रत्यक्ष है, प्रगट है... आहाहा! मौजूद है। आहाहा! पर्याय में भी जिसकी अस्तित्व नहीं, ऐसा उसका अस्तित्व महाअस्तित्व प्रभु का, ध्रुव अस्तित्व विराजमान है। उसमें निष्ठ, जो स्थिर है, वह आत्मा है, बाकी भ्रष्ट है। आहाहा! एक आत्मा में से निकलकर जो संसारजनित संकल्प-विकल्प, उनमें जो रुकता है, वह आत्मा से भ्रष्ट है। है?

जो स्वात्मा से भ्रष्ट हो, वह बहिःतत्त्व... आहाहा! बाह्यतत्त्व। आहाहा! अन्तरतत्त्व में संसार ही नहीं है। संसार बहिःतत्त्व है। धर्मी को बहिःतत्त्व पर दृष्टि नहीं है, इसलिए उससे दूरवर्ती है। आहाहा! और अज्ञानी संसार की जो वृत्ति है, उसमें रुका हुआ है, वहाँ पर्यायबुद्धि में रुका है। आहाहा! इसीलिए वह स्वात्मा से, वस्तु के स्वभाव से भ्रष्ट है। आहाहा! नीचे विशेष लेंगे। बाह्यतत्त्व में बहिरात्मा है। आहाहा!

जो अन्तर भगवान अनादि-अनन्त, अनन्त गुण की ध्रुवधारा, उसमें से हटकर उस संसारजनित राग में जो खड़ा है, वह स्वात्मा से भ्रष्ट है। ऐसी बात है। आहाहा! गजब बात है। ओहोहो! ऐसी भाषा-वाणी कहाँ है? दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। यह अन्तर के अनुभव के उद्गार हैं, हों! सब। आहाहा! यह प्रभु स्वयं संसार से तो दूरवर्ती वर्तता है। वहाँ हमारी दृष्टि है। जहाँ संसार नहीं, वहाँ हम हैं। आहाहा! जहाँ संसार है, वहाँ जो है, वह स्वात्मा से भ्रष्ट है। आहाहा! कहो, विमलचन्दजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

गाथा-१५०

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा।।१५०।।

अन्तरबाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा।
जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरङ्गात्मा।।१५०।।

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोऽयम्। यस्तु जिनलिङ्गधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्मकाङ्क्षया स्वाध्यायप्रत्याख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अशनशयनयानस्थानादिषु सत्कारादिलाभ-लोभस्सन्नन्तर्जल्पे मनश्चकारेति स बहिरात्मा जीव इति। स्वात्मध्यानपरायणस्सन् निरवशे-षेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजालकेषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादन्तरात्मेति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्र

(वसंततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नय-पक्ष-कक्षाम्।
अन्तर्बहिः सम-रसैक-रस-स्वभावं,
स्वं भाव-मेक-मुपयात्यनुभूति-मात्रम्।।

तथाहि ह्र

जो बाह्य-अन्तर जल्प में वर्ते वही बहिरातमा।
जो जल्प में वर्ते नहिं वह जीव अन्तरआतमा॥१५०॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [अन्तरबाह्यजल्पे] अन्तर्बाह्य जल्प में [वर्तते] वर्तता है, [सः] वह [बहिरात्मा] बहिरात्मा [भवति] है; [यः] जो [जल्पेषु] जल्पों में [न वर्तते] नहीं वर्तता, [सः] वह [अन्तरंगात्मा] अन्तरात्मा [उच्यते] कहलाता है।

टीका : यह बाह्य तथा अन्तर जल्प का निरास (निराकरण, खण्डन) है।

जो जिनलिंगधारी तपोधनाभास पुण्यकर्म की काँक्षा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बहिर्जल्प करता है और अशन, शयन, गमन, स्थिति आदि में (-खाना, सोना, गमन करना, स्थिर रहना इत्यादि कार्यों में) सत्कारादि की प्राप्ति का लोभी वर्तता हुआ अन्तर्जल्प में मन को लगाता है, वह बहिरात्मा जीव है। निज आत्मा के ध्यान में परायण वर्तता हुआ निरवशेषरूप से (सम्पूर्णरूप से) अन्तर्मुख रहकर (परम तपोधन) प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त विकल्पजालों में कभी भी नहीं वर्तता, इसीलिए परम तपोधन साक्षात् अन्तरात्मा है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ९०वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

इस प्रकार जिसमें उठते हैं अपने आप अनेक विकल्प।
इस विशाल नयपक्ष भूमिका का जो करते हैं उल्लंघ॥
भीतर बाहर समतारसमय यही एक रस जिनका भाव।
प्राप्त करें अनुभूति मात्र बस एकरूप अपना निजभाव॥

[श्लोकार्थः] इस प्रकार जिसमें बहु विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं, ऐसी विशाल नयपक्ष कक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) लाँघकर (तत्त्ववेदी) भीतर और बाहर समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है, ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (स्वरूप को) प्राप्त होता है।

गाथा - १५० पर प्रवचन

अब १५० (गाथा)

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा।।१५०।।
जो बाह्य अन्तर जल्प में वर्ते वही बहिरातमा।
जो जल्प में वर्ते नहिं वह जीव अंतरआतमा॥१५०॥

आहाहा! गाथा बहुत ऊँची है। मक्खन है, मक्खन।

टीका : यह बाह्य तथा अन्तर जल्प का निरास (निराकरण, खण्डन) है। आहाहा! बाह्य के लक्ष्य से होनेवाले विकल्प और अन्तर की भूल से होनेवाले विकल्प, उन रहित की इसमें बात है। आत्मा में विकल्प की गन्ध नहीं। बाह्य और अन्तर्जल्प का निराकरण-खण्ड है। आहाहा! **जो जिनलिंगधारी...** आहाहा! कहते हैं कि संसारजनित रागभाव, विकल्पभाव से दूर नहीं वर्तता वह तो, दूर वर्ते वह तो आत्मा है। उसमें जो वर्तता है, वह **जिनलिंगधारी तपोधनाभास...** मुनियाभास, मुनिभास। मुनिपना है नहीं। आहाहा! यह साहूकार कहते हैं न? साहूकाराभास। पैसा न हो और साहूकार कहलावे। उसी प्रकार यह तपोधानाभास। मुनिपना नहीं और मुनिपना मानता है। आहाहा!

वह **तपोधनाभास पुण्यकर्म की काँक्षा से...** आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उसमें दृष्टि पड़ी नहीं, उसका स्वीकार और सत्कार, आदर नहीं, वह पुण्यकर्म की काँक्षा से, वह तो पुण्यकर्म की इच्छा से **स्वाध्याय,...** करता है। आहाहा! शास्त्र वांचन करे, पढ़े, स्वाध्याय के बोल हैं न? वांचन, पर्यटन, कहना इत्यादि। पर्यटन, धर्मकथा... आहाहा! धर्मकथा, वह भी संसार है। अर.र.र..! वह स्वरूप में नहीं है। भगवान आत्मा स्वरूप चैतन्यमूर्ति में वह नहीं है, इसलिए जिनलिंगधारी... अन्य की तो बात भी क्या करना? कहते हैं। यहाँ तो जिनलिंगधारी-नग्नलिंगधारी... आहा! **तपोधनाभास...** तप का-तपोभास। मानो मुनि है, ऐसा मनावे और माने, बाहर नग्नदशा में। आहाहा!!

पुण्यकर्म की काँक्षा से... जब अन्तरस्वरूप संसार के परिणाम से रहित है, ऐसी दृष्टि अन्तर अनुभव हुआ नहीं, इसलिए वह उससे विरुद्ध ऐसा पुण्य। है साधु को? इसलिए पुण्य लिया है। गृहस्थाश्रम और पाप, वह अभी नहीं लेना। मुनि है, अट्ठाईस मूलगुण पालन करता है, पंच महाव्रत पालता है, हजारों रानियाँ छोड़ी हैं, करोड़ों की आमदनी और दुकान छोड़ी है। आहाहा! यह लिया है, ऐसा जो **जिनलिंगधारी तपोधनाभास पुण्यकर्म की काँक्षा से...** गहराई में वह आत्मनिष्ठ नहीं है। वह संसारजनित राग में निष्ठ है, इसलिए उसे पुण्यकर्म की काँक्षा है। आहाहा! उसे तो पुण्य के बन्ध की ही इच्छा है। पुण्य की इच्छा है, कहो या फिर पुण्यबन्ध की इच्छा कहो।

जिसे पुण्य की इच्छा है, शुभ-अशुभ विकल्प जो उठे, उनकी जिसे इच्छा है, वह

स्वयं ही पुण्यकर्म की वाँछावाला है। पुण्यकर्म की वाँछावाला है। आहाहा! वह स्वाध्याय पुण्य के, शुभराग के प्रेम से स्वाध्याय करता है। आहाहा! शुभराग की रुचि से स्वाध्याय करता है, इसलिए वह पुण्य का काँक्षी, पुण्य का काँक्षी, पुण्य की वाँछावाला कहा है। भगवान आत्मा वह विकल्परहित दूरवर्ती है, उसकी खबर नहीं। आहाहा! प्रभु! पर्याय में संसार है, वह तू नहीं, तुझमें नहीं, वह तुझे स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी दशा में जो नहीं, तब उसे पुण्य की काँक्षा है। यहाँ ऐसा नहीं, उसे पुण्य की काँक्षा (है ही)। अन्तर सन्मुख झुकाव नहीं, इसलिए बहिर् के झुकाव की पुण्य की इच्छा है ही। आहाहा! समझ में आया?

स्वाध्याय,... करे, शास्त्र पढ़े, लाखों-करोड़ों श्लोक कण्ठस्थ करे, स्वाध्याय करे। आहाहा! हमारे सम्प्रदाय उस समय में रात्रि चर्चा का नहीं था। स्वाध्याय करते थे। हजार, बारह सौ, पन्द्रह सौ श्लोक दो घण्टे, ढाई घण्टे चले। श्लोक की सज्झाय करते। तीनों व्यक्ति। मुझे तो कण्ठस्थ था, मेरे गुरु हीराजी (महाराज) को कण्ठस्थ था। मूलचन्दजी बड़े थे, उन्हें भी कण्ठस्थ था। दो-दो घण्टे तक रात्रि के, सवा सात-साढ़े सात से साढ़े नौ (बजे तक) स्वाध्याय करें। ऐसा कि यह स्वाध्याय है, इसमें अपना धर्म है। आहाहा!

प्रत्याख्यान,... करता है। ले, बेचारा प्रत्याख्यान करे तो भी कहते हैं कि भ्रष्ट है। स्वरूप की अस्तित्वता की दृष्टि नहीं। संसार से उत्पन्न हुआ विकृत भाव, उससे भिन्न पर दृष्टि नहीं है, उसका आदर नहीं है, अनुभव नहीं है, उसका जिसे अन्तर्वेदन नहीं है... आहाहा! वह प्रत्याख्यान भी भ्रष्ट है। वह प्रत्याख्यान करता है, तो भी भ्रष्ट है। व्यवहार प्रत्याख्यान विकल्प है। आहाहा! भगवान का **स्तवन...** करता है। लाखों स्तुति करे। आहाहा! आता है न कहीं? लाखों स्तुति। आहाहा! समयसार में आता है, नहीं? इसमें ही आता है। लाखों स्तुति करे, लाखों स्तुति। ओहोहो! तथापि वह स्तुति है, वह तो वाणी है और उस ओर के लक्ष्य का भाव, वह राग है। वह आत्मा से दूरवर्ती है। आहाहा!

धर्मी संसार से दूरवर्ती है, जबकि अज्ञानी आत्मा के स्वभाव से दूरवर्ती है। आहाहा! भले वह स्वाध्याय करे, भगवान की स्तुति करे, भगवान के सामने बैठकर दो-दो घण्टे, तीन-तीन घण्टे स्तुति करे। भगवान तुम ऐसे और भगवान तुम ऐसे। परन्तु तू भगवान ऐसा कौन है, उसकी खबर नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। आहाहा! ओहोहो!

स्तवन आदि... स्तुति, वन्दना आदि चाहे जो करे। आहाहा! उठ-बैठ करके गुरु को वन्दन करे, आदि (करे) परन्तु तपोभ्रष्ट ही है। आहाहा! अन्तर जो चैतन्यस्वरूप भगवान, उससे भ्रष्ट है, वह इस विकल्प में वर्तता है। पाठ ऐसा है न? कि विकल्प में कौन वर्तता है? **अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।** है पाठ? अन्तर में और बाह्य में जो जल्प अर्थात् विकल्प में वर्तता है, वह बहिरात्मा है। आहाहा! है न मूल? अन्तर और बाह्य दोनों जल्प अर्थात् विकल्प है। **जो वट्टइ** जो वर्तता है। **सो हवेइ बहिरप्पा,** वह बहिरात्मा है। आहाहा! नग्नमुनि नागा बादशाह से आघा। जगत की कुछ पड़ी नहीं। जगत को यह जँचेगा या नहीं? जगत मशकरी करेगा? जगत, जगत में है। हमारे और उसके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, ऐसे जो **बहिर्जल्प करता है...** आहाहा! स्वाध्याय, स्तवन आदि स्तुति के विकल्प करता है, वह संसार में ही बसता है। आहाहा! यहाँ दुनिया स्त्री, पुत्र छोड़े, दुकान छोड़े तो यह त्यागी है और मुनि है, (ऐसा कहती है)। आहाहा! परमात्मा तो ऐसा कहते हैं, जो पर्याय में संसारजनित विकार है, वह त्रिकाली निर्विकारी परमात्मा से विरुद्ध है। इसलिए एक ओर मोक्ष है तथा एक ओर संसार है। प्रभु है, वह तो मुक्तस्वरूप है। आहाहा! वह राग से बँधा हुआ नहीं, राग में अटका हुआ नहीं, वह तो मुक्तस्वरूप है, त्रिकाल निरावरण है, अखण्ड है, एक है, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। आहाहा! उसे छोड़कर जो इस विकल्प में बसता है, (वह बहिरात्मा है)। आहाहा!

और अशन,... आहार। आहार का त्याग करे तो गहराई में दूसरे मुझे तपस्वी माने, ऐसी मिठास का वेदन करता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **अशन, शयन,...** सोने में भी थोड़ा सोवे। **गमन,...** गमन करने में भी अन्दर आशा-अभिलाषा है। अन्दर के स्वरूप की खबर नहीं है, इसलिए उसकी ऐसी आशा नहीं जाती। आहाहा! **अशन, शयन, गमन, स्थिति...** भले एक जगह बैठे, तो भी अन्दर आशा स्वभाव सन्मुख की नहीं है, इसलिए वह विकल्प में ही वर्तता है। आहाहा! भले वह जंगल में, वन में अकेला वृक्ष के नीचे अकेला बैठा हो। कोई व्यक्ति न हो। आहाहा! परन्तु अन्तर भगवान आत्मा में नहीं वर्तता,

वह संसारजनित विकार में ही वर्तता है। आहाहा!

स्थिति आदि में (-खाना, सोना, गमन करना, स्थिर रहना इत्यादि कार्यों में) सत्कारादि की प्राप्ति का लोभी... आहाहा! अन्तर का लोभी नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ का स्वीकार जहाँ नहीं, वहाँ उससे उल्टा विकार होता है, उसका वह लोभी है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वह विहार करे, ऐसे देखकर परन्तु गहराई में मिठास (वेदन करता है कि) दूसरे ऐसा जाने कि यह तो भारी ईर्या-देखकर काम करता है। ईर्यासमिति से करता है, ऐसे मिठास अन्दर भाव की-पुण्य की है। आहाहा!

सत्कारादि की प्राप्ति का लोभी वर्तता हुआ... आहाहा! उसकी पर्याय में उसे सत्कार, सम्मान, मान चाहिए, महिमा चाहिए। यहाँ भगवान की महिमा है, वह महिमा छोड़ दी। आहाहा! और बाहर में प्रसिद्ध होना, बाहर में हिलना-चलना, गमन, लिखने की क्रिया में, शास्त्र बनाने में, सबमें पुण्य की काँछा है। आहाहा! और लोग मुझे कैसे त्यागी मानें, आहाहा! ऐसी बात है। धर्मकथा करने पर भी धर्मकथा इसे आती है, ऐसा जो लोभ स्वयं करे तो वह बहिरात्मा है। आहाहा! गजब बात है। इत्यादि है न!

स्थिति आदि में... आया न? **अशन, शयन, गमन, स्थिति आदि में...** दूसरे कोई भी बोल में, हिलना, चलना, लिखने में, बोलने में, लिखने में, धर्मकथा कहने में... आहाहा! शुभकार्य के किसी भी कार्य में इसकी अन्दर वाँछा नहीं जाती। उसे वाँछा की ही प्राप्ति होती है। उसे पुण्य की ही वाँछा होती है क्योंकि भगवान को देखा नहीं, इसलिए उससे विरुद्ध में भी उसका प्रेम और वाँछा वर्तती है। आहाहा! सत्कार आदि। सत्कार, महिमा, मुझे आता है—ऐसा जिसे गहराई में प्रेम है... आहाहा! वह जिनलिंगधारी तपोभास है। आहाहा! भले हजारों रानियाँ छोड़कर बैठा हो, अरबों की आमदनी छोड़कर दुकान और राज छोड़ा हो। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ की जिसे अन्दर में मिठास नहीं आयी, उसे यह पर की मिठास हटती नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसे पर का सत्कार, सम्मान की वाँछा टलती नहीं। आहाहा! सत्कार आदि शब्द है न? मान दे, कोई महिमा दे। आहाहा! कोई पदवी दे कि ऐसा मैं कुछ करूँ तो पदवी मिले।

मुमुक्षु : अच्छा आवास दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आवास। यह तो महापुरुष है, भाई! अच्छी जगह उतारो। साधारण में नहीं। तो उसे ऐसा लगता है कि... आहा! मेरी महिमा का उसे भरोसा है। उस प्रमाण गहराई में स्वयं राग का काँक्षी है। आहाहा!

सत्कारादि की... आदि शब्द है न? आहाहा! **प्राप्ति का लोभी वर्तता हुआ...** यह इस ओर में भगवान को देखा नहीं, इसलिए संसार का लोभी है। आहाहा! इस ओर भगवान को देखा नहीं, इसलिए उसका प्रेम नहीं, उसकी ओर उन्मुखता और झुकाव नहीं। इस ओर राग में उसका झुकाव है। आहाहा! ऐसा लोभी वर्तता हुआ। **अन्तर्जल्प में...** अन्तर के विकल्प में **मन को लगाता है,...** आहाहा! अन्तर विकल्प में मन को जोड़ता है। **वह बहिरात्मा जीव है।** आहाहा!

निज आत्मा के ध्यान में परायण वर्तता हुआ... आहाहा! अब सुलटे की बात है। **निज आत्मा के ध्यान में परायण वर्तता हुआ निरवशेषरूप से (सम्पूर्णरूप से) अन्तर्मुख रहकर...** आहाहा! निरवशेष अर्थात्? कोई भी-धर्म के नाम का भी विकल्प... आहाहा! सर्व विकल्पों को छोड़कर। **निज आत्मा के ध्यान में परायण...** परायण। इस ध्यान में तत्पर वर्तता हुआ। आहाहा! **निरवशेषरूप से (सम्पूर्णरूप से)...** अवशेष-बाकी रखे बिना। सम्पूर्ण रूप से **अन्तर्मुख रहकर...** अन्तर्मुख ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर रहकर **(परम तपोधन) प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त विकल्प जालों में कभी भी नहीं वर्तता...** आहाहा! ऐसा मार्ग, ऐसा मुनिपना!

यह तो वस्त्र छोड़कर नग्न हो (तो) हो गया, लो! आहाहा! कल चन्दुभाई कहते थे। वह विद्यासागर है न? वे ऐसा कहते हैं न कि अमृतचन्द्राचार्य काष्ठासंघी है। क्यों? - कि काष्ठासंघी स्त्री को मुक्ति मानते हैं और यहाँ उन्होंने जयसेनाचार्य की टीका में स्त्री का वर्णन बहुत आता है कि स्त्री मुक्ति में नहीं जाती, ऐसे श्लोक आते हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने वे श्लोक डाले नहीं, इसलिए वे स्त्री की मुक्ति माननेवाले काष्ठासंघी हैं। आहाहा! फिर कहते हैं कि कैलाशचन्दजी ने बहुत झाड़ा। अमृतचन्द्राचार्य को तुम दूसरे प्रकार से काष्ठासंघी ठहराते हो? बाहर की स्त्री को मुक्ति नहीं होती, यह बात तुमको जँचती नहीं, उसके लिये तुम उन्हें काष्ठासंघी ठहराते हो? परन्तु स्त्री का स्पष्टीकरण उन्होंने बाहर में किया नहीं किन्तु यह अष्टपाहुड़ में तो आता है, नहीं? कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि

अरे! स्त्री और पशु को मोक्ष कब देखा? आता है न? आहाहा! स्त्री को, पशु को -जानवर को मोक्ष कभी देखा? स्त्री को मोक्ष नहीं होता। स्त्री को मोक्ष माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! भगवान की माता को हाथी के हौदे केवलज्ञान हुआ...

मुमुक्षु : भगवान की माता का कौन निषेध करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़े का कौन निषेध करे? हाथी के हौदे दर्शन करने गयी थी, वहाँ भगवान (को देखकर)... आहाहा! हाथी के ऊपर केवलज्ञान हो गया। अरे! स्त्री को केवलज्ञान हाथी के ऊपर! ऐसा श्वेताम्बर में आता है। आहाहा! काम बहुत कठिन है। यह तो वस्तु की (स्थिति है)। व्यक्तिगत (बात नहीं है), जिसे जो मान्यता है, उसका फल उसे भोगना है। अरे रे! कोई प्राणी दुःख को भोगे और दुःखी हो, धर्मी को ऐसी भावना नहीं होती। आहाहा! वह भगवान है, प्रभु! वह दुःखी हो, (ऐसा धर्मी को नहीं होता)। अरे! देखो न! आहाहा! आज बहिन ने बात की न? राजकुमार है। बीस करोड़ रुपये हाथ में से गिर गये। चक्कर आता होगा और सातवीं बार असाध्य हो गया। आहाहा! वहाँ पैसा क्या करे? बीस करोड़ रुपये और इज्जत बड़ी। दूसरे सबमें आया था। फूलचन्दभाई झाँझरी। वहाँ देखने गये थे। समाचार सुने थे। आहाहा! वह पैसे के ठिकाने पैसे (रहे), असाध्य होकर कितने दिन रहा! आहाहा!

भगवान! यह रागादि विकल्प को अपना मानता है, वह असाध्य है। आहाहा! उसे साध्य नहीं है। चैतन्य भगवान परमात्मस्वरूप अमृत का सागर, जिसमें अमृत का गंज पड़ा है। आहाहा! अमृत का पर्वत प्रभु, अमृत का पर्वत प्रभु, जिसमें से अमृत झरे, उसे छोड़कर जो राग में... आहाहा! यहाँ तो बाहर में वर्तता है, ऐसा नहीं कहा। बाहर की बात में विकल्प में वर्ते। यह पाठ है न? **अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ** अन्तर और बाह्य प्रकार के विकल्प में वर्तता है। आहाहा! बाह्य में वर्त नहीं सकता। आत्मा बाह्य का वर्तन तो कुछ कर नहीं सकता। हिलना, चलना, बोलना (कर नहीं सकता)। जो अज्ञानभाव से कर सकता है, वह बात ली है। आहाहा! **अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ** ऐसा कहा है। अन्तर-बाहर की-जड़ की, पर की क्रिया में वर्तता है, ऐसा नहीं कहा। आहाहा!

यह कुन्दकुन्दाचार्य के वचन हैं। आहाहा! अन्तर में और बाह्य में जो विकल्प है, बाह्यनिमित्त, हिलना-चलना-बोलना-लिखना, वह निमित्त, उसका जो विकल्प और

अन्तर का मान–सम्मान का विकल्प, परन्तु उस विकल्प की बात की, विकल्प में वर्तता है, ऐसा कहा; बाहर की चीज़ में वर्तता है, ऐसा नहीं। आहाहा! है न?

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा।।

बाहर का त्याग करे तो अन्तरात्मा है, ऐसा नहीं कहा। **जप्पेसु जो ण वट्टइ** विकल्प के जाल में नहीं वर्तता, वह अन्तरात्मा है। आहाहा! कठिन पड़े न! गाथा है न ऐसी, देखो न! गाथा बोलती है न?

बाहर और अन्तर्जल्प / विकल्प में वर्तता है, वह बहिरात्मा; और **जप्पेसु जो ण वट्टइ** ऐसा कहा है। पर की क्रिया छोड़ देता है और अकेला बैठता है, ऐसा नहीं। अन्दर के विकल्प को जो न छोड़े, वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। अन्तर के विकल्प को छोड़े, वह अन्तरात्मा है। आहाहा! ऐसा धर्म कैसा? कहाँ का धर्म होगा यह? बापू! वीतराग जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकरों के श्रीमुख से निकली हुई यह वाणी है। अनन्त तीर्थंकरों का यह कथन है। स्वयं मुनि भगवान है। आहाहा! पंच परमेष्ठी है न? आहाहा! वहाँ तो पहले कहा नहीं था? – कि केवली में और वीतरागी मुनि में अन्तर मानते हैं, इसलिए हम जड़ हैं। ऐसा नहीं आया था? आया था न? आहाहा! पृष्ठ कितना?

मुमुक्षु : २९६ पृष्ठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : २९६, हाँ! यहाँ है न? **सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में कभी कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरे रे! हम जड़ हैं...** ऐसा मुनिराज कहते हैं। आहाहा! जरा विकल्प उठा है न? आहाहा! अरे रे! नग्न मुनि दिगम्बर और अन्तरध्यान में मस्त हैं। उन्हें ऐसा कहते हैं कि भगवान में और उनमें अन्तर माने तो वह जड़ है। आहाहा! अन्तर जरा सा है, ऐसा पहले श्लोक आ गया है। इसके पहले श्लोक आ गया है। थोड़ा अन्तर है। यहाँ निकाल डाला। आहाहा! क्योंकि वह अन्तर है, वह मिटकर वीतराग हो जानेवाले ही हैं। ये भगवान हो जानेवाले हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, योगीन्द्रदेव, पद्मप्रभमलधारिदेव... आहाहा! सब मोक्ष जानेवाले हैं। वर्तमान में स्वर्ग में हैं। वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं। आहाहा! भगवान है। एक भव बाकी, पंचम काल में जन्मे, पंचम काल में जन्म हो गया। आहाहा! भगवान का जहाँ

विरह पड़ा, इससे एकाध भव रह गया। आहाहा! उसके कारण एकाध भव (रह गया), नहीं तो इसी भव में मोक्ष जाए। महाविदेह में तो उसी भव में अरबोंपति राजा राजपना छोड़कर, विकल्प छोड़कर निर्विकल्प में मस्त होकर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष जाते हैं। क्योंकि छह महीने आठ समय में छह सौ आठ (जीव) तो मोक्ष जाते हैं... जाता नहीं। मोक्ष जाए वहाँ है। आहाहा!

भगवान के पास... आहाहा! ऐसे मुनि हैं कि जो छह महीने आठ समय में छह सौ आठ मुक्ति जाते ही हैं। आहाहा! समय अधिक है। छह सौ आठ जीव हैं और वे छह महीने आठ समय है। समय अधिक है। जीवों की संख्या की अपेक्षा समय की संख्या अधिक है। छह महीने आठ समय है न? उसमें छह सौ आठ जाते हैं न? तो छह महीने में तो असंख्य समय होते हैं और यहाँ तो छह सौ आठ हुए। आहाहा! परन्तु वह अनादि की यह स्थिति है। आहाहा! छह सौ आठ, आहाहा! जैसे छह सौ आठ मुक्ति जाएँ, वैसे छह सौ आठ (नित्य) निगोद में से निकलते हैं। आहाहा! बाकी तो पड़े रहते हैं। इस शरीर के अनन्तवें भाग निकलते हैं। चाहे जब निकलेंगे तो भी एक शरीर के अनन्तवें भाग ही बाहर निकलेंगे। आहाहा!

ऐसा क्या मिला? वीतराग की वाणी मिली। आहाहा! ऐसा योग तो बड़े-बड़े पुण्य के ढ़ेर, पुण्य का बड़ा मेरुपर्वत उछला है अभी। उसमें ऐसा योग है, कहते हैं। अब करना तो तुझे है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं। जो उसमें विकल्प को जोड़ता नहीं। प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों, हों! शुभराग और अशुभराग... आहाहा! इन दोनों में **समस्त विकल्प जालों में कभी भी नहीं वर्तता...** आहाहा! **इसीलिए परम तपोधन...** यह तप की व्याख्या। यहाँ अपवास की नहीं है। आत्मा के समीप में वर्तता है, वह तपोधन है, उपवासी है। आहाहा! **समस्त विकल्प जालों में कभी भी नहीं वर्तता, इसीलिए परम तपोधन साक्षात् अन्तरात्मा है।** आहाहा! एक गाथा में बहिरात्मा और अन्तरात्मा की व्याख्या की।

प्रभु में विकल्प की गन्ध नहीं है। निर्विकल्प का पिण्ड है। आहाहा! जैसे सोने की बड़ी पाँच-पच्चीस मण की ईंट हो, उसमें जंग की गन्ध नहीं है; इसी प्रकार अनन्त गुण का पिण्ड है... आहाहा! उसमें राग के विकल्प की शुभराग के विकल्प की भी गन्ध नहीं

है। आहाहा ! ऐसा भगवान विद्यमान शक्ति से विराजमान पड़ा है। उसे तू विकल्प में वर्त कर अविद्यमान कर डालेगा। आहाहा ! विकल्प में वर्त कर अविद्यमान कर डालता है और धर्मी निर्विकल्प में वर्तता हुआ विकल्प को अविद्यमान कर डालता है। आहाहा ! विद्यमान को अविद्यमान करे और अविद्यमान को विद्यमान करे। आहाहा !

सत् है। इसलिए वास्तव में तो उसकी परिणति सती है। सत् की परिणति सती होती है। आहाहा ! संकल्प-विकल्प उसकी परिणति नहीं होती। वह सत् प्रभु है, वह सती है। उसकी परिणति सती है अर्थात् कि इसका कोई मालिक नहीं है। आहाहा ! स्वयं ही अपना अनुभवी मालिक है। आहाहा ! जो जीव अन्तरात्मा है। अल्प काल में वह केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जानेवाला ही है। आहाहा !

किसी समय कथन आवे कि यह (समकिती) गिर जाता है। यह समझाया है। आहाहा ! ३८ गाथा में तो यहाँ तक कहा है कि जो कोई अप्रतिबुद्ध शिष्य था, गुरु ने बारम्बार समझाया, समझकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हुआ। ३८ गाथा में है। अप्रतिबुद्ध था, उसे गुरु ने बारम्बार समझाया। अर्थात् उसने बारम्बार मनन किया। आहाहा ! वह जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान को प्राप्त हुआ। उसे फिर से मिथ्यात्व उदय हो, ऐसा है नहीं। ३८ गाथा में ऐसा पाठ है। आहाहा ! भगवान है। आहाहा ! उसे काल और विकल्प बाधक है कहाँ ? विद्यमान ऋद्धि से भगवान स्थित है। उसकी ऋद्धि का पार नहीं होता। आहाहा ! उसमें वह विकल्प को गिने किसप्रकार ? आहाहा ! समयसार ३८ गाथा। अप्रतिबुद्ध था, उसे गुरु ने बारम्बार समझाया और प्रतिबोध पाया। पाया भी अप्रतिहत ! पाया वह पाया, वह गिरनेवाला नहीं है - ऐसा पाठ है। अब हमें मिथ्यात्व का अंकुर उत्पन्न होनेवाला नहीं है, ऐसा पाठ है। ३८ गाथा। पंचम काल का समकिती भगवान के विरह में रहा हुआ, भगवान का विरह है, तो भी कहता है कि हमें अन्तर का विरह नहीं है। आहाहा ! परमानन्द का नाथ हमारे पास विराजता है। इसलिए हम परमात्मा हैं और परमात्मा होनेवाले हैं। ऐसा कथन आता है। हो गया समय ?

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन-१७५, श्लोक-२५९, गाथा-१५१, मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण ११, दिनांक ०८-०७-१९८०

नियमसार १५० गाथा, टीका पूरी हो गयी। टीका पूरी होने के पश्चात् श्लोक है, श्लोक। **इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ९०वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—**

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नय-पक्ष-कक्षाम्।
अन्तर्बहिः सम-रसैक-रस-स्वभावं,
स्वं भाव-मेक-मुपयात्यनुभूति-मात्रम्।।

श्लोकार्थः इस प्रकार जिसमें बहु विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं... यहाँ विशिष्टता यह है। आहाहा! है समयसार का कलश। जो विकल्प की गाथाएँ आयी हैं न? पश्चात् यह गाथा रखी है। आत्मा तो सच्चिदानन्द परमपवित्र परमात्मस्वरूप ही है, उसमें तो अल्पता का और विकल्पता का भी अवकाश नहीं है। अल्पता और विकल्पता दोनों का उसमें अवकाश नहीं है। पूर्ण और निर्विकल्प वस्तु है। आहाहा! परन्तु उसमें बहुत विकल्पों का जाल अपने आप उठता है। इसलिए पर्याय में से विकल्प उठता है। आहाहा! वस्तु तो वस्तु है। चाहे जितने विकल्प हों, परन्तु वस्तु तो परमात्मस्वरूप है। उसमें कमी, विकृति कुछ नहीं आती। आहाहा! ऐसी वह चीज़ है, अखण्ड आनन्द चैतन्यमूर्ति, कि जिसमें विकल्प का अवकाश तो नहीं परन्तु अल्पता का भी अवकाश नहीं। पूर्ण स्वरूप है। आहाहा! उसमें कहते हैं, **बहु विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं...** अपने आप उठता है अर्थात्? स्वभाव में नहीं-वस्तु में नहीं और पर्याय में अध्धर से उत्पन्न होता है, ऐसा कहना चाहते हैं। आहाहा! स्वरूप है, उसमें यह बात है नहीं। पर्याय में छोर में विकल्प का जाल, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, यह व्यापार-धन्धा आदि के विकल्प—पाप उठते हैं। कहते हैं। आहाहा!

प्रभु स्वयं चैतन्यमूर्ति भगवान परमात्मस्वरूप ही है, परमेश्वर ही है, परन्तु परमेश्वर के अन्दर की पर्याय में यह विकल्प अर्थात् बन्धन के कारण दु:खरूप दशा अपने आप उठती है। आनन्दस्वरूप में विकल्प उठे कैसा? प्रभु! जहाँ आनन्द है, वहाँ दु:ख कैसा?

ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया? जहाँ निर्विकल्प चैतन्य प्रभु है, वहाँ विकल्प कैसा? राग कैसा? आहाहा! जहाँ अखण्ड वीतरागमूर्ति प्रभु है, वहाँ राग के अंश का अवकाश कहाँ से? इसलिए ऐसा कहते हैं कि **इस प्रकार जिसमें बहु विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं...** वस्तु में नहीं है, वस्तु के गुण में नहीं है। आहाहा!

पर्याय में अपने आप (उठता है), ऐसा कहने का आशय ऐसा है कि कर्म से नहीं, तथा द्रव्य और गुणस्वभाव से नहीं। पर्याय में उठता है। पहले आ गया न? संसारजनित प्रबल। आहाहा! वस्तु तो परमात्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति ही है, ऐसा होने पर भी वस्तु में विकल्प उत्पन्न नहीं होते परन्तु पर्याय में अपने आप कर्म की अपेक्षा बिना और स्वभाव की अपेक्षा बिना अपने आप अन्दर विकल्प उठते हैं। आहाहा! समझ में आया? प्रभु तो आनन्दमूर्ति है तथा कर्म से विकल्प उठे, यह है नहीं। पर से विकल्प उठे, यह है नहीं। तथा स्वभाव आनन्द और वीतरागमूर्ति प्रभु है, उससे विकल्प उठे ऐसा है नहीं। इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है कि **बहु विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं...** आहाहा! दोनों पक्षों से देखने पर कर्म से भी नहीं और द्रव्य से भी नहीं। पर्याय में अनादि-अज्ञान के कारण विकल्प का, दुःख का जाल उत्पन्न होता है। वह दुःख है, वह दुःख है, आकुलता है। आहाहा! अज्ञानी को यह आकुलता नहीं लगती। क्योंकि आनन्द को देखा नहीं; इसलिए आकुलता है, ऐसी खबर नहीं पड़ती। आहाहा! इसलिए कहते हैं, विकल्प का जाल अपने आप उठता है।

ऐसी विशाल नयपक्ष कक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) लाँघकर... आहाहा! ऐसा नयपक्ष है, उसे भी छोड़ दे। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अखण्ड हूँ और एक हूँ, ऐसे विकल्प को भी लाँघकर। आहाहा! ऐसा मार्ग! **विशाल नयपक्ष कक्षा...** अर्थात् अन्दर बहुत सूक्ष्म विकल्प उठे, उसे भी लाँघकर। धर्मी जीव को स्वतत्त्व के अवलम्बन के कारण उसके विकल्प का जाल उत्पन्न नहीं होता। स्वतत्त्व के अवलम्बन में, स्वतत्त्व में विकल्प नहीं, इसलिए उसे विकल्प नहीं उठते। लाँघकर (अर्थात्) उस विकल्प को लाँघकर। अन्तरात्मा आनन्दमूर्ति प्रभु की दृष्टि लेकर विकल्प को लाँघ जाता है। दुःख के जाल को छोड़ देता है। आहाहा! ऐसी बात! निवृत्ति की फुरसत नहीं मिलती।

यहाँ तो दूसरी बात छोड़ दी। अन्तर में गुण है, उसके पक्ष की भी नयपक्ष कक्षा

उत्पन्न होती है। बाहर की बात छोड़ दे। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, हिलना-चलना, वह सब बात छोड़ दे। वह तो सब जड़ का है। यह विकल्प की जाल अपने आप अन्दर से, पर्याय में विकृति (उत्पन्न होती है)... आहाहा! उसे तत्त्व का जाननेवाला, चैतन्य का वेदन करनेवाला उस विकल्प को लाँघ जाता है। आनन्द का वेदन करनेवाला दु:ख को लाँघ जाता है। विकल्प, वह दु:ख है। आहाहा! है?

(नयपक्ष की भूमि को) लाँघकर... यह नयपक्ष की भूमिका ही उसे नहीं रहती, ऐसा कहते हैं। उसकी सत्ता में है नहीं, इसलिए उसकी भूमिका में वह है नहीं। उस भूमिका को, नयपक्ष की भूमिका को लाँघकर... आहाहा! चैतन्य की भूमि और आनन्द के स्पर्श में, चैतन्य भगवान अन्दर परमात्मा विराजता है। आहाहा! उसे अब छोटी-बड़ी साधारण बात हो, उसमें रस लग जाए, उसे यह नयपक्ष लाँघना तो बहुत कठिन काम। नयपक्ष को लाँघने की बात है। जगत के (कार्य) करना और यह किया, यह बात यहाँ नहीं है। आहाहा! हिलना, चलना, बोलना, खाना, पीना, लिखना, यह बात नहीं है। इस बात से विकल्प उठे, वह बात यहाँ नहीं है। यह ऊपर आ गया है न? ऊपर आ गया है। खाना, सोना, गमन करना, स्थिर रहना। आहाहा! यह नहीं। मात्र अपने को भूलकर विकल्प की, राग की वृत्तियों का उत्पन्न होना, वह अपनी भूमिका को जानने पर आनन्द की भूमिका ऐसी भगवान की भूमि है, उसे जानने पर राग को लाँघ जाता है। आहाहा!

(तत्त्ववेदी)... जो तत्त्व का जाननेवाला, तत्त्व को वेदन करनेवाला, आत्मतत्त्व को अनुभव करनेवाला। **भीतर और बाहर समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है...** अन्तर में भी समतारस है, पर्याय में भी समतारस है। आहाहा! **भीतर और बाहर समता-रसरूपी एक रस...** वह अनेक नयपक्ष था, बहुत विकल्प का जाल था, उसके सामने एक लिया **समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है...** आहाहा! भगवान आत्मा का विकल्प के भावरहित अकेला निजरस का स्वभाव, एकरूप जिसका स्वभाव है। **ऐसे अनुभूतिमात्र...** ओहो! निश्चय सत्य तो यह है, परम सत्य यह है; बाकी सब बातें हैं। यह रुचना मुश्किल पड़ता है और वह रुचना सरल पड़ता है। कभी अभ्यास नहीं। आहाहा! चैतन्यसत्ता महाप्रभु की, जिसकी एक ही पर्याय एक समय में, वह बाहर के कारण से नहीं ली। मात्र अन्दर के कारण से मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अखण्ड हूँ, ऐसे नय के विकल्प जाल

उठे... आहाहा! उसे भी लाँघकर। आहाहा! अब बाहर के विकल्प की बात नहीं है। अन्तर का विकल्प जाल जो है, उसे लाँघकर। आहाहा!

भीतर और बाहर समता-रसरूपी... इसका अर्थ यह कि विकल्प है, वह असमता है, राग है, आकुलता है। उसे छोड़कर समतारसरूपी **एक रस ही जिसका स्वभाव है...** भगवान आत्मा का समता वीतरागता अकेला शान्ति अकषायस्वभाव, ऐसा एक ही जिसका स्वभाव है। उसका एक ही रस जिसका स्वभाव है। आहाहा! **ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (स्वरूप को) प्राप्त होता है।** वह जीव अपने आत्मभाव को प्राप्त करता है। ऐसी बातें हैं। बाहर का करना, हिलना, चलना, अमुक लिखना, बोलना, वह तो कहीं रह गया। उसकी बात तो यहाँ की नहीं। अन्तर में नयपक्ष का जो पक्ष उठता है; बाहर का नहीं, अन्दर में पक्ष जो विकल्प उठता है... आहाहा! उसे भी लाँघकर तत्त्ववेदी आनन्द के वेदन में उसे लाँघ जाता है। आहाहा! क्योंकि उसका आनन्द एकरस है। आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द एकरस है। आहाहा! संक्षिप्त भाषा में बहुत रखा है।

मुमुक्षु : प्रमाण, नय और निक्षेप तीनों के विकल्प छूट जाते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब छूट जाता है। नय-निक्षेप, १३वीं गाथा में नहीं आया? १३वीं। नय-निक्षेप-प्रमाण से निर्णय करे, विकल्प आवे परन्तु उसे छोड़े तब अन्दर में जाता है। आहाहा!

बाहर की बात तो अलग ही रही, यह तो अन्तर के आत्मा के ओर की, आत्मा के झुकाववाले विकल्प जो आते हैं... आहाहा! उन्हें भी छोड़कर तत्त्व का अनुभव करे, तब एक रस, समतारस का वेदन होता है। तब उसे अनुभूति कहने में आया। आहाहा! उसमें बहुत विकल्प (शब्द) प्रयोग किया था न? बहुविकल्प के जाल, प्रयोग किया था। अपने आप उठते हैं। यहाँ बाहर और समता और अन्दर (समता) और बाहर समतारूपी... वस्तु तो अन्दर समतारस का पिण्ड ही है, परन्तु पर्याय में भी समतारस प्रगट हुआ है। शान्त... शान्त... शान्त... शान्ति... शान्ति... शान्ति...

उसके रस को बाहर और अन्दर एक ही जिसका रस है। एक रस ही जिसका स्वभाव है। एकान्त नहीं? यह तो एकान्त किया। **समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है...** कथंचित् राग और कथंचित् विकार का, यह बात ही नहीं है। आहाहा! इसका

नाम एकान्त है। **एक रस ही जिसका स्वभाव है...** कथंचित् व्यवहार से होता है और कथंचित् निश्चय से होता है, ऐसा भेद नहीं। कथन में आवे परन्तु वस्तुस्वरूप के अनुभव में नहीं है। कथन के समय कथन व्यवहार आवे, जाने, परन्तु अपने रस में जहाँ जाने पर उसकी **अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (स्वरूप को) प्राप्त होता है।** इसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, अनुभूति, आनन्द का स्वाद, मोक्ष के मार्ग की पहली सीढ़ी, इसका नाम कहा जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुण तो अनन्त है और रस एक ही क्यों?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही रस समता। अनन्त गुण का रस। भेद कहाँ है वहाँ? भेद कहाँ है कि यह ज्ञान का रस और यह आनन्द का रस। विकल्प का भेद ही जहाँ नहीं है। एक ही आनन्द का रस सब गुण का। सब गुण के आनन्द का रस एकरस ही है। आहाहा! गुण अनन्त हैं, तथापि एक आनन्द का रस सब गुण के रस में एक आनन्द का। ज्ञान का आनन्द, दर्शन का आनन्द, आनन्द का आनन्द, अस्तित्व का आनन्द, वस्तुत्व का आनन्द, ऐसा एकरस ही जिसका समता स्वभाव है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ... ?

ऐसे अपने भाव को प्राप्त करता है। एकरस ही जिसका स्वभाव है, ऐसा कहा या नहीं? अनन्त गुण है, ऐसा नहीं कहा। अनन्त गुण का आनन्द का रस एक उसका स्वभाव है। जैसे आकुलता का स्वभाव दुःख है, अनेक विकल्प का स्वभाव दुःख है, तो यहाँ आत्मा का स्वभाव अकेला आनन्द है। ऐसा लिया। आहाहा! वह अनन्त गुण का आनन्द भी एकरूप रस है, वहाँ भेद नहीं है। आहाहा!

श्लोक-२५९

और (इस १५०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च,
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योतिः प्रकटितनिजाभ्यन्तरङ्गान्तरात्मा,
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्व-मन्तर्ददर्श ।।२५९।।

(वीरछन्द)

भवभयकारी बाह्याभ्यन्तर जल्पभाव को छोड़ सदा।
समरसमय चित्-चमत्कार का करके जो स्मरण सदा॥
ज्ञान-ज्योति द्वारा जिसने निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया।
अन्तरात्मा क्षीणमोह ने परम तत्त्व अन्तर देखा॥२५९॥

[श्लोकार्थः] भवभय के करनेवाले, बाह्य तथा अभ्यन्तर जल्प को छोड़कर, समरसमय (समतारसमय) एक चैतन्यचमत्कार का सदा स्मरण करके, ज्ञानज्योति द्वारा जिसने निज अत्यन्तर अंग प्रगट किया है, ऐसा अन्तरात्मा, मोह क्षीण होने पर, किसी (अद्भुत) परमतत्त्व को अन्तर में देखता है॥२५९॥

श्लोक - २५९ पर प्रवचन

और (इस १५०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):— वह तो समयसार का था अमृतचन्द्राचार्य का था।

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च,
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।

ज्ञानज्योतिः प्रकटितनिजाभ्यन्तरङ्गान्तरात्मा,
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्व-मन्तर्ददर्श ।।२५९।।

श्लोकार्थः भवभय के करनेवाले, बाह्य तथा अभ्यन्तर जल्प को... आहाहा! बाह्य के विकल्प तो भवभय के करनेवाले हैं। कहते हैं कि उनसे भव का भय उत्पन्न होता है। आहाहा! उस विकल्प का फल भव है। कहाँ जाएगा? कहाँ उत्पन्न होगा? **भवभय के करनेवाले, बाह्य तथा अभ्यन्तर जल्प को...** यह नयपक्ष के जो विकल्प हैं, वे भी भवभय के करनेवाले हैं। आहाहा! है? बाह्य तथा अभ्यन्तर जल्प। जल्प अर्थात् विकल्प। **भवभय के करनेवाले,...** आहाहा! शुभभाव तो कहीं अन्दर रह गया। विकल्प जो है, वह शुभ है। आहाहा! वह भी भवभय का करनेवाला है। आहाहा! आत्मा सम्बन्धी विकल्प पर्याय में उठे, वह भी कहते हैं कि दुःखरूप है। आहाहा!

भवभय के करनेवाले,... आहाहा! भव हो। कहाँ उपजेगा? कहाँ अवतरेगा, कितना काल वहाँ रहेगा? कैसे संयोगों में रहेगा? आहाहा! नाला-नाला होता है न? उसमें जानवर गिर जाता है। गिलहरी या चूहा, उसका कहीं पार नहीं होता। पानी चला जाता हो, उसमें मर जाते हैं। आहाहा! उलझकर मर जाते हैं, वह तो साधारण भाव का फल है परन्तु यहाँ तो नयपक्ष का फल भी भव करनेवाला है। आहाहा! यह पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं, टीकाकार स्वयं कहते हैं।

भवभय के करनेवाले, बाह्य तथा अभ्यन्तर जल्प को छोड़कर, समरसमय (समतारसमय) एक चैतन्यचमत्कार का... आहाहा! वीतरागस्वरूप विराजमान समता.. समता.. समता.. अकेला वीतरागरस ही है। जिसमें अकेला वीतरागभाव ही भरा है। ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे **एक चैतन्यचमत्कार का...** एक ही चैतन्य चमत्कार का, **सदा स्मरण करके,...** उसका स्मरण कर, कहते हैं। भगवान का स्मरण भी भूल जा। आहाहा! आयी न भाषा? **एक चैतन्यचमत्कार का सदा स्मरण करके,...** दूसरा नहीं। आहाहा! एक चैतन्यचमत्कार। अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति से भरपूर चमत्कारिक चीज़ है। आहाहा! उसे तू सदा स्मरण कर, उसका स्मरण कर। आहाहा! दूसरे को याद करता है और स्मरण करता है, वह भूल जा। भगवान को याद कर न! तू स्वयं परमात्मा है न। आहाहा!

उसे **सदा स्मरण करके, ज्ञानज्योति द्वारा...** आहाहा! अन्तर के चैतन्य के प्रकाश द्वारा **जिसने निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है...** आहाहा! जिसने निज अभ्यन्तर अंग अर्थात् शान्ति और आनन्द, वह अभ्यन्तर अंग है। आहाहा! शान्ति, आनन्द, वीतरागता, अनन्त गुण का एकरूप वीतरागस्वरूप, ऐसा निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया। अभ्यन्तर अंग को जिसने प्रगट किया। यहाँ अभ्यन्तर अंग कहा, देखा! यह शरीर-बरीर नहीं। शरीर अंग नहीं है, वाणी अंग नहीं है, कर्म अंग नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े, इसलिए फिर लोग व्यवहार में जोड़कर निकालते हैं। व्यवहार से होता है, व्यवहार करते-करते होता है।

मुमुक्षु : ऐसा लोगों ने पढ़ा या सुना किस दिन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वांचन तो करते हों परन्तु अन्दर से निश्चय न हो, ऐसा का ऐसा एक ओर निकाल दे। व्यवहार में हो वह। यहाँ तब नहीं बोलते थे ? पण्डित इकट्ठे हुए थे। कैलाशचन्दजी कहते थे – निश्चय की बात आवे, तब हम छोड़ देते हैं। व्यवहार की बात आवे, तब विस्तार करते हैं। यहाँ कहा था (संवत्) २००३ के वर्ष में। आहाहा!

यह बात सुनने पर अभी इसे कठिन पड़े कि यह क्या है ? यह चैतन्य का रस है। आनन्द का रस है। आहाहा! एक आम के रस के स्वाद में चिपटा, यह तो आनन्द का रस है, वह तो धूल का रस है। आम तो धूल है। आहाहा! पुद्गल है, धूल है। उसका रस लगता है। इसका रस नहीं लगा। उस पर लक्ष्य करके राग करता है, उसका रस है। आम रस यह चखता भी नहीं। आहाहा! मात्र उसकी मिठास यहाँ दिखती है, वह राग, उस राग को वेदन करता है, आम के रस को कोई वेदन नहीं करता, कोई खाता भी नहीं। जड़ को कौन खाये ? चैतन्य जड़ (को) खाये ? आहाहा! चैतन्य अपने स्वभाव को भूलकर यह ठीक है, ऐसा जो राग होता है, उसका वेदन करता है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि नयपक्ष को भी लाँघकर एक चैतन्यचमत्कार को सदा स्मरण कर, सदा स्मरण कर। आहाहा! जिसे एक ही लगन लगी है। किसी समय याद करना और किसी समय भूल जाना, ऐसा नहीं है। आहाहा! भिन्न पड़ा, वह तो निरन्तर रहने का है। राग से भिन्न पड़ा, वह तो सदा निरन्तर रहेगा, ऐसा कहते हैं। सदा स्मरण कर, इसका अर्थ यह है। सदा निरन्तर रहनेवाला। राग से भिन्न पड़ा, ऐसा भगवान आहाहा! यह तो अभी धर्म की पहली सीढ़ी की बात है। चारित्र की बात तो कोई अलौकिक, बापू! आहाहा!

वस्त्र छोड़कर नग्न हो जाए, तो साधु हो जाए, ऐसा कुछ नहीं है, बापू! आहाहा!

एक चैतन्यचमत्कार का सदा स्मरण... आहाहा! **ज्ञानज्योति द्वारा...** ज्ञान के प्रकाश द्वारा जिसने निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है... आहाहा! देखा? **जिसने निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है...** आनन्द का रंग पर्याय में चढ़ गया है। आहाहा! शान्ति का रस पर्याय में चढ़ गया है। यह अभ्यन्तर उसका अंग है। आहाहा! शरीर, वाणी तो नहीं, विकल्प का जाल, वह नहीं; शान्ति और आनन्द जिसका एकरस, वह अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है। आत्मा का अन्तर आनन्द का अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है। आहाहा!

ऐसा अन्तरात्मा,... ऐसा तो यहाँ अभी अन्तरात्मा की बात चलती है, परमात्मा की नहीं। साधक जीव की बात चलती है। आहाहा! **ऐसा अन्तरात्मा, मोह क्षीण होने पर,...** चैतन्यचमत्कार में चढ़ा, उसे मोह क्षीण होने पर **किसी (अद्‌भुत) परमतत्त्व को अन्तर में देखता है।** आहाहा! पूर्ण केवलज्ञान देखता है। अनन्त-अनन्त गुण का समुद्र, सुख का सागर... आहाहा! उसे अन्तर में देखता है। आहाहा! है? **परमतत्त्व को अन्तर में देखता है।** आहाहा! विकल्प में नहीं, बाह्य में नहीं। पूजा, भक्ति और बाहर में धमाल, मन्दिर और यात्रा और भक्ति तथा गजरथ और शोभायात्रा, उसमें आत्मा का अंग नहीं है। आहाहा! आत्मा का अंग तो अन्तर का है। ऐसा अन्तर आत्मा मोह क्षीण होने पर, मोह का नाश करके। यह तो मोह क्षीण होने पर; मोह का नाश करके—ऐसा नहीं कहा। अन्तर के रस में चढ़ा और उसका मोह क्षीण होने पर, ऐसा कहा है। आहाहा! मोह को क्षीण करता है, ऐसा भी शब्द प्रयोग नहीं किया।

मोह क्षीण होने पर,... आहाहा! यहाँ जहाँ जमी, वहाँ मोह क्षीण हुआ। अन्तर में जहाँ जमावट जमी, आनन्द और वीतरागभाव की जमावट हुई... आहाहा! वहाँ मोह क्षीण हो जाता है। मोह क्षीण करता है, ऐसा भी शब्द नहीं लिया। मोह क्षीण होने पर... आहाहा! अन्तर के आनन्द के रस में चढ़ा हुआ भगवान, उसे मोह क्षीण होने पर कोई अद्‌भुत परम तत्त्व को... त्रिकाली परमात्मा **अन्तर में देखता है।** आहाहा! परमपारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव को पूर्ण रीति से देखता है। आहाहा! ऐसी बड़ी बातें हैं।

पंचम काल में भले मोह क्षीण नहीं है परन्तु यह वस्तु की स्थिति का अनुभव तो कर सकता है न? आहाहा! पंचम काल के मुनि पंचम काल के जीव को कहते हैं। ऐसा

नहीं कि तुम जीव हो, पंचम काल में तुम्हें उत्पन्न नहीं होगा, प्रभु! तू तो सदा त्रिकाली परमात्मा है न! तुझे काल लागू नहीं पड़ता न! आहाहा! तीनों काल निरावरण है न, तीनों काल स्वयं सत्रूप, सत् का सत्य विराजता है न! उसे अन्दर में देखता है। ऐसे परम तत्त्व को (देखता है)। पर्याय में राग और निर्मल पर्याय का भी लक्ष्य नहीं लिया। यहाँ तो अन्दर में परम तत्त्व को देखता है। पर्याय को देखता है, ऐसा भी नहीं है। निर्मल पर्याय भी नहीं। निर्मल पर्याय, परम तत्त्व को अन्दर में देखती है। आहाहा! गजब बात है। बात ऐसी है।

परमतत्त्व को अन्तर में देखता है। देखता है, वह पर्याय है, परन्तु (जिसे) देखता है, वह द्रव्य है। देखती है, वह पर्याय है परन्तु अन्दर में जो देखती है, वह द्रव्य है। पर्याय, द्रव्य को देखती है। पर्याय, द्रव्य को देखती है। आहाहा! है न? जो पर्याय राग में लवलीन थी और राग में विकल्प जाल में हैरान-हैरान होती थी। आहाहा! वह विकल्प जाल छोड़कर, वह पर्याय निर्विकल्प होकर अन्तरतत्त्व को देखती है। भगवान पूर्ण गुण का पिण्ड अन्दर है। चैतन्य परमात्मा है, ऐसा जो परिणति परमात्मा को देखती है। निर्मल परिणति परमात्मा को देखती है। आहाहा! अब यह व्यवहार के पक्षवालों को कठिन पड़े कि हमारे व्यवहार से कुछ नहीं होता? नहीं होता, ऐसा किसने कहा? व्यवहार से होता है बन्ध। राग होता है, बन्ध होता है। आहाहा! व्यवहार आता अवश्य है। व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है। दो नय हैं, दो नय हैं। दोनों नय का विषय भी है। ज्ञानी को भी दोनों नय का विषय है परन्तु त्रिकाली के आश्रय में जो आनन्द है, वह व्यवहार के आश्रय में दुःख है। आहाहा! गजब काम है।

मुमुक्षु : प्रत्यक्ष देखता है या परोक्ष देखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्यक्ष। प्रश्न बराबर है। यहाँ क्षीण मोह होने पर लिया न? नीचे है, वह अभी परोक्ष है। और यह तो क्षीण मोह होने पर, ऐसा कहा है न? मोह का क्षय होने पर। आहाहा! पंचम काल के जीव को भी यह कहते हैं। मोह क्षीण होता नहीं, ऐसा काल है। आहाहा! तथापि वह बात याद नहीं। आहाहा! मोह क्षीण होकर परसन्मुख की सावधानी बन्द पड़कर, अन्तर की सावधानी पूर्ण उग निकलती है। इसलिए अभ्यन्तर का अन्तर में अंग प्रगट होता है। उगता है अर्थात् प्रगट होता है। है न? अभ्यन्तर अंग प्रगट किया। आहाहा! बहुत थोड़ी भाषा, भाव बहुत भरे हैं। आहाहा!

अपने को छोड़कर पर की जंजाल का पार नहीं होता। अकेला दु:ख। नय पक्ष के विकल्प भी दु:ख हैं तो व्यापार और धन्धा और स्त्री-पुत्र तो अकेला दु:ख, दु:ख और दु:ख। आहाहा! यह तो अन्तर चीज़ है, उसके नयपक्ष। यहाँ तो नयपक्ष आया है न? नय के पक्ष भी दु:ख है। आहाहा! वहाँ शान्ति नहीं है। आहाहा! इससे कहीं दूसरा सरल धर्म नहीं होगा? धर्म सरल कर या देर से पहुँच, यह है।

भगवान परमात्मा साक्षात् विराजते हैं। साक्षात प्रभु अन्दर विराजते हैं। आत्मा तत्त्व, वह तो परमात्मतत्त्व ही है। तेरी एक समय की पर्याय में गड़बड़ की है। कब तक?- कि पर मेरा, स्त्री मेरी, पुत्र मेरा, हिलना मेरा, देखना मेरा, मेरा कमाता हूँ और ऐसा करता हूँ, यह तो ठीक। यह तो बहुत स्थूल पाप है। परन्तु नयपक्ष की पर्यायें... आहाहा! निश्चयनय का पक्ष करे, अन्दर विकल्प उठे कि मैं ज्ञायक हूँ, मैं शुद्ध हूँ—ऐसे नय का पक्ष भी दु:खरूप है। आहाहा! ऐसा पहुँच न सके, इसलिए फिर व्यवहार का आश्रय लेकर बातें करे, परन्तु इससे, बापू! भव का अन्त नहीं आयेगा? भाई! कुदरत के नियम में यह कुदरत का जो स्वभाव है, उससे विरुद्ध करने जाएगा तो कुछ नहीं रहेगा। कुदरत का स्वभाव तो यह है।

परमात्मा स्वयं है। उसे विकल्प का जाल भी दु:खरूप है। आहाहा! यह तो वस्तु का स्वरूप है। भगवान कहते हैं, इसलिए ऐसा है—ऐसा है? आहाहा! यह तो वस्तु की स्थिति है। स्थिति है—ऐसा भगवान जानकर कहते हैं। आहाहा! भारी बहुत सूक्ष्म बात, बापू! अन्तर में भगवान... कैसे जँचे? पामरता में जहाँ अर्पित हो गया। पामरता में अर्पित हो गया, समर्पण हो गया। उसे परमात्मा में अर्पणता कहाँ से आवे? आहाहा! यह गाथा तो बहुत गहरी है। पद्मप्रभमलधारिदेव बहुत ही गहरे...! आहाहा! साक्षात् चैतन्य को प्रगट करके बातें करते हैं। आहाहा!

निज अभ्यन्तर अंग... वापस भाषा देखी? अभ्यन्तर चीज़। बाहर की चीज़ भगवान के अन्तर में वह नहीं है। **निज अभ्यन्तर अंग प्रगट किया है...** अन्तर के आनन्द का अंग प्रगट किया है। **ऐसा अन्तरात्मा, मोह क्षीण होने पर, किसी (अद्भुत) परमतत्त्व को...** आहाहा! **अन्तर में देखता है।** जहाँ प्रभु पड़ा है, जो अनन्त गुण का दल है, उसे अन्तर में मोह क्षीण होने पर अन्दर में देखता है। आहाहा! १५० हुई।

गाथा-१५१

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाण-विहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि।।१५१।।

यो धर्मशुक्लध्यानयोः परिणतः सोऽप्यन्तरङ्गात्मा।
ध्यान-विहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि।।१५१।।

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेवोपादेयमित्युक्तम्।

इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः। तस्य खलु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडशकषायाणामभावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मराजन्ये विलयं गते अत एव सहजचिद्विलास-लक्षणमत्यपूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति। आभ्यां ध्यानाभ्यां विहीनो द्रव्यलिङ्गधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि।

रे धर्म शुक्ल सुध्यान परिणत अन्तरात्मा जानिये।
अरु ध्यान विरहित श्रमण को बहिरातमा पहिचानिये॥१५१॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [धर्मशुक्लध्यानयोः] धर्मध्यान और शुक्लध्यान में [परिणतः] परिणत है, [सः अपि] वह भी [अन्तरंगात्मा] अन्तरात्मा है; [ध्यान-विहीनः] ध्यानविहीन [श्रमणः] श्रमण [बहिरात्मा] बहिरात्मा है, [इति विजानीहि] ऐसा जान।

टीका : यहाँ (इस गाथा में), स्वात्माश्रित निश्चय-धर्मध्यान और निश्चय-शुक्लध्यान, यह दो ध्यान ही उपादेय हैं—ऐसा कहा है।

यहाँ (इस लोक में) वास्तव में साक्षात् अन्तरात्मा भगवान क्षीणकषाय हैं। वास्तव में उन भगवान क्षीणकषाय को सोलह कषायों का अभाव होने के कारण दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी योद्धाओं के दल नष्ट हुए हैं। इसलिए वे

(भगवान क्षीणकषाय) *सहजचिद्विलासलक्षण अति-अपूर्व आत्मा को शुद्धनिश्चयधर्मध्यान और शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यान इन दो ध्यानों द्वारा नित्य ध्याते हैं। इन दो ध्यानोंरहित द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण बहिरात्मा है, ऐसा हे शिष्य! तू जान।

श्लोक - १५१ पर प्रवचन

१५१, १५१ में तो ऐसा कहते हैं कि ध्यान के बिना प्राणी, वह बहिरात्मा है। देखो!

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाण-विहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ।।१५१।।

भाषा देखो। आहाहा!

रे धर्म शुक्ल सुध्यान परिणत अन्तरात्मा जानिये।
अरु ध्यान विरहित श्रमण को बहिरातमा पहिचानिये॥१५१॥

आहाहा! अन्तर के ध्यानरहित आत्मा को बहिरात्मा जानना। आहाहा! अन्तर के आत्मा के ध्यान में अन्तरात्मा जानना। आहाहा! एक से एक गाथाएँ ऊँची चढ़ती है।

टीका : यहाँ (इस गाथा में), स्वात्माश्रित... आत्मा को अवलम्बन कर, आत्मा प्रभु परमात्मा, उसके आश्रय से आश्रित **निश्चय-धर्मध्यान...** देखो! कोई कहे धर्मध्यान व्यवहार राग को कहा है। परन्तु वह तो उपचार से कथन है। यह निश्चय-धर्मध्यान। व्यवहार धर्मध्यान कहा है न? मोक्ष अधिकार में। चिन्ता-चिन्ता करता है, वह व्यवहार धर्मध्यान है। शुभभाव धर्म है। समयसार, मोक्ष अधिकार में। चिन्ता करता है मोक्ष की, वह व्यवहार धर्मध्यान। व्यवहार अर्थात् राग; राग अर्थात् बन्ध का कारण। आहाहा! भाषा व्यवहार धर्मध्यान की है, हों! वहाँ टीका ऐसी है। आहाहा! परन्तु व्यवहार की भाषा निरर्थक है, ऐसा नहीं जानता। व्यवहार अर्थात् कुछ नहीं। व्यवहार अर्थात् कथनमात्र। आहाहा! है अवश्य, व्यवहार का विषय है परन्तु कथनमात्र है, जानने के लिये है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **यहाँ (इस गाथा में), स्वात्माश्रित निश्चय-धर्मध्यान और निश्चय-**

---

* **सहजचिद्विलासलक्षण=जिसका लक्षण (-चिह्न अथवा स्वरूप) सहज चैतन्य का विलास है ऐसे।**

शुक्लध्यान... अभी शुक्लध्यान नहीं है, तथापि उसका स्वरूप बतलाते हैं। आहाहा! कि जिससे उसे धर्मध्यान होने पर भविष्य में शुक्लध्यान होगा ही और केवलज्ञान प्राप्त करेगा। आहाहा! परमात्मा तू होगा। धर्मध्यान में आयेगा तो तू परमात्मा होगा। आहाहा! मुनिराज पंचम काल के जीव को भी निश्चय शुक्लध्यान भी समझाते हैं, देखा! वह अभी नहीं है। आहाहा! **स्वात्माश्रित निश्चय-धर्मध्यान और निश्चय-शुक्लध्यान यह दो ध्यान ही उपादेय हैं...** दो ध्यान ही आदरणीय है। आहाहा! इसके अतिरिक्त कोई पर्याय या विकल्प, वह उपादेय नहीं है। पर्याय उपादेय नहीं है। पर्याय स्वयं ध्यान करती है, वह उपादेय है। आहाहा!

यहाँ (इस लोक में) वास्तव में साक्षात् अन्तरात्मा भगवान क्षीणकषाय हैं। उत्कृष्ट लिया है। आहाहा! **(इस लोक में) वास्तव में साक्षात् अन्तरात्मा...** आहाहा! वह तो **भगवान क्षीणकषाय हैं।** जिसे कषाय नष्ट हो गयी है। बारहवाँ गुणस्थान वह साक्षात् अन्तरात्मा है। आहाहा! जो अभी नहीं है, उसकी बात करते हैं। नहीं है परन्तु यह करना है, यही करने लाना है। धर्म को समझकर भी यही लाना है। भले थोड़ा काल अन्तर पड़े, वह लाना ही है और वह आना ही है; इसलिए धर्मध्यान के साथ शुक्लध्यान को जोड़ दिया। आहाहा! वह धर्मध्यानवाला गिर जाए और फिर भटके, यह बात यहाँ नहीं है। आहाहा! जिसे अन्तरात्मा आनन्दस्वरूप भगवान का जिसे आनन्द का स्वाद आया, वह अन्तरात्मा निश्चय से धर्मध्यानी है और निश्चय शुक्लध्यानी होगा। आहाहा! होगा ही। आहाहा!

वास्तव में साक्षात् अन्तरात्मा भगवान क्षीणकषाय हैं। वास्तव में उन भगवान क्षीणकषाय को... देखा! उसे भगवान ही कहा। **सोलह कषायों का अभाव होने के कारण...** उसे तो सोलह कषाय का अभाव है। **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी योद्धाओं के दल नष्ट हुए हैं।** आहाहा! पंचम काल के मुनि को खबर है कि अभी बारहवाँ गुणस्थान नहीं आता, परन्तु तो भी इसे प्राप्त करके बारहवाँ आयेगा ऐसा बताते हैं। आहाहा! भले काल लगे, परन्तु दूसरे भव में आनेवाला है या तीसरे भव में भले। एक स्वर्ग का भव (आवे)। स्वर्ग का भव, वह तो बीच में धर्मशाला है। धर्मशाला है। पच्चीस कोस काटना हो तो बीस कोस चलने के बाद बाकी पाँच कोस रहे तो धर्मशाला

हो, वहाँ पड़ाव डालते हैं। फिर सवेरे उठकर वहाँ जाना है। इसी प्रकार यह पंचम काल के साधु देह छूटकर स्वर्ग में जाएँ, परन्तु वह तो धर्मशाला है। वहाँ निकलकर परमात्मा होनेवाले हैं। आहाहा! इतना जोर देते हैं, स्वयं मुनिराज इतना जोर देते हैं। आहाहा!

भगवान क्षीणकषाय को सोलह कषायों का अभाव होने के कारण दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी योद्धाओं के दल नष्ट हुए हैं। आहाहा! दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय, इनके जो दल। बड़े योद्धा। जड़ के योद्धा। जड़ के योद्धा के दल नाश को प्राप्त हुए हैं। आहाहा! और चैतन्य का योद्धा प्रगट हुआ है। **इसलिए वे (भगवान क्षीणकषाय) सहजचिद्विलासलक्षण...** नीचे अर्थ है। **सहजचिद्विलासलक्षण=जिसका लक्षण (-चिह्न अथवा स्वरूप) सहज चैतन्य का विलास है ऐसे**। आहाहा! विलास। विलास रमते हैं न? यह विलास। चैतन्यविलास है, यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! जिसका सहज स्वाभाविक ज्ञान विलास लक्षण **अति-अपूर्व आत्मा को...** आहाहा! अति-अपूर्व आत्मा को। पूर्व में कभी नहीं किया—जाना था, उसे शुद्धनिश्चयधर्मध्यान **और शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यान इन दो ध्यानों द्वारा नित्य ध्याते हैं**। आहाहा!

इसलिए वे (भगवान क्षीणकषाय) सहजचिद्विलासलक्षण अति-अपूर्व आत्मा को... देखा? जिसका लक्षण सहज चैतन्य का विलास है। आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप है, उसका विलास—पर्याय में आनन्द का विलास है। आहाहा! ऐसा जो **सहजचिद्-विलासलक्षण अति-अपूर्व आत्मा को...** ऐसी दशा को अनन्त भव में कभी प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे अपूर्व आत्मा को **शुद्धनिश्चयधर्मध्यान...** आहाहा! **और शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यान इन दो ध्यानों द्वारा नित्य ध्याते हैं**। दोनों (ध्यान) डाले हैं। आहाहा! दोनों ध्यान को ध्यान कहा। शुक्लध्यान की भी भावना तो है न! भले धर्मध्यान है, शुक्लध्यान नहीं परन्तु उसकी भावना तो है। उसकी भावना कहीं भव के भाव की नहीं है, भव के भाव की नहीं है। भव करूँ, यह भाव नहीं है। आहाहा!

अति-अपूर्व आत्मा को शुद्धनिश्चयधर्मध्यान और शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यान इन दो ध्यानों द्वारा नित्य ध्याते हैं। आहाहा! सदा नित्य आत्मा है तो उसका अनुभव करते हुए सदा नित्य आत्मा अनुभवता है। कोई एक समय भी उसका विरह नहीं पड़ता। आहाहा! **इन दो ध्यानोंरहित...** अब कठिन डाला। जिसे धर्मध्यान नहीं, जिसे आत्मा का

ध्यान नहीं... आहाहा! वह चाहे जैसा क्रियाकाण्डी हो, वही **द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण बहिरात्मा है, ऐसा हे शिष्य! तू जान**। तीन विशेष दिये। धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वात्माश्रित रहित जीव को तो **द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण बहिरात्मा है, ऐसा हे शिष्य! तू जान**। हे शिष्य! तू ऐसा जान। ऐसा विशेष कहते हैं... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२६०

[अब यहाँ टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(वसंततिलका)

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्मशुक्ल-
ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ।
ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्त-योगिन-महं शरणं प्रपद्ये ।।२६०।।

(वीरछन्द)

धर्म शुक्ल ध्यानामृतरूपी समरस में मुनि कोई रहे।
इनसे रहित मुनि बहिरात्मा, हम सुदृष्टि की शरण गहें ॥२६०॥

[श्लोकार्थः] कोई मुनि सतत-निर्मल धर्मशुक्ल-ध्यानामृतरूपी समरस में सचमुच वर्तता है; (वह अन्तरात्मा है;) इन दो ध्यानों से रहित तुच्छ मुनि बहिरात्मा है। मैं पूर्वोक्त (समरसी) योगी की शरण लेता हूँ ॥२६०॥

प्रवचन-१७६, श्लोक-२६०-२६१, बुधवार, ज्येष्ठ कृष्ण १२, दिनांक ०९-०७-१९८०

नियमसार, २६० कलश। कलश है। गाथा का अर्थ हो गया है।

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्मशुक्ल-
ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ।

ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्त-योगिन-महं शरणं प्रपद्ये ।।२६०।।

श्लोकार्थ :- कोई मुनि सतत-निर्मल धर्मशुक्ल-ध्यानामृतरूपी... लो! शुक्लध्यान भी लिया। पंचम काल में। अन्तर निर्मल आनन्दस्वरूप भगवान, वह अतीन्द्रिय आनन्द का दल है। आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का समूह-पिण्ड है। उसमें एकाग्रता, **सतत-निर्मल...** निरन्तर उसमें एकाग्रता का रहना, वह **धर्मशुक्ल-ध्यानामृतरूपी समरस में...** है। वह धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूपी अमृतरूपी समरस है। आहाहा!

मुमुक्षु : कोई मुनि ने लिखा, ऐसा कोई मुनि नहीं होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि न होवे तो मुनि नहीं। इस अनुसार न होवे तो मुनि नहीं परन्तु व्यक्ति का अपने... वह कहेंगे स्वयं।

कोई मुनि सतत-निर्मल धर्मशुक्ल-ध्यानामृतरूपी... अमृत। आहाहा! अमृत का सागर प्रभु, उसे जो अमृत को पीता है, अन्दर में एकाग्र ध्यान करके अमृतरूपी अमृत को जो पीता है, वह **समरस में सचमुच वर्तता है;...** वह वीतरागभाव में वास्तव में वर्तता है अर्थात् कि उसे विकल्प नहीं है। आहाहा! अन्तर के या बाह्य के विकल्प उसे नहीं है। आहाहा! जिसे अन्तर में **ध्यानामृतरूपी...** अन्तर के ध्यानरूपी अमृत... आहाहा! वह जिसने पिया और अमृत जिसे प्राप्त हुआ, वह **समरस में सचमुच वर्तता है;...** अर्थात् कि वह तो वीतरागभाव में वर्तता है, वह विकल्प में नहीं वर्तता। आहाहा! यह मुनि! कठिन काम है, भाई! मुनिपना किसे कहना, अभी इसकी खबर नहीं होती और जिसे-जिसे मानते हैं। आहाहा!

अन्तर में आत्मा विकल्परहित पूर्णानन्दस्वरूप, उसका जिसे अन्तरध्यान है, अमृत का स्वाद है, भले शुक्लध्यान भी लिया है, उत्कृष्ट बात ली है, अमृत के स्वाद में जो अन्दर स्थित है, वह समरसभाववाला है अर्थात् विकल्परहित वीतरागभाववाला है, ऐसा कहना है। आहाहा! वह वीतरागभाववाला है, वह मुनि है। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम और वह कुछ मुनिपना नहीं है, वह समरस नहीं है। वह तो विषमरस है। आहाहा! कितनों को तो ऐसा सुनने को मिला भी न हो। आहाहा! यह क्या मुनिपना! आहाहा!

अन्तर आनन्द का नाथ, परमात्मस्वरूप के सन्मुख होकर उसके ध्यान में अमृत के रस का वेदन (करना), उसे यहाँ समरस कहा है। उसे यहाँ विकल्प रहित, भले अन्तर या बाह्य का शुभ-अशुभ विकल्प है, वह विषमभाव है। चाहे तो आत्मा में देव-गुरु-शास्त्र का विकल्प या द्रव्य-गुण-पर्याय का विकल्प, तीन। द्रव्य, गुण और पर्याय तीन का विकल्प भी विषमभाव है। आहाहा! ऐसा है। यह तो इतने और पुण्य इतना बढ़ रहा, साथ आया, नहीं तो ऐसी बात सुनने खड़ा न रहे। यह क्या कहते हैं ? हमसे कुछ किया नहीं जा सकता, ऐसी बात ? किया जा सकता है, यह बात की बात नहीं। आहाहा!

यहाँ तो सत् प्रभु सच्चिदानन्द अमृत का सागर अनादि-अनन्त भगवान आत्मा के सन्मुख में, उसके ध्यान में उसका अमृत पीवे, उसे समरसता अर्थात् यहाँ कहने का आशय तो यह है कि उसे विकल्प नहीं होता, इसलिए उसे वीतरागभाव होता है। है न ? **समरस में सचमुच वर्तता है;...** वह वीतरागभाव में वर्तता है। पंचम काल के मुनि, पंचम काल के प्राणी को सुनाते हैं। कोई कहे कि यह बात तो चौथे काल (वाले) के लिये है। आहाहा! मुनिपना तो अलौकिक बात है, भाई! आहाहा!

(वह अन्तरात्मा है;)... अभी तो साधक है न ? वह अन्तरात्मा है। आहा! और **इन दो ध्यानों से रहित...** अन्तर के आनन्द अतीन्द्रिय मूर्ति प्रभु, उसके अमृत के स्वाद से रहित... आहाहा! **तुच्छ मुनि...** लो, ऐसा कहा। मुनि ने स्वयं कहा। आहाहा! **दो ध्यानों से रहित तुच्छ...** अन्तर में ध्यान से रहित। आहाहा! पूरे दिन विकल्प ही किया करता है, कहते हैं। आहाहा! यह विकल्प है, वह तो राग है। वह कहीं मुनिपना नहीं है। आहाहा! मुनिपना तो वीतरागभाव से पंच परमेष्ठी में मुनिपना सम्मिलित है। पंच परमेष्ठी वीतरागभाव से है। उसे-वीतरागभाव को यहाँ समरस कहा है। परन्तु किस प्रकार से ?

सतत-निर्मल धर्मशुक्ल-ध्यानामृतरूपी समरस में... आहाहा! निरन्तर सतत-अन्तर पड़े बिना आत्मा के अमृत की धारा, अमृत की धारा बहे, ऐसी जो वीतरागता, वह वास्तव में मुनि है। आहाहा! अब यहाँ तो इसने सुना हो कि सत्ताईस गुण पालो तो मुनिपना। श्वेताम्बर में ऐसा है न ? सत्ताईस गुण। इसमें-दिगम्बर में अट्ठाईस गुण हैं। अट्ठाईस विकल्प। आहा! वह तो शुद्ध परिणति धर्म की अन्तर में हो, उसे ऐसा विकल्प व्यवहार होता है, उसका वर्णन है। परन्तु जहाँ शुद्ध परिणति ही नहीं, अन्तर के आनन्द के स्वाद

का जहाँ अभाव है, उसके व्यवहार को तो व्यवहार भी नहीं कहा जाता। आहाहा! ऐसा स्वरूप है जरा। व्यवहार तो निश्चय होवे तो व्यवहार कहा जाता है। निश्चय आत्मा के...

आत्मा अर्थात् क्या? अकेला अमृत का सागर, शान्ति का सागर, सुख का महासागर... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसकी ओर की जो एकाग्रता, उसका नाम यहाँ धर्मध्यान और शुक्लध्यान है अर्थात् समरस वीतरागभाव कहा जाता है। आहाहा! यह तो वीतरागभाव को ही धर्मध्यान कहा गया है, लो! शुक्लध्यान तो ठीक, वह तो कहते हैं परन्तु यहाँ तो धर्मध्यान भी वीतरागभाव (स्वरूप है)। आहाहा!

इन दो ध्यानों से रहित... जिसे इस अमृत के सागर का प्रपात बहता है प्रभु अन्दर, उसके अनुभव से रहित... आहाहा! जो मुनि **तुच्छ मुनि (वह) बहिरात्मा है**। लो! यह दो ध्यान से रहित, ऐसा कहा। पंच महाव्रतरहित और पंच महाव्रत में दोष लगाता है, अमुक के लिये, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! जिसमें पूरे संसार का अभाव है और पूर्ण आनन्द, ज्ञान से पूर्णता भरी हुई है। आहाहा! जिसमें पूर्ण वीतरागता, पूर्ण शान्ति, पूर्ण निर्विकल्पता पूर्ण भरी है, उसका जिसे वेदन है, उसे यहाँ मुनि कहा जाता है। इसके अतिरिक्त के तुच्छ मुनि अकेले विकल्प में ही वर्तते हैं। पंच महाव्रत के विकल्प (मात्र है) और वस्तु अन्तर में नहीं है। आहाहा!

तुच्छ मुनि (वह) बहिरात्मा है। वह बहिरात्मा है। आहाहा! कहो, ऐसा सुना था कभी? आहाहा! ऐसी बात है। अस्थिरता का राग हो, वह अलग वस्तु है। यह अन्तर्मुख आनन्द का ध्यान और आनन्द की अनुभवदशा, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर परमात्मा, उसका एक नमूना-अंश अन्तर के अमृत के स्वाद का (आवे), उसमें रहे हुए निर्विकल्प कहकर, वीतरागभाव कहकर उसे सच्चा मुनि कहा गया है। इन दो ध्यान से रहित भले पंच महाव्रत पालता हो... आहाहा! भले समिति, गुप्ति आदि अट्ठाईस मूलगुण हो परन्तु अन्तरात्मा का स्पर्श नहीं, अमृत के सागर को जिसने देखा नहीं, देखा नहीं, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात कठिन पड़ती है।

दो ध्यानों से रहित तुच्छ मुनि (वह) बहिरात्मा है। मैं... अब स्वयं मुनि कहते हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि (कहते हैं) **मैं पूर्वोक्त (समरसी) योगी की शरण लेता हूँ।** अर्थात् कि मैं समरसी में हूँ। आहाहा! **मैं पूर्वोक्त (समरसी)...** समरसी अर्थात् वीतरागभाव

में जो है, जिसे विकल्प की गन्ध नहीं, ऐसे मुनि की शरण में मैं हूँ। ऐसे **योगी की शरण लेता हूँ।** आहाहा! यह पंचम काल की बात होगी ? कोई ऐसा कहते हैं कि ऐसी बात तो चौथे काल की है। आहाहा! नियमसार मुनि स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं के लिये, पंचम काल में स्वयं के लिये बनाया है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य पंचम काल में हुए हैं। भगवान के बाद ५००-६०० वर्ष में (हुए हैं)। उसमें से यह है और स्वयं ने स्वयं के लिये बनाया है। आहाहा! अकेले आनन्द के झरने बहते हैं। आहाहा!

श्लोक-२६१

किञ्च केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते ह्र

(अनुष्टुप्)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम्।
सुधियां न समस्त्येष सन्सार-रमणी-प्रियः ।।२६१।।

और (इस १५१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज द्वारा श्लोक द्वारा) केवल शुद्धनिश्चयनय का स्वरूप कहा जाता है:—

(वीरछन्द)

बहिरात्मा अरु अन्तरात्मा यह विकल्प दुर्बुद्धि करें।
भव-रमणी को प्रिय विकल्प यह नहिं सुबुद्धिजन कभी करें॥२६१॥

[श्लोकार्थः] (शुद्ध आत्मतत्त्व में) बहिरात्मा और अन्तरात्मा, ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है; संसाररूपी रमणी को प्रिय ऐसा यह विकल्प, सुबुद्धियों को नहीं होता॥२६१॥

श्लोक - २६१ पर प्रवचन

और (इस १५१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज द्वारा श्लोक द्वारा) केवल शुद्धनिश्चयनय का स्वरूप कहा जाता है:—

२६१ (श्लोक)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम् ।
सुधियां न समस्त्येष सन्सार-रमणी-प्रियः ।।२६१।।

श्लोकार्थः आहाहा! **(शुद्ध आत्मतत्त्व में) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है;...** आहाहा! बहिरात्मा और अन्तरात्मा के विकल्प में वर्ते, वह कुबुद्धि है। आहाहा! यहाँ तो वर्ते, वह विकल्प ऐसा होता है, वह बहिरात्मा है। आहाहा! ऐसा भेद करते हैं। अन्तरात्मा और बहिरात्मा, ऐसे दो भेद डालने जाता है, वहाँ अकेला अन्दर ध्यान नहीं रहता। आहाहा! अन्तरात्मा यह और बहिरात्मा यह, ऐसा करने जाए, वहाँ विकल्प टूटता नहीं। वहाँ विकल्प / राग रहता है, इसलिए कहते हैं कि **(शुद्ध आत्मतत्त्व में)...** अकेला जहाँ शुद्ध चैतन्य प्रभु निर्मलानन्द प्रभु आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु है। आहाहा! यह **बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसा यह विकल्प...** आहाहा! क्योंकि उसका बहिरात्मा के ऊपर लक्ष्य गया। अन्तरात्मा और बहिरात्मा, ऐसा भेद करने जाता है, वहाँ उसका लक्ष्य अकेला विकल्प के ऊपर गया। आहाहा!

शुद्ध आत्मा एकरूप स्वरूप परमानन्दमूर्ति, उस एक स्वरूप में बहिरात्मा और अन्तरात्मा, ऐसे दो भेद डालने जाता है, ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है। आहाहा! कहाँ तक ले गये! अमुक करे और अमुक करे, वह तो एक ओर रह गया, परन्तु यहाँ यह तत्त्व जो है, एकरूप स्वरूप, परमात्मस्वरूप ही चिदानन्द है, उसमें—शुद्धात्मा में दो भेद डालना कि यह अन्तरात्मा ऐसा और बहिरात्मा यह... आहाहा! ऐसा जो विकल्प है, वह कुबुद्धि को है। कठिन बात है। संसार के कर्तव्य तो एक ओर रह गये। आहाहा! शुभभाव के कर्तव्य भी एक ओर रह गया।

ऐसा जो शुभभाव कि यह आत्मा अन्तरात्मा इसे कहते हैं और बहिरात्मा इसे कहते हैं, ऐसा जो विकल्प में आया है, वह कुबुद्धि है। एकरूप वस्तु में दो प्रकार के विकल्प उठाता है, वह कुबुद्धि है—ऐसा कहते हैं। वस्तु एकरूप है, उसमें यह अन्तरात्मा एक समय की पर्याय, वह पर्याय है और बहिरात्मा, वह भी विकल्प की पर्याय है। आहाहा! कठिन विषय है, भाई! पाठ ही है, हों! यह। है न? **झाण-विहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि**। यह कुन्दकुन्दाचार्य का वचन है। **जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो**

सो वि अंतरंगप्पा। धर्म (ध्यान) और शुक्लध्यानरूप परिणमित हुआ है... आहाहा! वह अन्तरात्मा है और **झाण–विहीणो** दो ध्यानों में से अन्दर का एक भी ध्यान नहीं होता, वह **विहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि।** बहिरात्मा है, ऐसा तू जान। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं कहा है। गाथा में है। टीकाकार ने ही कहा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहने का आशय तो ऐसा है कि एकरूप स्वरूप है, उसमें भेद डालकर विकल्प उठावे... आहाहा! वह कुबुद्धि है। अभेद में भेद उत्पन्न करे और माने, (वह कुबुद्धि है)। आहाहा! यह कठिन बात है। अन्तिम में अन्तिम यह है। आहा!

मुमुक्षु : तीन भेद डाले द्रव्य–गुण–पर्याय के...

पूज्य गुरुदेवश्री : दो भेद किये। दो भेद किये, वह कुबुद्धि है। वस्तु त्रिकाल एकरूप है। आहाहा!

शुद्ध चैतन्यस्वरूप एकरूप, त्रिकाल एकरूप वस्तु है। ऐसे शुद्धात्मा में परमानन्द की मूर्ति वीतरागमूर्ति में दो भेद करना, वह विकल्प है और वस्तु वीतरागस्वरूप है, इसलिए विकल्प में वर्तता है, वह बहिरात्मा है। आहाहा! पहले सुनना कठिन पड़े। एकरूप में दो रूप का भेद डालकर विकल्प करे, वह कुबुद्धि है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! देवचन्दजी! आहाहा! यह राग करे और राग को अपना माने, वह तो मिथ्यात्व है, वह तो स्थूल बात है। आहाहा! परन्तु भगवान आत्मा अन्तर में एकरूप चिदानन्द अनादि–अनन्त, सच्चिदानन्दस्वरूप अमृत का सागर एकरूप, एक स्वभाव, एक स्वरूप है। उसमें दो भेद डाले कि यह अन्तरात्मा की पर्याय और यह बहिरात्मा, वह विकल्प है, वह कुबुद्धि है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसी बात है। बात थी कब? आहाहा! अन्तिम में अन्तिम तत्त्व यह है।

झाण–विहीणो—ऐसा कहा न? यह पहले आ गया है न, कि '**अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा**' अन्तरात्मा और बहिरात्मा, इसमें दो विकल्प में वर्ते, (वह) बहिरात्मा है। १५० में, १५० गाथा में कहा है। अन्तर और बहिर्, ऐसे विकल्प में वर्ते, वह बहिरात्मा है। '**जप्पेसु जो ण वट्टइ**' विकल्प में न वर्ते तो अन्तरात्मा है। आहाहा! विकल्प आता है, परन्तु उसमें नहीं वर्तता। आहाहा! जानने में वर्तता है, वह विकल्प में नहीं वर्तता। विकल्प में वर्तता है, वह स्वरूप में नहीं वर्तता। आहाहा! ऐसी बात है। यह बात पहले कह

गये, १५० गाथा में कह गये हैं। अन्तर–बहिर् दो भेद डाले, यह तो पहले कह गये हैं और यह विशेष स्पष्ट करते हैं। ध्यानवाला है, वह मुनि है और ध्यानरहित है, वह बहिरात्मा है – ऐसा अब स्पष्ट कर दिया। आहाहा! आया?

(शुद्ध आत्मतत्त्व में)... वजन यहाँ है। शुद्ध आत्मतत्त्व एकरूप है उसमें। शुद्ध आत्मतत्त्व अखण्डानन्द अभेद अमृतस्वरूप एकरूप है, उसमें–एक में दो भेद डालता है... आहाहा! यहाँ तो अभी शुभ से छूटने का निषेध करते हैं। एकान्त है। शुभ से शुद्ध होता है, शुभ से शुद्ध होता है और बहुत जगह ऐसा कथन भी आता है। शुभ होता है, उससे रहित हुआ है; इसलिए शुभ में आरोप देते हैं। ऐसी बात है। शुभभाव से छूटकर शुद्ध का अनुभव हुआ, वहाँ शुभ में साधक का आरोप दिया। निश्चय साधक हुआ, तब व्यवहार साधक का आरोप दिया है। अब उसे उससे होता है, ऐसा मान बैठता है। आहाहा!

यहाँ तो एकरूप में दो रूप का विकल्प करे... क्या कहा? देखो! **(शुद्ध आत्मतत्त्व में)...** शुद्ध आत्मतत्त्व में अर्थात् एकरूप तत्त्व में। आहाहा! दूसरे विकल्प तो एक ओर रहे—लिखने के, बोलने के, समझाने के—वे तो सब विकल्प हैं। आहाहा! उनमें वर्ते, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि एकरूप में दोपने में वर्ते... आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : इतने विकल्प में कुबुद्धिवाला कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुबुद्धि है, मिथ्यादृष्टि कहा। एक में दो भेद डाले क्यों? एकरूप चैतन्य है, उसमें दो भेद डाले तो विकल्प आया और विकल्प में वर्ते, वह तो मिथ्यादृष्टि है। चिमनभाई! ऐसा कहीं सुना नहीं था, ऐसा यह है। था कहाँ? आहाहा!

बहिरात्मा और अन्तरात्मा, ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है;... आहाहा! अन्तिम में अन्तिम बातें (की है)। १५० और १५१ गाथा। १५० में भी ऐसा कहा न? बहिरात्मा और अन्तरात्मा में वर्ते। दो प्रकार के जल्प होकर। अन्तरात्मा और बहिरात्मा में जपे। जल्प अर्थात् विकल्प में वर्ते। दोपने में विकल्परूप वर्ते, वह बहिरात्मा। कहा न इसमें? आहाहा! यहाँ कहते हैं, एक में दोपने का भाग डाले, है एकरूप वस्तु, उसमें दो भाग डाले कि यह अन्तरात्मा और यह बहिरात्मा... आहाहा! और उसमें वर्ते। बहिरात्मा और अन्तरात्मा, ऐसा विकल्प कुबुद्धि को होता है। उसका अर्थ यहाँ वर्ते (किया है)।

संसाररूपी रमणी को प्रिय ऐसा... संसार में भटकने की प्रीतिवाला **ऐसा यह विकल्प...** आहाहा! चौरासी के अवतार में भटकनेरूपी प्रिय स्त्री... आहाहा! वह रमणी –संसाररूपी रमणी, आहाहा! यह विकल्प है, वह संसाररूपी रमणी है। आहाहा! आनन्द के नाथ को, वेदन को भूलकर दो भाव करके वहाँ वर्ता करे तो वह **संसाररूपी रमणी को प्रिय ऐसा यह विकल्प...** ऐसा यह राग, ऐसी यह वृत्ति का उत्थान **सुबुद्धियों को नहीं होता**। आहाहा! ढाई लाईन में तो...

इस १५० और १५१ में निश्चय आवश्यक की बात है न! निश्चय आवश्यक का अधिकार है न? सत्य-अवश्य का यह है। दो भेद डालना, वह आवश्यक नहीं है, कहते हैं। आहाहा! दूसरा आवश्यक माने, वह स्वतन्त्र है। आहाहा! परन्तु एक आत्मस्वरूप से विराजमान प्रभु अनादि-अनन्त सत्तासहित, आनन्दसत्ता जिसकी, उससे विरुद्ध के दो विकल्प उठावे : अन्तरात्मा और बहिरात्मा विकल्प (उठावे), वह कुबुद्धि है। आहाहा! ऐसा तो सुनना कठिन पड़ता है। घीया! कहीं मिले नहीं। स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी में तो नहीं परन्तु अभी दिगम्बर में कहाँ है? गड़बड़ की है। आहाहा! कठिन बात है, उन्हें दुःख तो होगा न, बापू! जो विकल्प उठे, वह दुःखी हैं न! उस दुःख के जले हुए का अनादर करना, तिरस्कार करना यह नहीं हो सकता, वह भी मिटकर परमात्मा होओ। आहाहा! ऐसी विपरीत बुद्धि मिटकर भी जैसा स्वरूप है, वैसा होओ—ऐसी भावना धर्मी को होती है। आहाहा! शान्तिभाई! आहाहा!

द्रव्यसंग्रह में कहा न! द्रव्यसंग्रह में कहा था न! अवायवीचार। धर्मी जीव विचार करता है, उसमें यह आता है। प्रत्येक प्राणी, कोई भी प्राणी दुःखी न होओ। तुम प्रभु से विरुद्ध करोगे, प्रभु! तो तुझे दुःख होगा। आहाहा! और उस दुःख की व्याख्या तुम्हें आकुलता सही नहीं जाए और उसी और उसी में उलझकर मर जाएगा, बापू! आहाहा! अनादि काल से वास्तविक तत्त्व में से हटकर पुण्य और पाप के विकल्प में तो रहा परन्तु यहाँ तो अन्तरात्मा और बहिरात्मा भेद में जो रहे... आहाहा! उसके विकल्प में जो वर्ता करे। आहाहा! स्वरूप का ध्यान तो नहीं, आनन्द का अन्दर जो स्वाद चाहिए, वह तो है नहीं और ऐसा विकल्प उठावे कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा। कहते हैं कि वह तो मिथ्यादृष्टि कुबुद्धि है। आहाहा! सत्य ऐसा है। कठोर लगे या जरा कठिन लगे परन्तु सर्वज्ञ

त्रिलोकनाथ परमात्मा का वीतराग सत्य तो ऐसा है। वीतरागी सत्य तो यह है। आहाहा! यह सुनकर उकताहट नहीं लाना चाहिए कि इतना अधिक कठिन! ऐसा नहीं लाना चाहिए। परन्तु प्रभु! तेरी महत्ता इतनी अधिक है कि वह महत्ता एकरूप में दो रूप उठाता है, वह दु:ख है, उसे मिटाते हैं। आहाहा! प्रभु! तू एकरूप, आनन्दरूप है न! समता का घर, वीतराग का घर है न! आहाहा! उसमें एकरूप में दो रूपता उठाने से, बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसी दो बात उठाने से, प्रभु! तुझे दु:ख होता है। तू भले विचारता नहीं परन्तु प्रभु! उसमें तुझे दु:ख होता है। उस दु:ख को मिटाने के लिये यह बात करते हैं। उस दु:ख में तू रहे, उसके लिये है यह? आहाहा! इसलिए स्वयं ऐसा कहते हैं न? आहाहा! पहले में कहा न? मैं तो ऐसे योगी की शरण ग्रहण करता हूँ। जो रागरहित, भेदरहित है, उसकी शरण ग्रहण करता हूँ। आहाहा! पहले श्लोक में कहा २६०, २६१ में ऐसा लिया। आहाहा!

संसाररूपी रमणी को प्रिय ऐसा यह विकल्प... आहाहा! प्रभु! प्रभु! प्रभु! परमात्मास्वरूप एकरूप है, उसमें दो रूपता उठाता है – यह अन्तरात्मा और बहिरात्मा। स्वयं परमात्मा तो है ही। आहाहा! उसमें अन्तरात्मा और बहिरात्मा का विकल्प (उठावे), वह कुबुद्धि है। आहाहा! कितनों ने तो जिन्दगी में यह सुना नहीं होगा। यह अन्तिम में अन्तिम बात है। यह दो गाथाएँ जब से देखी, तब से पहले से कहते हैं। आहाहा! वस्तु का स्वरूप ही यह है।

एकरूप ऐसा भगवान आत्मा वह वस्तु है, अस्ति है, सत्ता है, स्वभाव है, मौजूदगी चीज़ है। अनन्त गुण का धनी एकरूप रहे, अनन्त आनन्द और अमृत का सागर नाथ एकरूप रहे, ऐसा उसका त्रिकाली स्वरूप है। उन सबका स्वरूप ऐसा ही है, प्रभु! उसमें से निकलकर ऐसे दो भेद डालेगा तो प्रभु! तू दु:खी होगा। उसे कुबुद्धि कहा न? आहाहा! तू दु:खी होगा, तुझे दु:ख होगा और दु:ख होगा, इसलिए संसार आयेगा भटकने का। परिभ्रमण आयेगा। आहाहा! इतनी करुणा से यह बात की है। आहाहा!

कहते हैं कि अन्तरात्मा और बहिरात्मा, ऐसा एकरूप चैतन्य में भेद, वह **संसाररूपी रमणी को प्रिय...** अर्थात् भटकने के लिये है। आहाहा! यह संसार में भटकने के लिये विकल्प है। प्रभु! प्रभु! ऐसी बात! आहाहा! यहाँ तो कितने विकल्प के घोटाले उठावे तो भी उसमें लाभ माने। आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक आवे तो भी लाभ नहीं। आहाहा!

संसार में भी होता है राजा, महाराजा सम्यग्दृष्टि (होते हैं), उसके प्रमाण में उन्हें आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी होता है, तथापि वे बहिरात्मा नहीं हैं। आहाहा! क्योंकि उनकी दृष्टि में अन्तर आत्मा तैरता है। त्रिकाली आत्मा-परमात्मा है, वह तैरता है। विकल्प होता है, राग होता है, वह क्रिया भी राग की होती है, तथापि उसका जाननेवाला रहकर स्वरूप में रमने की स्थिति उसके घर में है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। यह क्या कहना है?

समकिती गृहस्थाश्रम में इस प्रकार विकल्प में आवे, वह कुबुद्धि नहीं है। वह भेद करता नहीं। वस्तु की तो अभेद दृष्टि है। वस्तु त्रिकाली है, वह तो अभेद है, उसमें बिल्कुल भेद नहीं करता। रागादि आवे, आर्तध्यान आवे, रौद्रध्यान आवे... आहाहा! तथापि वह कुबुद्धि नहीं है। आहाहा! रौद्रध्यान आवे तो भी कुबुद्धि नहीं है और यहाँ एक में दो भाग डालकर वहाँ वर्ते तो वह कुबुद्धि है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : गुण और गुणी, ऐसे दो देखे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी विकल्प है। एक में दो भेद डालना, वह विकल्प है और विकल्प में वर्ते तो मिथ्यादृष्टि है। यह तो पहले कहा है। पहले कह गये न? १५० में '**अन्तरबाहिरजप्पे जो वट्टइ**' अन्तरात्मा और बहिरात्मा, ऐसे जो विकल्प में वर्ते... आहाहा! '**सो हवेइ बहिरप्पा**' वह बहिरात्मा है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! १५० और १५१ (गाथा में)... आहाहा! अलौकिक बातें हैं। यहाँ तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, बापू! यह सब तो विकल्प है। आहाहा! शास्त्र बनाओ, यह सब विकल्प का जाल है। आहाहा!

यहाँ तो एकरूप में दो भाग करने पर भी विकल्प है। पर्याय के दो भेद करने पर। द्रव्यवस्तु एकरूप है। द्रव्य जो है, वह भगवान परमात्मा एकरूप है। उसमें जो परमात्मा के अतिरिक्त अन्तरात्मा और बहिरात्मा का दो भेद का विकल्प उठाता है, वह भी कुबुद्धि और अज्ञान है। आहाहा! ऐसी बात है। है या नहीं इसमें? ऐसा सुना है कब वहाँ?

मुमुक्षु : सुनानेवाले कब थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। ऐसी बात रह गयी, बापू! ओहोहो!

मुमुक्षु : तत्त्व के चिन्तन का विकल्प?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो विकल्प है। चिन्तवन करना, वह विकल्प है। चिन्तवन के कथन करनेवाला दो है। एक आत्मा का ध्यान एकाग्रता, उसे चिन्तवन कहते हैं, अन्दर ध्यान में एकाग्रता उसे चिन्तन कहते हैं और एक ऐसा आत्मा है... ऐसा है—ऐसा विकल्प, उसे भी चिन्तवन कहते हैं। शास्त्र में चिन्तवन के कथन दो प्रकार से हैं। आहाहा! अरे रे!

मुमुक्षु : कठिन लगता है यह सब।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन है, भाई! बापू! यह तो वस्तु ऐसी है। आहाहा! ओहो! चौरासी के अवतार। बाकी त्याग किया, महाव्रत पालन किये, सब अनन्त बार किया। आहाहा! और वह मिथ्यात्व किसे कहना, यह समझे बिना शल्य अन्दर गहरी रह जाती है और मानता है कि यह समकित है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

यह दो कलश १५० और १५१ यह तो निश्चय आवश्यक है न, यहाँ अवश्य का कहते हैं। एक में दो भाग डालने की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! प्रभु चैतन्यपिण्ड अमृत का सागर एकरूप है, उसमें उसे एक में दो भाग डालना, वह कुबुद्धि है। आहाहा! एक में अनेकता को डालना, वह तेरी भूल है। आहाहा! ऐसी बात देवचन्दजी कहाँ से? कहते-कहते लोग कहे एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है। प्रभु! प्रभु! प्रभु! तेरे हित की बात है। अन्तर में... आहाहा! राग आवे परन्तु उसकी मर्यादा आवे। आहाहा! गजब काम किया है। यह तो पद्मप्रभमलधारिदेव। अमृतचन्द्राचार्य के पश्चात् हुए हैं। वे भी ऐसा स्पष्ट रखकर जगत के समक्ष बात करते हैं। सभा के बीच में कहते हैं कि इस प्रकार है। आहाहा!

(शुद्ध आत्मतत्त्व में)... अर्थात् एक ही वस्तु, एकरूप वस्तु में। **बहिरात्मा और अन्तरात्मा, ऐसा यह...** भेद। भेद कहो या विकल्प कहो। **विकल्प कुबुद्धियों को होता है;...** आहाहा! **संसाररूपी रमणी को प्रिय...** चार गति में भटकने की जिसको प्रियता है, ऐसा जो विकल्प। आहाहा! विकल्प का प्रेम है, उसे चार गति में भटकने का प्रेम है। **संसाररूपी रमणी को प्रिय ऐसा यह विकल्प...** इस राग का जिसे रस है... आहाहा! उसे चार गति में भटकने का रस है। आहाहा! राग हो, राग आवे।

भरत चक्रवर्ती एकावतारी क्षायिक समकिती। वे भगवान को मोक्ष जाते देखा तो आँख में आँसू की धारा बहे। अरे! यह भरतक्षेत्र का सूर्य अस्त हो गया। भरत का सूर्य आज

अस्त हुआ। यह (बाहर का) सूर्य तो उगता है और अस्त होता है परन्तु यह तो चैतन्यसूर्य, केवलज्ञान सूर्य आज अस्त हो गया। आँसू की धारा बहती है। है समकिती, क्षायिक समकिती। आहाहा! इन्द्र कहता है कि भाई! तुझे तो इस भव में मोक्ष जाना है और हमारे तो अभी एकाध भव है। (भरत कहते हैं) खबर है, सब खबर है। बापू! राग आता है, इसलिए यह स्थिति होती है। सब खबर है। इन्द्र, भरत को कहते हैं कि किसलिए रोते हो? भगवान मोक्ष पधारे हैं। सुन! इन्द्र को कहते हैं, सुन! मुझे सब खबर है परन्तु राग है, इसलिए यह होता है, यह जानता हूँ। मुझे राग की एकता नहीं है। राग और ज्ञायक इन दो को भिन्न ही जानता हूँ और इस भव में ही मुझे मोक्ष है। यह मेरी अन्तिम देह है, अब दूसरी देह है नहीं। आहाहा! वे भी रोते.. रोते.. (ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

मुमुक्षु : वे रोते-रोते भी तत्त्व को याद करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तत्त्व को अन्दर (याद करते हैं)। अब आँख में से आँसू है तो भी अन्दर तत्त्व की दृष्टि है, वह हटी नहीं है। आहाहा! तत्त्व जो चैतन्य भगवान अन्दर है, उस भगवान को भूले नहीं। आहाहा! ऐसी बात तो अन्य को तो कठिन पड़ती है।

गाथा-१५२

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विराग-चरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।१५२।।

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रम्।
तेन तु विराग-चरिते श्रमणोऽभ्युत्थितो भवति।।१५२।।

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमत्रोक्तम्।

यो हि विमुक्तैहिकव्यापारः साक्षादपुनर्भवकाङ्क्षी महामुमुक्षुः परित्यक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वान्निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन कारणेन स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति इति।

प्रतिक्रमण आदिक्रिया तथा चारित्रनिश्चय आचरे।
अतएव मुनि वह वीतराग-चारित्र में स्थिरता करे॥१५२॥

अन्वयार्थ : [प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां] प्रतिक्रमणादि क्रिया को—[निश्चयस्य चारित्रम्] निश्चय के चारित्र को—[कुर्वन्] (निरन्तर) करता रहता है, [तेन तु] इसलिए [श्रमणः] वह श्रमण [विरागचरिते] वीतरागचारित्र में [अभ्युत्थितः भवति] आरूढ़ है।

टीका : यहाँ परम वीतरागचारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।

जिसने ऐहिक व्यापार (सांसारिक कार्य) छोड़ दिया है, ऐसा जो साक्षात् अपुनर्भव का (मोक्ष का) अभिलाषी महामुमुक्षु सकल इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से निश्चयप्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को करता हुआ स्थित है (अर्थात् निरन्तर करता है), वह परम तपोधन उस कारण से निजस्वरूपविश्रान्ति लक्षण परम वीतरागचारित्र में स्थित है (अर्थात् वह परम श्रमण, निश्चयप्रतिक्रमणादि निश्चयचारित्र में स्थित होने के कारण, जिसका लक्षण निज स्वरूप में विश्रान्ति है, ऐसे परमवीतरागचारित्र में स्थित है)।

गाथा - १५२ पर प्रवचन

अब १५२ गाथा।

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विराग-चरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।१५२।।
प्रतिक्रमण आदिक्रिया तथा चारित्रनिश्चय आचरे।
अतएव मुनि वह वीतराग-चारित्र में स्थिरता करे।।१५२।।

टीका : आहाहा! **यहाँ परम वीतरागचारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।** इस गाथा में। आहाहा! तप की व्याख्या ही पहले कही है न? पहले एक आता है न, शुरुआत में? १०९ पृष्ठ पर। तप की व्याख्या आती है। यह लोग अनशन, उनोदरी तप करते हैं न, वह तप नहीं। आहाहा! यह कहीं है अवश्य। तप की व्याख्या कहीं है। १०९ पृष्ठ पर है। बस, १०९ है। **परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन...** बस यह। **सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन, वह तप है...** यह अपवास करना और यह और वह सब तप नहीं है – ऐसा कहते हैं। १०९ पृष्ठ पर है। ख्याल था, परन्तु कहीं सब याद रहता है? देखो, नीचे है, यह। है? आहाहा!

अब **सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन,...** आहाहा! नीचे (अर्थ) है। सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन, वह तप है। आहाहा! प्रतपन—अन्दर शुद्धि की वृद्धि, आनन्द की धारा विशेष बढ़े, उसे तप कहा जाता है। आहाहा! तप की ऐसी व्याख्या! अनशन-अपवास और (वह तो कहीं रह गया)। यहाँ यह कहा न, तप। **वह तप है...** ऐसा है न? है? **निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र इस तप से होता है।** निश्चयचारित्र भी ऐसा तप हो, वहाँ होता है। आहाहा! व्याख्या तप की है, तो भी कहते हैं... आहाहा! ऐसा तप हो, उसे ऐसा चारित्र होता है। आहाहा! है?

सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन,... प्रतपन। प्र-तपन, अकेला तपन नहीं। **वह तप है, निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र**

इस तप से होता है। आहाहा! निश्चयचारित्र भी इस तप से होता है। अब ऐसी व्याख्या। १०९ पृष्ठ पर लिखा था। कहीं है। आहाहा!

अब यहाँ आवश्यक। १५२ (गाथा) **यहाँ परम वीतरागचारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।** आहाहा! टीका है न? **जिसने ऐहिक व्यापार (सांसारिक कार्य) छोड़ दिया है...** आहाहा! **ऐसा जो साक्षात् अपुनर्भव का (मोक्ष का) अभिलाषी महामुमुक्षु...** आहाहा! **सकल इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से निश्चयप्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को करता हुआ स्थित है...** लो! आहाहा! ऐसा सकल इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से निश्चय प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया। इसका नाम सत्क्रिया है। वह (राग की) क्रिया सत् नहीं, वह तो असत्क्रिया है। आहाहा! है? **परम वीतरागचारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।** वही **(मोक्ष का) अभिलाषी महामुमुक्षु सकल इन्द्रिय व्यापार...** उससे रहित होकर सत्क्रिया करता हुआ स्थित है। अन्तर के आनन्द में रहता हुआ उस चारित्र में वह तप है। अन्तर में आनन्द में रहता हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करता हुआ, वह तप है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१७७, श्लोक-२६२, गाथा-१५२-१५३, गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण १३, दिनांक १०-०७-१९८०

नियमसार, १५२ गाथा की टीका। अधिकार आवश्यक का है। परम आवश्यक- अवश्य करने का क्या? आत्मा को अवश्य करने का क्या? अवश्य करने का यह कि आनन्दस्वरूप आत्मा में लीन होना, यह करनेयोग्य यह है। बाकी सब बातें... आवश्यक -अवश्य उसे अवश्य करने योग्य हो तो वह चिदानन्द परमपारिणामिक स्वभावभाव अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर है, उसमें दृष्टि करके लीन होना। जानपना कम-ज्यादा हो, उसकी विशेष बात नहीं। इसलिए कहते हैं कि **यहाँ परम वीतरागचारित्र में...** व्यवहारचारित्र तो राग का कारण है। इसलिए उसकी तो बात नहीं ली। व्यवहार जो क्रियाकाण्ड, पंच महाव्रत वह तो राग है। यहाँ तो परम वीतरागचारित्र। आहाहा! स्वरूप आनन्द, ज्ञान और शान्ति से भरपूर भगवान आत्मा है, उसमें रमना। अनुभव दृष्टि पहले की हो, तब फिर उसमें रमना, लीन होना। वह **चारित्र में स्थित परम तपोधन का स्वरूप कहा है।** आहाहा!

जिसने ऐहिक व्यापार (सांसारिक कार्य) छोड़ दिया है... बाहर का व्यापार अर्थात् बाहर की क्रियाओं से लक्ष्य छोड़ दिया है। यह बाहर की क्रिया छोड़ दी है। आहाहा! **ऐसा जो साक्षात् अपुनर्भव का (मोक्ष का) अभिलाषी महामुमुक्षु...** क्षायिक की बात है न? **सकल इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से...** पाँचों इन्द्रियों का व्यापार छूट गया। इसके बिना चारित्र होता नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन भी पाँच इन्द्रिय का व्यापार छूटकर अन्तर्दृष्टि-अनुभव हो, तदुपरान्त पाँच इन्द्रिय की ओर का झुकाव है, वह भी छूटकर अन्तर में रमणता हो, इसका नाम चारित्र है। आहाहा!

सकल इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा... पाँचों इन्द्रियों का, मन का व्यापार छोड़ा है। आहाहा! **निश्चयप्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को करता हुआ स्थित है...** जरा सूक्ष्म बात है। निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान अर्थात् आत्मा आनन्द, ज्ञान और वीतरागमूर्ति है, ऐसा जो आत्मदल वीतरागी, उसमें स्थिरतारूपी सत् क्रिया है। वह क्रिया। वह क्रिया मोक्ष का कारण है। बाहर के क्रियाकाण्ड जो हैं, वे कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा! **प्रतिक्रमणादि...** सब लिया है न? प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना आदि। **सत्क्रिया को करता हुआ स्थित है...** यह सत्क्रिया। राग में रहना, वह असत्क्रिया है। आहाहा! आदि सत्क्रिया को करता हुआ स्थित। यह सत्क्रिया। राग में रहना, वह असत्क्रिया है। आहाहा! अशुभराग तो असत् है परन्तु शुभराग भी असत् है। आहाहा! सत्क्रिया को करता हुआ। यहाँ **करता हुआ स्थित है...** कहा है। सत्क्रिया को करता है, ऐसा सिद्ध किया है। आहाहा!

आनन्दस्वरूप ज्ञायकभाव त्रिकाली परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य धातु। निर्मलानन्द पूर्ण परमात्मा ही आत्मा है। उस आत्मस्वरूप-परमात्मस्वरूप में स्थिर होना, वह सत्क्रिया है। उसमें स्थिर होना, वह सत्क्रिया है। आहाहा! यह पंचम काल में ऐसे काल में ऐसी क्रिया... मार्ग तो यह है। पाँचवाँ काल हो या चौथा काल हो। अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान ज्ञानमूर्ति प्रज्ञाब्रह्म। वास्तव में तो वह त्रिकाली चारित्र की मूर्ति है। वह त्रिकाली चारित्र मूर्ति है, उसमें पर्याय में चारित्र करना। ज्ञान त्रिकाली है, उसमें एकाग्र होना, वह ज्ञान। दर्शन त्रिकाली है, उसमें एकाग्र होना, वह श्रद्धा। चारित्र त्रिकाली अकषायभाव में स्थिर होना, वह चारित्र है। ऐसी बात है। यहाँ तो बाहर से मान बैठे, यह क्रिया और यह किया और यह किया। आहाहा!

प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को करता हुआ स्थित है... अन्तरात्मा में-अतीन्द्रिय आनन्द में अन्दर मस्त हो गया है। आहाहा! उसे यहाँ चारित्र कहते हैं। महाव्रत के परिणाम और यह सब क्रियाकाण्ड, वह चारित्र नहीं है। वह सब अचारित्र है, संसार है। आहाहा! गजब बात है। यहाँ तो कुछ व्रत पाले और यह किया... यह किया (तो हो गया) चारित्र। चारित्र की व्याख्या कठिन है। अन्दर चारित्र अकषाय नाम का त्रिकाली गुण है, उसमें एकाग्र होना। अकेले गुण के लक्ष्य में भिन्न करके नहीं। अभेद स्वरूप में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द (आदि) अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुण में एक साथ दृष्टि में अनुभवसहित अन्दर स्थिरता होना, उसका नाम सत्क्रिया अर्थात् चारित्र है। यह चारित्र की व्याख्या! यह तो एकान्त (लगता है)। चारित्र कभी सुना न हो। यह तो महाव्रत पालन किये, स्त्री छोड़ी, पुत्र छोड़े, दुकान छोड़ी, इसलिए चारित्र (हो गया)। वह चारित्र-फारित्र नहीं है। आहाहा! जिसने पाँचों ही इन्द्रियों का व्यापार छोड़ा है और अनीन्द्रिय का आत्मा में अन्दर लीनता का व्यापार किया है, उसे यहाँ चारित्र कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बात है।

सत्क्रिया को करता हुआ स्थित है (अर्थात् निरन्तर करता है),... आहाहा! जैसे निरन्तर आत्मा निरन्तर है, उसके गुण भी निरन्तर है। उसमें स्थिरता भी निरन्तर करे, उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा! अभी तो ऐसी चारित्र की व्याख्या सुनना कठिन पड़ती है। चारित्र तो है कहाँ? आहाहा! **निरन्तर करता है,...** स्वरूप में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना। दृष्टिस्वरूप की ओर होने से उसके सन्मुख में लीनता की स्थिरता को यहाँ चारित्र नित्य करता है, यह सत्क्रिया। उसे सत्क्रिया कहा जाता है। आहाहा! देखो! आया या नहीं? सत्क्रिया है या नहीं? यही बात की थी। (संवत्) १९९० के वर्ष में। वे कहे 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष।' शास्त्र का ज्ञान और पंच महाव्रत की क्रिया, यह दो (अर्थात्) मोक्ष। कहा, दोनों मिथ्या बात है। गुलाबचन्दजी, रतनचन्दजी के गुरु। तब 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष।' कहा है न? कहा, ज्ञान वह आत्मज्ञान। शास्त्रज्ञान भी नहीं। शास्त्रज्ञान, वह विकल्प है। आहाहा!

आत्मा का ज्ञान अन्दर आनन्दस्वरूप का भान, निर्विकल्प आनन्द की श्रद्धा और ज्ञान उसमें-स्वरूप में स्थिर होना, उसका नाम चारित्र कहा जाता है। यह क्रिया, यह

सत्क्रिया है। आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान और अन्दर स्थिर होना, वह सत्क्रिया, यह ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष। शास्त्र का ज्ञान और पंच महाव्रत की लौकिक क्रिया, वह कोई मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा! शास्त्रज्ञान अनन्त बार किया। ग्यारह अंग और नौ पूर्व अनन्त बार पढ़ा है। आहाहा! आत्मज्ञान और आत्मचारित्र सूक्ष्म बात है।

वह परम तपोधन... यह तपश्चर्या है। आनन्दस्वरूप में लीनता, इसका नाम तपोधन। उसे तपरूपी धन है। अज्ञानी को धूल का धन है। पैसे की धूल। ज्ञानी को अन्तर आनन्द में आनन्द का अनुभव, ज्ञान की एकाग्रता, शान्ति की व्यक्त प्रगटता, वीतरागता का अनुभव, वह उसका धन है, वह उसका वैभव है। **वह परम तपोधन उस कारण से निजस्वरूपविश्रान्ति लक्षण परम वीतराग-चारित्र में स्थित है...** आहाहा! निजस्वरूप त्रिकाली जो आनन्द सनातन सत्य त्रिकाली ध्रुव, उसके स्वरूप का उसमें विश्रान्ति लक्षण। उसमें स्थिर होता है, विश्रान्ति लेता है। आहाहा! **निजस्वरूपविश्रान्ति लक्षण परम वीतराग-चारित्र में स्थित है...** निजस्वरूपविश्रान्ति लक्षण। आहाहा! निज आनन्दस्वरूप, उसमें विश्रान्ति लक्षण। वहाँ आसन लगाकर स्थिर हो जाना, वह विश्रान्ति लक्षण। **परम वीतराग-चारित्र में स्थित है...** आहाहा!

(अर्थात् वह परम श्रमण,...) परम साधु चारित्रवन्त **(निश्चयप्रतिक्रमणादि निश्चयचारित्र में स्थित होने के कारण, जिसका लक्षण निज स्वरूप में विश्रान्ति है,...)** आहाहा! कहते हैं कि वह क्रिया कैसी? उस क्रिया को क्या कहना? सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, संवर, निर्जरा उस क्रिया को कहना क्या? कि वह निजस्वरूप में विश्रान्ति है। आहाहा! घीया। भक्ति-वक्ति, पूजा और मन्दिर बनावे, उससे कुछ कल्याण नहीं, ऐसा कहते हैं। आता है, शुभभाव आता है, होता अवश्य है परन्तु वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा! उसका निषेध है, वह भाव आता अवश्य है। वीतराग पूजा, दर्शन (का भाव आता है) परन्तु वह अशुभ से बचने मात्र आता है परन्तु वह स्वयं धर्म और संवर-निर्जरा नहीं है। आहाहा! वह धर्म नहीं है। चाहे जैसे लाख-दो लाख (खर्च कर डाले) यह कहा न वहाँ अफ्रीका में? बाईस लाख का मन्दिर बनानेवाले हैं। पहले पन्द्रह लाख का बनानेवाले थे परन्तु हम वहाँ गये, फिर साठ लाख इकट्ठे किये। साठ लाख! अफ्रीका, नैरोबी, बाईस लाख का तो मन्दिर बनानेवाले हैं। उसके प्रमाण यह सब करेंगे

न शोभा? कहा, धर्म नहीं है। ध्यान रखना। इस शुभभाव में ऐसा निमित्त की ओर लक्ष्य जाता है। आहाहा! साठ लाख इकट्ठे किये। साठ लाख क्या, पाँच करोड़ करे न, साठ करोड़ करे न, उसमें धर्म नहीं है। उसे खर्च करने से धर्म होगा (यह बात नहीं है)। शान्तिभाई! पैसा खर्च करने से धर्म नहीं होगा?

मुमुक्षु : पहले तो माना था, अब तो नहीं...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ कहते हैं। **निजस्वरूपविश्रान्ति...** आहाहा! **(निश्चयप्रतिक्रमणादि निश्चयचारित्र में स्थित होने के कारण, जिसका लक्षण निज स्वरूप में विश्रान्ति है,...)** आहाहा! संसार का पुण्य और पाप की थकान जहाँ उतर जाए। पुण्य और शुभ-अशुभभाव दोनों थकान है। दोनो बन्धन और दोनों जहर है। अमृत सागर का भरपूर भगवान, उसमें विश्रान्ति लेना। आहाहा। वहाँ बैठना, बैठक का स्थान करना, वह विश्रान्ति। आहाहा! **(निज स्वरूप में विश्रान्ति है,...)** आहाहा! कहाँ देह से पार, वाणी से पार, दया, दान के विकल्प से, राग से पार। मैं चैतन्य हूँ और अखण्ड हूँ, ऐसा जो विकल्प है, उससे भी पार। आहाहा!

रात्रि (चर्चा) में कहा था न? मैं ज्ञायक हूँ, अखण्ड शुद्ध हूँ, यह भी एक विकल्प है, राग है। आहाहा! कठिन काम है तथा एक परमात्मास्वरूप हूँ, उसमें अन्तरात्मा और बहिरात्मा दो पर्याय है। यह विकल्प-राग है। एक द्रव्य में तीन भेद डालकर खड़े रहना वह राग है, धर्म नहीं। द्रव्य, गुण और पर्याय तीन। द्रव्य जो त्रिकाली वस्तु; गुण उसकी शक्ति-स्वभाव, सत्त्व, सत् का सत्त्व और उसमें एकाग्रता, ऐसे लक्ष्य में तीन भेद डालना, वह भी एक राग है। आहाहा! वह भी धर्म नहीं है। आहाहा! ऐसा तीन लोक के नाथ तीर्थंकर परमात्मा की ओर लक्ष्य जाना, वह भी धर्म नहीं है; वह शुभराग है, पुण्य है। होता है परन्तु धर्म नहीं है।

(निज स्वरूप में विश्रान्ति है,...) आहाहा! महासिद्धान्त यह है। निजस्वरूप चिदानन्द अखण्ड ध्रुव चैतन्य रत्नाकर अखण्ड आनन्दकन्द में विश्रान्ति है। **(ऐसे परमवीतरागचारित्र में स्थित है)**। उस वीतराग परमचारित्र में स्थित है। आहाहा! अकेला चारित्र नहीं लिया। वीतरागचारित्र और परमवीतरागचारित्र। आहाहा! इतने विशेषण प्रयोग किये हैं। **(निज स्वरूप में विश्रान्ति है,...)** बाहर की पूरी दुनिया भूल जाता है। वीतराग

के कहे हुए शास्त्र-बास्त्र के कथन भूल जाता है। आहाहा! और एक भगवान को याद करके... अपना भगवान, हों! यह। उसमें विश्रान्ति लेता है, वही (**परमवीतरागचारित्र में स्थित है**)। आहाहा! ऐसे परम वीतरागचारित्र में स्थित है। आहाहा! यह तो सुनने को मिलना मुश्किल, सुना न हो। आहाहा! और कब सुने तथा कब करे?

श्लोक-२६२

[अब इस १५२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो,
यः सन्सारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तेः।
मूले शीले मल-विरहिते सोऽय-माचारराशिः,
तं वन्देऽहं समरससुधासिन्धु-राकाशशाङ्कम्।।२६२।।

(वीरछन्द)

जिसके नष्ट हुए हैं दर्शनमोह और ये चारित्रमोह।
संसार जनित सुख के कारण उन कर्मों को यह आत्मा छोड़॥
मुक्तिमूल निर्मल चारित में सुस्थित है वह चारित्र पुञ्ज।
वन्दन समरस-सुधा-समुद्र उछलने को जो पूरणचन्द्र॥२६२॥

[श्लोकार्थ:] दर्शनमोह और चारित्रमोह जिसके नष्ट हुए हैं, ऐसा जो अतुल महिमावाला आत्मा संसारजनित सुख के कारणभूत कर्म को छोड़कर मुक्ति का मूल, ऐसे मलरहित चारित्र में स्थित है, वह आत्मा चारित्र का पुंज है। समरसरूपी सुधा के सागर को उछालने में पूर्ण चन्द्र समान उस आत्मा को मैं वन्दन करता हूँ॥२६२॥

श्लोक - २६२ पर प्रवचन

[अब इस १५२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो,
यः सन्सारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तेः।
मूले शीले मल-विरहिते सोऽय-माचारराशिः,
तं वन्देऽहं समरससुधासिन्धु-राकाशशाङ्कम् ।।२६२।।

श्लोकार्थः आहाहा! **दर्शनमोह और चारित्रमोह जिसके नष्ट हुए हैं...** चारित्र किसे होता है?—कि जिसके पहले दर्शनमोह नष्ट हुआ है। आहाहा! आत्मा के आनन्दस्वरूप का जिसे अनुभव हुआ हो, उसके दर्शनमोह का नाश हुआ है क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। सब गुणों की अपेक्षा आनन्द का स्वाद और आनन्द का अनुभव, यह कोई अलग प्रकार है। यह... यह... झगड़ा ऐसा। आहाहा! जिसके दर्शनमोह अर्थात्? आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, ऐसा अनुभव, इससे विरुद्ध जो दर्शनमोह, उसका जिसके नाश हुआ है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है। आहाहा! वह परमात्मा का धाम है, वह परमात्मा की जाति है, उसका जो अनुभव हो, उसका नाम समकित। उसका नाम दर्शनमोह का नाश (हुआ कहलाता है) और उसमें फिर स्थिरता होना... आहाहा! उसका नाम चारित्र है।

वह **दर्शनमोह और चारित्रमोह जिसके नष्ट हुए हैं, ऐसा जो अतुल महिमावाला आत्मा...** आहाहा! जिसकी तुलना न की जा सके, प्रभु! आहाहा! इस आत्मा की जाति की किसके साथ तुलना करना? किसकी उपमा देकर इसे बताना? आहाहा! किसका दृष्टान्त देकर इसे समझाना। आहाहा! यह तो अतुल महिमावाला आत्मा है। जिसकी तुलना नहीं, जिसकी उपमा नहीं। उसकी उपमा उसे है। ऐसा जो वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा अन्दर... आहाहा! वह वीतराग स्वभाव की खान है। **ऐसा जो अतुल महिमावाला आत्मा...** आहाहा! **संसारजनित सुख के कारणभूत कर्म को छोड़कर...** संसार से उत्पन्न हुआ सुख। आहाहा! यह देव के सुख और यह धूल के-पैसेवाले के सुख... आहाहा!

मुमुक्षु : उसे सुख तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने माना है न! वह मानता है तो कहते हैं कि वह सुख है। वह मानता है न? वह मानता है तो कहे सुख। मानता है न वह? लड़का लकड़ी का घोड़ा लेकर रास्ते में बैठा हो और उसका पिता आया हो तो उसे ऐसा कहता है कि ऐ! घोड़ा आगे रख, चल अन्दर। उसका पिता भी लकड़ी को घोड़ा कहता है। उसी प्रकार यह वीतराग मुनि भी ऐसा कहते हैं कि तुझे जो सुख की कल्पना हुई, प्रभु! उसे मैं भी तेरी भाषा में सुख कहता हूँ। आहाहा! है?

आत्मा संसारजनित सुख... संसारजनित सुख अर्थात् कि दुःख। आहाहा! लोग तो मानते हैं न? पैसेवाले हों, अनुकूलता हो... आहाहा! कहा न? वह नैरोबी में तो लोग लाखों रुपयेवाले तो... दिखायी दे। दस लाख और बीस लाख और पच्चीस लाख, पचास लाख ऐसे ढ़ेर, नैरोबी अभी गये थे न? छब्बीस दिन रहे। साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। करोड़पति वहाँ गाँव में। पन्द्रह तो अरबपति हैं। पाँच, सात, दस लाख की तो बातें करना नहीं। ऐसे तो कितने ही पड़े हैं, कहते हैं। आहाहा! सब ऐसा मानते हैं कि हम सुखी हैं। जिसमें उतरे थे, वह मकान पन्द्रह लाख का था और बड़ा गृहस्थ करोड़पति। बीस-पच्चीस, तीस लाख रुपये के कपड़े की तो बड़ी दुकान भरी हुई, बड़ा व्यापारी। ऐसे बेचारा साधारण व्यक्ति। ऐसी कुछ बुद्धि ऐसी कि चतुर या ऐसा मस्तिष्कवाला (नहीं)। लड़का होशियार था, उसका पिता साधारण। परन्तु मैंने कहा यह सब होली है, बापू! यह तो दुःख के सब दिन बीतते हैं। आहाहा! इस सुख में जाते हैं, ऐसा नहीं।

यह **संसारजनित सुख के कारणभूत कर्म को छोड़कर...** आहाहा! अर्थात् पुण्य और पाप दोनों को छोड़कर... आहाहा! **मुक्ति का मूल...** मोक्ष का मूल **ऐसे मलरहित चारित्र में स्थित है,...** आहाहा! मोक्ष का मूल ऐसा जो चारित्र। आहाहा! देखा! मोक्ष का मूल चारित्र कहा। मोक्ष का मूल। **ऐसे मलरहित चारित्र में स्थित है,...** जिसे विकल्प भी नहीं। निर्विकल्प आनन्द में अन्दर तल्लीन हो गये हैं। जिन्हें संसार है या नहीं, यह खबर भी नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त हो गये हैं। आहाहा! वह आत्मा **मलरहित चारित्र में स्थित है,...** आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव मैल है। आहाहा! जैसे नाक का गूँगा है, वैसे यह गूँगा का मेल है। यह शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह सब मैल है। आहाहा! यह संसारजनित कल्पित-माना हुआ सुख है। उसे छोड़कर... आहाहा!

मुक्ति का मूल ऐसे मलरहित चारित्र में स्थित है, वह आत्मा चारित्र का पुंज है। आहाहा! पाँचवें काल में भी सन्तों ने ऐसी बातें की। आहाहा! यह तो हजार वर्ष पहले की बात है। उस समय तो सच्चे मुनि थे। मुनि सच्चे थे। आहाहा! अभी तो मुनिपना कहना किसे, यह अभी सुनने को मिलता नहीं। वस्त्रवाले तो मुनि है ही नहीं, परन्तु वस्त्ररहित नग्न भी मुनि नहीं हैं। वे क्रियाकाण्ड में तल्लीन हैं। आहाहा! शुभ और अशुभभाव। अशुभ छोड़कर बहुत तो शुभ में आवे। वह तो संसार है। शुभभाव में घोर संसार है। आहाहा! शुभभाव को इसमें घोर संसार कहा है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु से विरुद्ध भाव शुभ को जहाँ आगे.. आहाहा! दुःखरूप कहा है, वहाँ अशुभभाव की क्या बात करना? वह तो दुःख की जाति ही है। आहाहा!

दोनों के **मलरहित चारित्र में स्थित है, वह आत्मा चारित्र का पुंज है। समरसरूपी...** आहाहा! कैसा है मुनि? कैसा है चारित्रवन्त? आहाहा! **समरसरूपी सुधा के सागर को उछालने में पूर्ण चन्द्र समान...** जैसे पूर्णिमा का चन्द्र हो और समुद्र उछलता है। ज्वार आता है न ज्वार? पूर्णिमा के चन्द्रमा में समुद्र में ज्वार आवे, ऐसा नियम है। चन्द्र को और समुद्र को ऐसा सम्बन्ध है। चन्द्र जहाँ पूर्ण हो, वहाँ पूरा ज्वार आता है। आहाहा! इसी प्रकार **समरसरूपी सुधा के सागर को उछालने में पूर्ण चन्द्र समान...** यह चारित्रवन्त अन्तर में स्थित जम गया है। वह आनन्द को... आहाहा! सुधा अर्थात् अमृत का सागर। आचार्य को-मुनि को भाषा कम पड़ती है। उस अमृत के सागर को उछालने में पूर्ण चन्द्र समान है। जैसे पूर्ण चन्द्र उदित हो और समुद्र उछले, वैसे अन्दर आत्मा में स्थिर होने पर अतीन्द्रिय आनन्द उछलता है, अमृत उछलता है। आहाहा! यह चारित्र! ऐसा सुना भी नहीं था और सब बाहर की क्रिया-फिरिया को (चारित्र माना था)। आहाहा!

अमृत के सागर को उछालने में... आहाहा! शक्तिरूप से है, उसे प्रगट करने में **पूर्ण चन्द्र समान उस आत्मा को मैं वन्दन करता हूँ।** मुनिराज कहते हैं कि ऐसे आत्मा को मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! धन्य अवतार! जिसने अमृत का सागर अन्दर से उछाला, अमृत का समुद्र भरा है। प्रभु तो अमृत का समुद्र / सागर है। बालक से लेकर आबाल-गोपाल सबको। आहाहा! आया है न अपने, नहीं? १७-१८वीं गाथा में। आबाल-गोपाल—

बालक से वृद्ध को सबको भगवान परमात्मा प्राप्त होवे। आहाहा! यह दोष न रहे। आहाहा! सब आठ कर्म का नाश करके सुखी होवे। ऐसी भावना भाते हैं। अपनी भावना है, वह दूसरे की भी भावना (भाता है) । कोई दु:खी हो, कोई विरोध करनेवाला भी विरोध करके दु:खी होवे, (ऐसा नहीं भाते) । प्रभु! तुम विरोध को मिटाकर सुखी होओ। आहाहा!

आनन्द की सुधा उछलती है, कहते हैं। देखा! **सुधा के सागर को उछालने में...** चारित्र। स्वरूप में रमणता, रागरहित स्थिरता। उस सुधा के सागर, अमृत के सागर को **उछालने में पूर्ण चन्द्र समान...** आहाहा! चारित्र उसे कहना, ऐसा सुना भी नहीं होगा। पूरी जिन्दगी ऐसी की ऐसी बाहर की क्रियाकाण्ड (किये), वस्त्र छोड़े और... आहाहा! यहाँ तो वस्त्रवाले को तो मुनि नहीं मानते। वस्त्रवाले हैं, उन्हें मुनि माने, वह तो निगोदगामी है परन्तु वस्त्र छोड़कर नग्न घूमे किन्तु उसे यदि ऐसा आत्मभान नहीं... आहाहा! उस अमृत के सागर को अन्दर से नहीं उछालते तथा राग और द्वेष की क्रिया में पड़े हैं, वे दु:खी हैं। आहाहा! प्रभु! उस आत्मा को दु:ख होता है। उसे दु:ख होता है। ऐसी किसी की भावना होवे कि वह दु:खी हो? आहाहा! भाषा तो कैसी!

अमृत के सागर को **उछालने में पूर्ण चन्द्र समान...** चारित्र है। चारित्र अपने लिये यह है और दूसरे के लिये भी यह है। आहाहा! चारित्र तो उसे कहते हैं कि जो आनन्द के सागर में तिरे। जैसे पशु हरी (घास को) चरता है, वैसे आत्मा के आनन्द को अन्दर चरता है, अनुभव करता है और आनन्द को उछालता है। जो आनन्द शक्ति में है, उसे पर्याय में-ज्वार में लाता है। जो समुद्र अन्दर भरा हुआ है, वह ज्वार में बाहर आता है। ज्वार आता है न? ऐसे अमृत का सागर नाथ! आहाहा! उसे उछालने में, ज्वार लाने में चारित्रवन्त समर्थ है। आहाहा! ऐसा चारित्र! यह तो एक स्त्री, पुत्र जहाँ छोड़ा और दुकान छोड़ी, वस्त्र छोड़े, वहाँ हो गये साधु। आहाहा! प्रभु! मार्ग अलग है, भाई! इस स्थिति में दु:ख होगा, यह मार्ग की पद्धति नहीं है, यह मार्ग का प्रकार नहीं है, यह मार्ग का स्वरूप ऐसा नहीं है। आहाहा! मार्ग का यह स्वरूप है (कि) अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, उसमें बस जा, विश्राम ले। आहाहा!

जैसे थका हुआ मनुष्य घर में आकर फिर निश्चिन्तता से थकान उतारता है; उसी प्रकार पुण्य और पाप की-संसार की थकान उतारकर अन्तर के घर में जा, वहाँ विश्राम

कर, तेरी थकान उतर जाएगी। संसार के थकान का दु:ख निकल जाएगा। आहाहा! क्या आचार्य ने शब्द रखा है! मुनि ने-पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं।

सुधा के सागर को उछालने में पूर्ण चन्द्र समान उस आत्मा को मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! मुनिराज कहते हैं कि उस आत्मा को मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! अमृत का समुद्र भरा है, भगवान! उसमें शुभाशुभभावरूपी जहर का अंश नहीं है। वह जहर है, अमृत से विरुद्ध है। आहाहा! ऐसे अमृत के सागर को उछालने में जिसने स्वरूप में स्थिरता की है, वह चन्द्रमा के समान है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसी कथा! एकेन्द्रिय के जीव की दया पालना, अमुक यह करना, अमुक यह करना - परन्तु बापू! कौन पालन कर सकता है? पर की दया पालता कौन है? परपदार्थ को स्पर्श नहीं कर सकता, फिर पालता कौन है? परद्रव्य को छू नहीं सकता, स्पर्श नहीं कर सकता। स्पर्श नहीं कर सकता तो दया कौन पाले? शान्तिभाई! आहाहा! दया पालो... दया पालो... दया पालो... परन्तु किसकी दया करना? दया तो यह। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भरा है। उसे स्वरूप में स्थिरता द्वारा उछालना—बाहर लाना, इसका नाम आत्मदया है। इसका नाम अहिंसा है। आहाहा! राग की क्रिया, वह स्वरूप की हिंसा है। आहाहा! महाव्रत के परिणाम भी हिंसा है। अरे रे! कैसे जँचे? कभी सुना न हो, निवृत्ति नहीं मिले। अन्तिम लाईन।

समरसरूपी सुधा के सागर को... ऐसा है न? समतारूपी अमृत का सागर, भगवान यह आत्मा। समतारूपी अमृत का सागर, आहाहा! समरसरूपी, वीतरागरूपी अमृत का सागर। वीतरागी अमृत का सागर भरा हुआ है। भगवान तो वीतरागी अमृत का सागर भरा हुआ है, उसे उछालने में... आहाहा! इस भरे हुए को बाहर में उछालने में, पर्याय में लाने में.. आहाहा! **पूर्ण चन्द्र समान...** है। स्वरूप में स्थिरतारूपी चारित्र... आहाहा! यह तो महा अमृत को उछालने में चन्द्र समान है। **उस आत्मा को...** ऐसे आत्मा को। ऐसे आत्मा को, मुनिराज स्वयं कहते हैं **मैं वन्दन करता हूँ।** उसे मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! स्वयं भी मुनि है। सच्चे मुनि हैं। अमृत का सागर उछाला है परन्तु जिसने उछाला है, उन्हें भी मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा! वह मेरी बिरादरी का, वह मेरी जाति का है। आहाहा! कहो, ऐसे शब्द वहाँ कभी सुने थे। आहाहा!

चारित्र किसे कहना ? कि वीतरागी अमृत के सागर को उछालने में जो स्थिरता चन्द्र समान है, उसे चारित्र कहना । आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा आया न ? **समरसरूपी सुधा के...** वीतरागस्वरूपी भगवान है । आत्मा तो वीतरागीस्वरूप है । वीतराग शक्तिस्वभाव जिसका वीतराग ही है । वह प्रगट करने को—उछालने में वह अन्तर की स्थिरतारूपी चारित्र, उसे प्रगट करने में वह साधन है, दूसरा कोई साधन नहीं है । आहाहा ! यह दया पालना, व्रत करना, अपवास करना, वह साधन नहीं है । आहाहा ! दिगम्बर सन्तों की वाणी कहीं है नहीं । आहाहा ! श्वेताम्बर में ऐसी वाणी निकले नहीं । उनके बत्तीस सूत्र, भगवती (सूत्र) सत्रह बार पढ़ा है । सोलह हजार श्लोक और एक लाख (श्लोकप्रमाण) की टीका । यह बात उसमें कहीं नहीं है । आहाहा ! यह शब्द तो देखो !

वीतरागी अमृतस्वरूप वह सागर, वीतरागी अमृत का सागर प्रभु, उसे पर्याय में उछालने में, लाने में, स्वरूप में स्थिरता / वीतराग चारित्र (होने में) वह चन्द्र समान है । आहाहा ! शब्द तो शब्द हैं । गजब किया है । वहाँ चिह्न किया है । तब पढ़ते हुए । यह ऊपर इसके लिए चिह्न किया है । कितना समाहित किया है इसमें ? समरसरूपी । समरस अर्थात् वीतरागरूपी । आहाहा ! वीतरागी अमृत का सागर, उसे बाहर लाने में । आहाहा ! शक्ति और स्वभाव में से पर्याय में लाने में पूर्ण चन्द्र समान, पूर्ण चन्द्र समान । पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र हो और जैसे समुद्र उछलता है । आहाहा ! एक लाईन में चाहे जितना कहो परन्तु कहीं पार पड़े ऐसा नहीं है । ऐसी एक लाईन है । आहाहा ! यह तो मुनिराज का श्लोक है । यह मूल पाठ नहीं है । यह तो मुनिराज का स्वयं का है । ओहोहो ! १५२ (गाथा) पूरी हुई ।

गाथा-१५३

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं।।१५३।।

वचनमयं प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च।
आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम्।।१५३।।

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोऽयम्। पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियाकारणं निर्यापकाचार्य–मुखोद्गतं समस्तपापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमखिलं वाग्वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यात्मकत्वान्न ग्राह्यं भवति, प्रत्याख्याननियमालोचनाश्च। पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्वं स्वाध्यायमिति रे शिष्यं त्वं जानीहि इति।

रे वचनमय प्रतिक्रमण, वाचिक नियम, प्रत्याख्यान ये।
आलोचना वाचिक सभी को जान तू स्वाध्याय रे॥१५३॥

अन्वयार्थ : [वचनमयं प्रतिक्रमणं] वचनमय प्रतिक्रमण, [वचनमयं प्रत्याख्यानं] वचनमय प्रत्याख्यान, [नियमः] (वचनमय) नियम [च] और [वचनमयम् आलोचनं] वचनमय आलोचना—[तत् सर्वं] यह सब [स्वाध्यायम्] (प्रशस्त अध्यवसायरूप) स्वाध्याय [जानीहि] जान।

टीका : यह, समस्त वचनसम्बन्धी व्यापार का निरास (निराकरण, खण्डन) है।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणक्रिया का कारण, ऐसा जो निर्यापक आचार्य के मुख से निकला हुआ, समस्त पापक्षय के हेतुभूत, सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत, वह वचनवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्यात्मक होने से ग्राह्य नहीं है। प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना भी (पुद्गलद्रव्यात्मक होने से) ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं। वह सब पौद्गलिक वचनमय होने से स्वाध्याय है, ऐसा हे शिष्य! तू जान।

गाथा - १५३ पर प्रवचन

गाथा १५३। १५२ हुई।

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं।।१५३।।

रे वचनमय प्रतिक्रमण, वाचिक नियम, प्रत्याख्यान ये।
आलोचना वाचिक सभी को जान तू स्वाध्याय रे॥१५३॥

आहाहा! व्यवहार स्वाध्याय शुभभाव है। आहाहा! उसमें धर्म नहीं है। उसमें प्रभु का अमृत सागर उछाले, ऐसी ताकत उसमें नहीं है। ऐसी सज्झाय में... आहाहा! **यह, समस्त वचनसम्बन्धी व्यापार का निरास (निराकरण, खण्डन) है।** है न? आहाहा!

रे वचनमय प्रतिक्रमण, वाचिक नियम, प्रत्याख्यान ये।
आलोचना वाचिक सभी को जान तू स्वाध्याय रे॥१५३॥

स्वाध्याय का अर्थ शुभभाव। स्व-अध्याय नहीं। आहाहा! **यह, समस्त वचन - सम्बन्धी व्यापार का निरास (निराकरण, खण्डन) है। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणक्रिया का कारण ऐसा जो निर्यापक आचार्य के मुख से निकला हुआ,...** बनाया हुआ। आहाहा! **समस्त पापक्षय के हेतुभूत,...** शुभभाव है न? शुभभाव से पाप का क्षय का कारण है, धर्म नहीं। आहाहा! यह स्वाध्याय शुभभाव का-पाप का-अशुभ का क्षय का कारण है। वह भी यहाँ तो क्षय का हेतुभूत कहा है। आहाहा! निश्चयसहित है न? निश्चय के आनन्द के अनुभव की भूमिका में जो वचनमय ऐसी दशा हो, वह पाप के क्षयभूत है। अकेले सम्यग्दर्शन बिना, अकेले आत्मा के अनुभव बिना की बात नहीं है। आहाहा! आत्मा की अनुभूति, अनुभव, आनन्द के स्वादसहित ऐसा जो शुभभाव होता है... आहाहा! पाप के क्षय के हेतुभूत उसे कहा है। पुण्य और पाप दोनों का क्षय नहीं। आहाहा! है?

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणक्रिया का कारण ऐसा जो निर्यापक आचार्य... सन्त, सच्चे मुनि, उन्होंने **आचार्य के मुख से निकला हुआ,...** बनाया हुआ, वह **समस्त पापक्षय के हेतुभूत,...** है? वह प्रतिक्रमण शब्दों से है, उसमें विकल्प है। उस शुभविकल्प से पाप का क्षय है। निश्चय हो उसे। जिसे निश्चय नहीं, उसे तो पाप का क्षय (हेतु नहीं है), वह

तो पापबन्धन है। आहाहा! जिसे आत्मा का भान और अनुभव है, उसे यह पापक्षय का हेतुभूत निमित्त है। आहाहा!

सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत वह वचनवर्गणायोग्य... आहाहा! कहते हुए जरा भी दुनिया की दरकार नहीं है कि यह मैं जो बाहर प्रसिद्ध करता हूँ तो मुनिरूप से कोई निन्दा करेगा कि यह क्या ऐसी लगा रखी है? बापू! प्रभु का मार्ग यह है, भाई! आहाहा! आत्मा की दृष्टि के अनुभवसहित ऐसा जो भाव है, वह पाप के क्षयभूत है। पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म नहीं। आहाहा! **सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत...** आहाहा! सब द्रव्यश्रुत। आहाहा! ग्यारह अंग और समस्त द्रव्यश्रुत भरा हो। भले कहते हैं हो। **द्रव्यश्रुत वह वचनवर्गणायोग्य पुद्गल-द्रव्यात्मक होने से ग्राह्य नहीं है।** वह द्रव्यश्रुत ग्राह्य नहीं है। आहाहा! अन्दर जो भाव हो, वह शुभ है और यह वचनवर्गणा योग्य जो है, वह तो ग्राह्य है ही नहीं। आहाहा! वह तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। द्रव्यश्रुत तो पुद्गल की पर्याय है। आहाहा!

द्रव्यश्रुत वह वचनवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्यात्मक होने से ग्राह्य नहीं है। आहाहा! एक ओर ऐसा कहे कि शास्त्र का अभ्यास करना, आगम अभ्यास करना। यह बिल्कुल ठोठ विद्यार्थी हो, उसे कहा है। परन्तु जिसे कहते हैं कि आत्मज्ञान हुआ है, उसे ऐसी वचनवर्गणा द्रव्यश्रुत... आहाहा! ग्राह्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। **द्रव्यश्रुत वह वचनवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्यात्मक होने से ग्राह्य नहीं है।** आहाहा! पहले जो पाप के हेतुभूत कहा था, वह तो भाव, वह तो शुभभाव; और यह द्रव्यश्रुत है, वह तो ग्राह्य ही नहीं। आहाहा! क्या कहा? पहले द्रव्यश्रुत जब ग्राह्य नहीं कहा, वह कहीं पाप के क्षय हेतुभूत नहीं है। आहाहा! अन्दर में समकित सहित, आत्मज्ञानसहित शुभभाव हुआ, उसे शुभभाव पाप के क्षयभूत है और वचनवर्गणायोग्य द्रव्यश्रुत, वह तो ग्राह्य नहीं। आहाहा! तीन प्रकार हुए। द्रव्यश्रुत की वचनावर्गणा शब्द है, वह ग्राह्य नहीं; उसमें जरा भाव शुभ हो, वह पाप के क्षयभूत है और वह किसे? कि जिसे पाप और शब्दवर्गणा से भिन्न आत्मा का अनुभव है उसे। आहाहा! ऐसी बात! ५०-५०, ६०-६० वर्ष निकाले हों। उसमें से वापस नया... आहाहा! बात नयी है, बापू! सुनने में आयी नहीं, सुनने में मिलती नहीं।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि **सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत वह वचनवर्गणायोग्य पुद्गल-द्रव्यात्मक होने से ग्राह्य नहीं है। प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना भी (पुद्गलद्रव्यात्मक**

होने से)... आहाहा! वाणी द्वारा जितना प्रतिक्रमण और आलोचना बोली जाए, वह ग्राह्य नहीं है। आहाहा! सिर घूम जाए ऐसा है। है? **प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना भी...** द्रव्यश्रुत तो कहा था। वह भी **(पुद्गलद्रव्यात्मक होने से) ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं। वह सब पौद्गलिक वचनमय होने से स्वाध्याय है...** शुभभाव है। **ऐसा हे शिष्य! तू जान।** हे शिष्य! ऐसा जान। उसे तू धर्म जान और उससे धर्म होगा, उससे संवर और निर्जरा हो जाए, ऐसा कुछ है नहीं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२६३

[अब यहाँ टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:—]

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा भव्यो वचन-रचनां सर्वदातः समस्तां,
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्यः।
नित्यानन्दाद्यतुल-महिमा-धारके स्व-स्वरूपे,
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ।।२६३।।

तथा चोक्तं ह्न

परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा।
थुदि-मंगल-संजुत्तो पंच-विहो होदि सज्झाउ।।

(वीरछन्द)

अतः मुक्तिरूपी रमणी के पुष्टस्तन आलिंगन सौख्य।
की वांछा युत भव्य सर्वदा सभी वचन रचना को छोड़॥
नित्यानन्द अतुल महिमाधारी निज में ही स्थित होते।
जगतजाल को निरालम्ब हो भविजन तृण समान लखते॥२६३॥

[श्लोकार्थः] ऐसा होने से, मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट स्तनयुगल के आलिंगन-सौख्य की स्पृहावाला भव्य जीव समस्त वचनरचना को सर्वदा छोड़कर, नित्यानन्द

आदि अतुल महिमा के धारक निजस्वरूप में स्थित रहकर, अकेला (निरालम्बरूप से) सर्व जगतजाल को (समस्त लोकसमूह को) तृण समान (तुच्छ) देखता है ॥२६३॥

इसीप्रकार (श्रीमूलाचार में पंचाचार अधिकार में २१९वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

(वीरछन्द)

पढ़े हुए को दुहरा लेना, वाचना और पृच्छना जान।
अनुप्रेक्षा अरु धर्म कथा हैं स्तुति मंगलयुत स्वाध्याय॥

[गाथार्थः] परिवर्तन (पढ़े हुए को दुहरा लेना वह), वाचना (शास्त्र-व्याख्यान), पृच्छना (शास्त्र श्रवण), अनुप्रेक्षा (अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षा) और धर्मकथा (६३ शलाकापुरुषों के चारित्र)—ऐसे पाँच प्रकार का, *स्तुति तथा मंगल सहित, स्वाध्याय है।

प्रवचन-१७८, श्लोक-२६३, गाथा-१५४, शुक्रवार, ज्येष्ठ कृष्ण १४, दिनांक ११-०७-१९८०

नियमसार २६३ कलश है।

मुक्त्वा भव्यो वचन-रचनां सर्वदातः समस्तां,
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्यः।
नित्यानन्दाद्यतुल-महिमा-धारके स्व-स्वरूपे,
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श।।२६३।।

.... प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में भी वचन रचना को छोड़कर, उस ओर के विकल्प को भी छोड़कर, आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करना, उसकी दृष्टि करके उसका अनुभव करना, तब उसे धर्म की शुरुआत होती है। आहाहा! ऐसा है। पंचम भाव वह पारिणामिकभाव, ध्रुवभाव, अचल, अनादि-अनन्त नित्यानन्द सत्ता जो है, उसे अनुभव करना, उस ओर दृष्टि करके वेदन करना, इसका नाम धर्म है।

---

* स्तुति=देव और मुनि को वन्दन। (धर्मकथा, स्तुति और मंगल मिलकर स्वाध्याय का पाँचवाँ प्रकार माना जाता है।)

इसलिए यहाँ कहते हैं कि **ऐसा होने से,...** अर्थात् कि वचन और वचन के विकल्प भी छोड़े होने से **मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट स्तनयुगल...** केवलज्ञानरूपी पुष्ट केवलज्ञान और केवलदर्शन पुष्ट। आहाहा! केवलज्ञान और केवलदर्शन यह पुष्ट है। **स्त्री के पुष्ट स्तनयुगल के आलिंगन-सौख्य की स्पृहावाला...** जिसे केवलज्ञान और केवलदर्शन की स्पृहा है, उसे स्पर्श करने का जिसे भाव है... आहाहा! उसे यहाँ समकिती कहा गया है। जिसका ध्यान वस्तु के ऊपर है, और जिसके परिणाम में केवलज्ञान की स्पृहा है। दूसरी किसी चीज़ की इच्छा नहीं है। आहाहा! ध्यान में ध्येय लेना, ध्यान में ध्येय लेना और साध्य में केवलज्ञान लेना। पूर्ण स्वरूप, ऐसा कहते हैं।

पूर्ण **मुक्तिरूपी स्त्री के पुष्ट...** पुष्ट स्वभाव उसका। उसके **आलिंगन-सौख्य की स्पृहावाला...** आहाहा! जिसे केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्त आनन्द चाहिए, ऐसी ही जिसे अन्तर में स्पृहा है। किसी प्रकार का विकल्प, दूसरे प्रकार का लेना-देना कुछ है नहीं। ऐसी जिसे अन्दर स्पृहा है। वह **भव्य जीव...** वह भव्य जीव। वह योग्य जीव है। आहाहा! **समस्त वचनरचना को सर्वदा छोड़कर,...** समस्त वचनरचना को (अर्थात्) द्रव्य शास्त्र और द्रव्य प्रतिक्रमण के शब्द, उनको सर्वदा छोड़कर। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! अकेला भगवान अन्दर विराजमान है। पूर्णानन्द और पूर्ण शान्ति का सागर, जिसमें विकल्प का अवकाश नहीं, जिसमें भेद का अवसर नहीं, ऐसा जो अभेद स्वभाव, उसकी पुष्टि केवलज्ञान और केवलदर्शन... आहाहा!

ऐसी **स्पृहावाला भव्य जीव समस्त वचनरचना को सर्वदा छोड़कर, नित्यानन्द आदि अतुल महिमा के धारक...** आहाहा! प्रभु कैसा है ? नित्यानन्द है। नित्य आनन्द है। अतीन्द्रिय अतीन्द्रिय आनन्द, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द से नित्य भरा हुआ है। आहाहा! ऐसे **नित्यानन्द आदि...** आदि अर्थात् नित्यानन्द, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त प्रभुता, अनन्त निर्विकल्पता। **आदि अतुल महिमा के धारक...** जिसकी कोई तुलना नहीं। जिसकी कोई महिमा नहीं, जिसे किसी की-बाहर की महिमा और माहात्म्य नहीं।

अतुल महिमा के धारक निजस्वरूप में स्थित रहकर,... निजस्वरूप में स्थित रहकर। आहाहा! **अकेला (निरालम्बरूप से)...** स्वरूप चैतन्यमूर्ति नित्य है। अनादि-

अनन्त सत् सत्ता जिसकी है, उसके अवलम्बन द्वारा और दूसरे बिल्कुल निरालम्बन द्वारा। दूसरा कोई आलम्बन नहीं है। आहाहा! उस द्वारा **सर्व जगतजाल को...** आहाहा! मान, सम्मान, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, महत्ता, महिमा, जगत की पदवी। अनेक प्रकार का जगत, सर्व जगत। सब **जगतजाल को...** ओहोहो! **(समस्त लोकसमूह को) तृण समान (तुच्छ) देखता है।** भगवान आत्मा को नित्यानन्द देखता है। इसके अतिरिक्त पूरी दुनिया को तृण समान देखता है। आहाहा!

प्रभु को अनादि शाश्वत नित्यानन्द और अनादि-अनन्त सत्तावाला देखता है, इसके अतिरिक्त सब चीज-विकल्प से लेकर समस्त जगत जाल, उसे छोड़कर **तृण समान (तुच्छ) देखता है।** आहाहा! चक्रवर्ती का राज और इन्द्र के इन्द्रासनों को धर्मी तृण समान जानता है। आहाहा! जैसे तिनके की कीमत नहीं, वैसे ही इन्द्रजाल और चक्रवर्ती के पद की भी आत्मा के समकित के ध्येय ऐसे आत्मा की कीमत के समक्ष तृण समान है। आहाहा! आज तो एकदम दो भाग किये, जिसे नित्यानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्य की जिसे अवलम्बन की दशा प्रगट हुई है, वह अपने अतिरिक्त विकल्प से लेकर समस्त जग जाल को तृण समान जानता है। बड़ी पदवी मिले तो भी तृण समान जानता है। आहाहा! तीर्थंकर की पदवी भी समकिती तृण समान जानता है। पदवी अर्थात् क्या? वह तो जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधा, उस भाव का नाश हो, तब उस प्रकृति का उदय आता है। उसकी कीमत क्या? आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधा, उस भाव का नाश होवे तब केवली को तीर्थंकर प्रकृति का उदय आता है। आहाहा!

यहाँ तो **सर्व जगतजाल...** आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त कोई कीमती, विस्मय, अधिक, आश्चर्यकारी जगत में कोई चीज़ है ही नहीं। आहाहा! ऐसा अन्तर में जानकर **(समस्त लोकसमूह को) तृण समान (तुच्छ) देखता है।** आहाहा! समस्त जगत। इन्द्र के इन्द्रासन भी तृण समान देखता है। जहाँ चैतन्यरत्न हाथ आया... आहाहा! उसमें अनन्त गुण भरे हैं, जिसमें अनन्त गुण की राशि का पिण्ड है, जिसके गुण की संख्या का जहाँ पार नहीं, ऐसा प्रभु जिसे दृष्टि में अन्दर आया, कहते हैं कि उसे सब तृण समान है। इसके अतिरिक्त कोई चीज़... आहाहा! अरबों रुपये पैदा हो और चक्रवर्ती का पद मिले और इन्द्रासन मिले, महीने में पाँच-पच्चीस हजार के वेतन की पदवी मिले (तो भी) उसे तृण

समान जानता है। आहाहा! कहाँ भगवान और कहाँ यह! कहाँ प्रभु और कहाँ यह? कहाँ हीरा और कहाँ पत्थर! चैतन्य हीरा। अनन्त-अनन्त गुण से चैतन्य चमत्कार से भरपूर, जिसे एक क्षण में तीन काल-तीन लोक मेरेरूप से मानना नहीं परन्तु जाननेरूप से वह व्यवहार है। आहाहा! अपना स्वभाव ही जानता है, वह तो। ऐसे जीव को पूरा जगत तृण समान लगता है। आहाहा! ऐसा मार्ग! यहाँ तो एक जरा कुछ अनुकूल ऐसा हो, कपड़े अच्छे पहने, गहने अच्छे पहने या लड़के के विवाह का प्रसंग हो, आहाहा! वहाँ उत्साह और हर्ष (हो जाता है)। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, पूरी दुनिया... ओहोहो!

मुमुक्षु : मुनि के पास दुनिया थी ही कहाँ, वह छोड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर है न? यहाँ तो बाहर है न! बाहर है, उसका लक्ष्य छोड़ना। वस्तु तो छूटी हुई ही है, वस्तु कहीं आत्मा में है नहीं। आहाहा! उसे तृण समान देखता है, ऐसा कहा। उसे कुछ मानता नहीं। उसे तृण समान देखता है। आहाहा! वस्तु के स्वभाव के समक्ष-चैतन्य के स्वभाव के समक्ष पूरे जगत को तृण समान देखता है। मेरेरूप से तो नहीं परन्तु तृण समान जानता है। आहाहा!

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का यह कलश है। आहाहा!

इसीप्रकार (श्रीमूलाचार में पंचाचार अधिकार में २१९वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:— कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं।

परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा।
थुदि-मंगल-संजुत्तो पंच-विहो होदि सज्झाउ॥

गाथार्थ : आहाहा! कहते हैं कि **परिवर्तन (पढ़े हुए को दुहरा लेना वह),...** यह विकल्प-राग है। आहाहा! **वाचना (शास्त्र-व्याख्यान),...** करना वह राग। आहाहा! वह धर्म नहीं, धर्म का कारण नहीं। **पृच्छना (शास्त्र श्रवण),...** शास्त्र श्रवण, पूछना आदि। आहाहा! वह भी विकल्प है। वह भी एक राग का जाल है। आहाहा! प्रभु जहाँ चैतन्यमूर्ति निष्क्रिय—राग की क्रियारहित ऐसा निर्मलानन्द प्रभु, उसके समक्ष यह शास्त्र का वांचन आदि भी कहते हैं कि विकल्प और तुच्छ है। आहाहा! इसकी महिमा करने योग्य नहीं है। आहाहा!

अनुप्रेक्षा (अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षा)... बारह अनुप्रेक्षा विचार। आहाहा! यह सब शुभभाव स्वाध्याय है। यह कोई आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति का साधन भी यह नहीं है। आहाहा! स्वरूप अन्दर चिदानन्द आत्मा का साधन यह नहीं है। आहाहा! यहाँ तो अनुप्रेक्षा, ये चार बोल हुए। अब धर्मकथा जो पाँचवाँ बोल है। **धर्मकथा...** उसके साथ **(६३ शलाकापुरुषों के चारित्र)...** का वर्णन। उसमें साथ ही स्तुति और मंगल। साथ ही स्तुति और मंगल भी मिलाना। इस धर्मकथा के साथ में। ऐसा होकर पाँच प्रकार हुए। यह स्वाध्याय के पाँच प्रकार। आहाहा!

धर्मकथा... और भगवान की स्तुति, देव और मुनि को वन्दन। धर्मकथा, स्तुति और मंगल होकर स्वाध्याय का पाँचवाँ प्रकार है। यह स्वाध्याय का पाँचवाँ भेद है। आहाहा! यह स्वाध्याय एक विकल्प है, कहते हैं। आहाहा! निर्विकल्प चैतन्य भगवान में जिसका स्पर्श भी नहीं है। आहाहा! स्तुति और स्तवन, मांगलिक स्वाध्याय में डाला है। वह नहीं, वह शुभ है। आहाहा! लोगों को कठिन बातें (लगती है)। **धर्मकथा...** यह स्वाध्याय का पाँचवाँ बोल है। इसके साथ भगवान की, तीर्थंकर की, मुनि की स्तुति और उसका मांगलिक वह धर्मकथा में साथ में डालकर यह पाँचवीं स्वाध्याय है। ये पाँचों स्वाध्याय है। कहा न? **परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, ऐसे पाँच प्रकार का, स्तुति तथा मंगल...** ये तीन होकर एक। ऐसा होकर पाँच स्वाध्याय है। आहाहा! स्वाध्याय है अर्थात्? स्व-अध्याय है, ऐसा नहीं। यह सज्झाय है। यह गाथा में पहले आ गया है। यह सज्झाय है, विकल्प है, एक राग है। आहाहा! प्रभु तो इस स्तुति और रागरहित है। इसमें स्तुति और मांगलिक का विकल्प भी नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वाध्याय को तो परम तप कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वाध्याय आत्मा का। स्व-अध्याय... अपने आनन्द का अनुभव, निर्विकल्प शान्ति और आनन्द का अनुभव, वह उत्तम मांगलिक है। आहाहा! वह तप है। तप की व्याख्या की थी।

अन्तर में आनन्दस्वरूप का परितपन, शान्ति की वृद्धि, आनन्द की वृद्धि, शुद्धि की वृद्धि, उसे यहाँ तपस्या कहा जाता है। आहाहा! यह अपवास आदि को तपस्या, वह तो लंघन है। वह बाहर के निमित्त हैं। आहाहा! कठिन बात है, भाई! धर्म और संसार दोनों

एकदम उल्टे। आहाहा! कहाँ भगवान आत्मा। यहाँ कहते हैं कि यह पाँच प्रकार की स्तुति भी नहीं। आहाहा!

अब इसमें वाद-विवाद किसके साथ करना? यह आगे कहेंगे। ऐसे प्रकार हैं तो किसके साथ तू वाद-विवाद करेगा? एक ओर अकेला भगवान ही है तथा दूसरी ओर सब विकल्प के जाल से लेकर यह जगत है। आहाहा! उसमें सूक्ष्म विकल्प से भी वांचन और उससे भी कुछ धर्म हो... आहाहा! आ गया न? वाचना आ गया न? वाचना में से यह दुहराने में से, यह शास्त्र श्रवण करने से, प्रश्न पूछने से... आहाहा! बारह प्रकार की अनुप्रेक्षा का विचार करने से और धर्मकथा तथा स्तुति और मंगल अर्थात् ये तीन होकर एक तथा वे चार, ये पाँच स्वाध्याय हैं। यह आत्मा की दशा नहीं। आहाहा!

एक ओर कहते हैं कि आगम का अभ्यास करना। वह स्वलक्ष्यी। वहाँ स्वलक्ष्य का देखना। यहाँ कहते हैं परन्तु यदि लक्ष्य नहीं तो वह अभ्यास राग है, विकल्प है। अन्तर आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, अनन्त गुण से भरपूर निर्विकल्प चीज़ के समक्ष विकल्प से लेकर पूरा जगत तृण समान है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी स्वरूप के समक्ष तृण समान है। आहाहा! अब ऐसा जँचना।

गाथा-१५४

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्ति-विहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।।१५४।।

यदि शक्यते कर्तुं अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम्।
शक्ति-विहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम्।।१५४।।

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम्। मुक्तिसुन्दरीप्रथम-दर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याख्यानप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्याः संहननशक्तिप्रादुर्भावे सति हंहो मुनिशार्दूल परमागममकरन्दनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभसहजवैराग्य-प्रासादशिखरशिखामणे परद्रव्यपराङ्मुखस्वद्रव्यनिष्णातबुद्धे पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्र-मात्रपरिग्रह। शक्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति।

जो कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक कीजिये।
यदि शक्ति हो नहिं तो अरे श्रद्धान निश्चय कीजिये॥१५४॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [कर्तुम् शक्यते] किया जा सके तो [अहो] अहो! [ध्यानमयम्] ध्यानमय [प्रतिक्रमणादिकं] प्रतिक्रमणादि [करोषि] कर; [यदि] यदि [शक्तिविहीनः] तू शक्तिविहीन हो तो [यावत्] तब तक [श्रद्धानं च एव] श्रद्धान ही [कर्तव्यम्] कर्तव्य है।

टीका : यहाँ शुद्धनिश्चयधर्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि ही करनेयोग्य हैं, ऐसा कहा है।

सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि, परद्रव्य से पराङ्मुख और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले, पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र परिग्रह के धारी,

परमागमरूपी [1]मकरन्द झरते मुखकमल से शोभायमान हे मुनिशार्दूल! (अथवा परमागमरूपी मकरन्द झरते मुखवाले हे पद्मप्रभ मुनि शार्दूल!) संहनन और शक्ति का [2]प्रादुर्भाव हो तो मुक्तिसुन्दरी के प्रथम दर्शन की भेंटस्वरूप निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रायश्चित्त, निश्चयप्रत्याख्यान आदि शुद्धनिश्चयक्रियाएँ ही कर्तव्य है। यदि इस दग्धकालरूप (हीनकालरूप) अकाल में तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्तव्य है।

गाथा - १५४ पर प्रवचन

अब गाथा १५४। बहुत कठिन बात की। बहुत सूक्ष्म बात और सूक्ष्म कही, इसलिए अब कहते हैं।

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्ति-विहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।।१५४।।

जो कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक कीजिये।
यदि शक्ति हो नहिं तो अरे श्रद्धान निश्चय कीजिये॥१५४॥

आहाहा! क्या कहते हैं?

टीका : यहाँ शुद्धनिश्चयधर्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि ही करनेयोग्य हैं, ऐसा कहा है। शुद्धनिश्चयस्वरूप, आनन्दस्वरूप में लीनता, वह प्रतिक्रमण, वह प्रत्याख्यान, जो कहो वह। वह यहाँ कहा है। है? **यहाँ शुद्धनिश्चयधर्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि...** बाहर की सब दशाएँ। वह सब करनेयोग्य है, ऐसा कहा है। शुद्धनिश्चय धर्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमण करनेयोग्य है, व्यवहार नहीं। आहाहा! अब ऐसा धर्म। सम्प्रदाय में ऐसा सुना था कभी कानजीभाई? दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, अपवास करो, प्रौषध करो। आहाहा! तो धर्म है, जाओ। आहाहा! परन्तु प्रभु एक ओर पूरा पड़ा रहा न! तीन लोक का नाथ अनन्त सत्ता का धनी, जिसके एक समय के ज्ञान में अनन्त गुण की एक गुण की एक पर्याय में तीन काल-तीन लोक, उसके सन्मुख देखने से ज्ञात हो, ऐसा भी नहीं; अपने में

१. मकरन्द=पुष्प-रस, पुष्प-पराग। २. प्रादुर्भाव=उत्पन्न होना वह; प्राकट्य; उत्पत्ति।

ज्ञात हो जाते हैं। आहाहा! ऐसी जो चैतन्यसत्ता, उसकी श्रद्धा और अनुभव बिना पूरा जगत तृण समान है। आहाहा!

सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि,... मुनिराज की मुख्य बात की है। स्वाभाविक वैराग्य। आत्मा में आनन्द के अतिरिक्त, वैराग्य अर्थात् पुण्य-पाप से भी जहाँ विरक्त है। पुण्य-पाप से विरक्त, इसका नाम वैराग्य। पूरी दुनिया तो बाहर रह गयी और अन्दर पुण्य-पाप के दो भाव से वैराग्य-विरक्त। उनसे विरक्त तो वैराग्य। आहाहा! ऐसा स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल, उसका शिखर-टोंच, उसका शिखामणि। आहाहा! टोंच का शिखामणि। आहाहा!

वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि, परद्रव्य से पराङ्मुख... आहाहा! **और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले,...** आहाहा! परद्रव्य से पराङ्मुख। तीन लोक का नाथ ऐसा कहते हैं कि मुझसे भी पराङ्मुख। आहाहा! मैं परद्रव्य हूँ। तेरा लक्ष्य हमारे प्रति जाएगा तो तुझे राग होगा। तेरे स्वरूप में से हट जाएगा। आहाहा! ऐसी चीज़ है। सम्प्रदाय में तो कभी सुनी भी नहीं थी और यहाँ आयी तो कठिन लगता है। वह बाहर का यह करना... यह करना... यह करना... वांचना, विचारना, अमुक, यह सब विकल्प है। अकेला चिदानन्द नाथ, अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द और शान्ति का दल ध्रुव भगवान आत्मा के समक्ष विकल्प से लेकर पूरी दुनिया तृण समान है। आहाहा!

सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि, परद्रव्य से पराङ्मुख... है। आहाहा! वैराग्य उसे कहते हैं, स्वाभाविक वैराग्य उसे कहते हैं कि जो परद्रव्य से पराङ्मुख है, विकल्प से भी पराङ्मुख है, उसे वैराग्य कहते हैं। आहाहा! स्त्री, पुत्र छोड़े और दुकान छोड़ी और पैसे छोड़े, साधु हुआ, इसलिए वैराग्य है - ऐसा नहीं है। वह वैराग्य नहीं है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव से वैराग्य अर्थात् विरक्ति, ऐसा जो **सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के...** टोंच, आहाहा! जिसमें परद्रव्य की गन्ध नहीं होती। आहाहा! **परद्रव्य से पराङ्मुख...** परमेश्वर के पाँच पद, उनसे भी पराङ्मुख है। आहाहा! बात सुनना कठिन पड़ती है।

भगवान निज प्रभु, अनन्त आनन्द का धाम। 'स्वयं ज्योति सुखधाम'। श्रीमद् में आता है। 'स्वयं ज्योति सुखधाम' आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, जिसे पर से वैराग्य

है और स्वसन्मुख की जिसे लीनता है, स्वसन्मुख की जिसे धगश है और परसन्मुख से जिसे पूर्ण वैराग्य है। वह परद्रव्य से पराङ्मुख **और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले,...** आहाहा! यह नियमसार आचार्य ने स्वयं के लिये बनाया है। अकेला तत्त्व-मक्खन! आहाहा! विकल्प का भी जिसे अवकाश नहीं। मैं एक ज्ञायक हूँ, ऐसे विकल्प को भी जहाँ अवकाश नहीं, तो उसके बदले यह द्रव्य है, यह गुण है और यह पर्याय है, इन तीन भेद का वहाँ अवकाश ही नहीं है। आहाहा!

ऐसा **परद्रव्य से पराङ्मुख और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले,...** परद्रव्य से पराङ्मुख-वैराग्य। स्वद्रव्य में लीनता, स्वद्रव्य में निष्णात। अपने आनन्द आदि गुण में निष्णात। पूर्ण जानपनेवाला निष्णात है। लोग नहीं कहते? कि यह मनुष्य इसमें निष्णात है। ऐसे आत्मा में निष्णात है। आहाहा! स्वद्रव्य में निष्णात, परद्रव्य से पराङ्मुख। अस्ति-नास्ति की है। आहाहा! यहाँ एक सामायिक करे, प्रौषध करे। समकितरहित भान (हो नहीं)। हो गया धर्म। आहाहा! प्रभु! ऐसा मनुष्यभव (मिला) उसमें यह धर्म मिला। यह यदि नहीं किया और सुनने में भी मिला नहीं और उसमें इसे जँचा नहीं... आहाहा! तब तो भव का अभाव करने का कुछ हुआ नहीं। आहाहा! करना यह है।

परद्रव्य, सर्व परद्रव्य, विकल्प से लेकर शब्द, द्रव्यश्रुत, भगवान सबसे पराङ्मुख; एक स्वद्रव्य के सन्मुख। परद्रव्य से पराङ्मुख, स्वद्रव्य से सन्मुख। आहाहा! निष्णात बुद्धिवाले। **पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित...** मुनि की बात है न? मुनि की बात करते हैं। पाँच इन्द्रियों को गोपन कर दी है। **देहमात्र परिग्रह के धारी,...** मुनि उसे कहते हैं कि जिसे एक शरीरमात्र है। आहाहा! उसमें ऐसा कहे, वह तो दिगम्बर मानते हैं। हमारे श्वेताम्बर में दूसरा माना जाता है। ऐसा कहते हैं। वस्तुस्थिति यह है, भाई। पूरी दुनिया से पराङ्मुख और स्वसन्मुख ऐसे मुनि को परिग्रह कहाँ से होगा। आहाहा!

पाँच इन्द्रियों के विस्तार... अर्थात् विस्तार। पाँच इन्द्रियों के विकल्पों के विस्तार से **रहित देहमात्र परिग्रह के धारी,....** मुनि तो एक देहमात्र परिग्रह है। वह शरीरमात्र है। **परमागमरूपी मकरन्द झरते मुखकमल से...** आहाहा! परमागमरूपी पुष्परस। जैसे फूल का रस, वैसे रस झरते मुखकमल से **शोभायमान...** लो! देखा! पहले कहा कि मैं सब चीज़ों से विमुख हूँ। यहाँ मात्र वाणी उसके मुखकमल में से निकलती है, कहते हैं।

आहाहा! **परमागमरूपी मकरन्द झरते मुखकमल से...** परमागम का रस झरता है। आहाहा! जैसे प्रभु में से आनन्द झरता है, वैसे सच्चे मुनि में से सच्चा मकरन्द-वाणी, जैसे फूल का रस होता है, वैसे वस्तु का सार-रस-मक्खन झरता है। आहाहा! फूल में सुगन्ध होती है न? वैसे सुगन्ध जिसके मुख में से झरती है। उससे जिनका शोभायमान मुख है। आहाहा!

ऐसे **हे मुनिशार्दूल!** स्वयं को कहते हैं। हे मुनिशार्दूल! आहाहा! **(परमागमरूपी मकरन्द झरते मुखवाले हे पद्मप्रभ मुनि शार्दूल!)** स्वयं स्वयं को कहते हैं। आहाहा! **संहनन और शक्ति का प्रादुर्भाव हो...** संहनन मजबूत हो, शक्ति का सहारा सब अनुकूल हो। '**प्रादुर्भाव=उत्पन्न होना वह; प्राकट्य; उत्पत्ति।' तो मुक्तिसुन्दरी के प्रथम दर्शन की...** आहाहा! मुक्तिरूपी सुन्दरी के प्रथम दर्शन की **भेंटस्वरूप निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रायश्चित्त, निश्चयप्रत्याख्यान...** यह भेंट और प्रसन्न (करने का), मिलने का साधन है। आहाहा! भाषा ही किस प्रकार की है। बहियों में ऐसी नहीं होगी, सुनने में नहीं आयी हो। आहाहा!

कहते हैं कि **परमागमरूपी मकरन्द झरते...** आहाहा! अकेला आत्मरस झरता है, कहते हैं। उनकी वाणी में आत्मा की सन्मुखता की ही बात करते हैं, ऐसा कहते हैं। मुनि उसे कहते हैं कि जिन्हें आत्मा की सन्मुखता की वीतरागता ही झरती है। पर से विमुखता, स्व से सन्मुखता। आहाहा! ऐसे **परमागमरूपी...** परम आगमरूपी परन्तु, हों! अकेला आगम नहीं कहा। परमागम। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ ने कहा हुआ। वह वाणी। आहाहा! बाद में कोई कल्पित बनाकर भगवान का नाम दिया हो (और कहे) यह भगवान की वाणी है। वह वाणी नहीं। आहाहा!

(परमागमरूपी मकरन्द झरते मुखवाले हे पद्मप्रभ मुनि शार्दूल!) आहाहा! **संहनन...** इसकी व्याख्या की। ऊपर इसका अर्थ किया है, देखो! मुनि शार्दूल स्वयं। **संहनन और शक्ति का प्रादुर्भाव न हो...** केवलज्ञानादि प्राप्त करने की ऐसी शक्ति अन्दर में न हो... आहाहा! अरे! चारित्र भी लेने की शक्ति न हो... आहाहा! तो **निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रायश्चित्त, निश्चयप्रत्याख्यान आदि शुद्धनिश्चयक्रियाएँ ही कर्तव्य है।** कर्तव्य तो यही है। पंचम काल में भी करना तो यही है। आहाहा! दग्ध काल है तो भी करना तो यह निश्चय। **यदि इस दग्धकालरूप (हीनकालरूप) अकाल में तू शक्तिहीन हो...**

आहाहा! अन्दर में कमजोरी हो। बचाव करना नहीं कि कमजोरी में ऐसा आवे तो भी दिक्कत नहीं। ऐसा बचाव करना नहीं। आहाहा! है? आहाहा! **दग्धकालरूप (हीनकालरूप) अकाल में तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्तव्य है।** आहाहा! निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान, वह मुख्य कर्तव्य है। सब एक ओर रख दे, भले शक्ति न हो तो। चारित्र ग्रहण की शक्ति न हो... आहाहा! परन्तु भगवान परमात्मतत्त्व जो त्रिकाली आनन्द का सागर नाथ... आहाहा! ऐसा जो परमात्मतत्त्व, निज परमात्मतत्त्व, हों! भगवान भी नहीं। उस **केवल निज परमात्मतत्त्व का...** आहाहा! एक ही निज परमतत्त्व, परमात्मतत्त्व। आहाहा! उसका **श्रद्धान ही कर्तव्य है।** ऐसा मुनिराज ऐसा कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। मूल पाठ है न? **सत्ति-विहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं** श्रद्धा में... कुछ फेरफार करना नहीं। श्रद्धा में फेरफार करना नहीं। वह तो ऐसा हो, ऐसा भी हो, अमुक हो, अमुक हो। पंचम काल है। अभी व्यवहार ही मुख्य होता है - ऐसा आड़ा-टेड़ा करना नहीं, श्रद्धा मिथ्यात्व हो जाएगी। तीनों काल में सनातन सत वीतराग विकल्परहित तत्त्व है, उसकी श्रद्धा करना, वही है। आहाहा! है?

निज परमात्मतत्त्व का... शक्ति न हो तो। **श्रद्धान ही...** आहाहा! उसकी श्रद्धा तू पक्की रखना। अनुभव आनन्द का नाथ मैं हूँ, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर हूँ। मैं विकल्प और उसका कर्ता नहीं हूँ। मेरे स्वरूप में संसार नहीं है, ऐसी श्रद्धा तू पक्की रखना, कहते हैं। आहाहा! पंचम काल **दग्धकाल...** दग्धकाल भाषा ली है? आहाहा! **दग्धकालरूप (हीनकालरूप)...** दग्ध का अर्थ हीन लिया। हीनकाल, पंचम काल में अर्थात् कि **अकाल में...** इस काल में। आहाहा!

तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्तव्य है। आहाहा! स्वयं भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं और टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव भी कहते हैं। मूल पाठ में है। **जदि सक्कदि कादुं जे..** यदि समर्थ होवे तो करना। '**ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक**' निश्चय। आता है न ध्यानमय। ध्यानमय करना। ध्यान, निजानन्द ध्यान। **सत्ति-विहीणो** ध्यान की शक्तिरहित होवे **सद्दहणं चेव कायव्वं।** आहाहा! दूसरा सब अन्तर भले हो परन्तु श्रद्धा में अन्तर करना नहीं। आहाहा! श्रद्धा बराबर रखना। वस्तु तो पूर्णानन्द का नाथ स्वावलम्बन से प्रगट होती है, उसे कोई अवलम्बन नहीं है -

रागादि के अवलम्बन से और व्यवहार से... आहाहा! पर के अवलम्बन से किसी भी प्रकार से स्व का अवलम्बन हो, ऐसा तीन काल में नहीं है। इस काल में भी ऐसा मानना नहीं। आहाहा! दग्धकाल में, हीनपने में भी ऐसा मानना नहीं। आहाहा!

पूर्णानन्द का नाथ अन्दर प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर वह स्वयं अपनी पर्याय स्वभाव से ही प्रगट होगी। स्वाभाविक वस्तु स्वभाव से ही प्रगट होगी, ऐसी श्रद्धा पक्की रखना। स्वाभाविक वस्तु विभाव और निमित्त से प्रगट होगी, काल हल्का है और हल्का है इसलिए, ऐसा मानना नहीं। मानेगा तो मर जाएगा। आहाहा! कुछ बचाव करना नहीं। थोड़ा सा तो ऐसा चाहिए न, थोड़ा सा तो ऐसा चाहिए न। कुछ थोड़ी सी तो गुरु की सहायता चाहिए न? शास्त्र की थोड़ी सहायता चाहिए न? थोड़ा सा शास्त्र वांचन कुछ विशेष होवे (तो होगा)। ऐसा कुछ करना नहीं।

मुमुक्षु : थोड़ा हाथ हल्का करना, थोड़ा... हल्का करे तो समाधान हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हल्का-बल्का कुछ है नहीं। यह हल्का ही है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं और पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं। शक्ति न होवे तो तीन लोक के नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्ण आनन्द और पूर्ण शान्ति का सागर, उसे अपूर्ण, विकल्प और अशुद्ध मानना नहीं। आहाहा! शक्ति न हो तो उसे तो पूर्ण मानना। वह तो मूल पहला कर्तव्य है। इस कर्तव्य से रहित दूसरा सब कर्तव्य एक बिना के शून्य हैं। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, घीयाजी! आहाहा! प्रभु! तुझे शक्ति न हो, काल हल्का है, साधन और संहनन भी मजबूत न हो परन्तु यह तो रखना। इसमें कुछ साधन और संहनन और शरीर की कहाँ आवश्यकता है? विकल्प की भी जहाँ आवश्यकता नहीं। विकल्प तो पंचम काल में हो सकता है। आहाहा! उससे भी आत्मा हो, यह बात रहने देना। शक्तिविहीन हो तो भी यह तो मानना ही नहीं। आहाहा! ऐसा कहते हैं। अलौकिक बातें हैं। सुनने को मिलना मुश्किल पड़ती है। सम्प्रदाय में कहाँ बात है? आहाहा! बाहर की क्रिया और कुछ नग्नपना बराबर हो, बस महिमा करे, फिर प्रशंसा करे। आहाहा! परन्तु मूल वस्तु, जो मूल जो चैतन्य मूल, उसका काल पाके, तब केवलज्ञान होता है। आहाहा! ऐसा चैतन्य मूल तत्त्व है, वह महासत्ता तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाने, ऐसी शक्तिवाला तत्त्व है। ऐसी अनन्त पर्याय का धनी भगवान है एक गुण; ऐसे अनन्त गुण का तत्त्व, सत्त्व है।

उस तत्त्व को मानने में हीनता करना नहीं। वहाँ शिथिलता करना नहीं, वहाँ बहाना लाना नहीं। कुछ बहाना, यह चाहिए, ऐसा चाहिए, थोड़ा सा तो चाहिए न? अमुक तो चाहिए न! आहाहा! बहुत सरस गाथा है। आहाहा!

इस **दग्धकालरूप (हीनकालरूप) अकाल में तू शक्तिहीन हो...** आहाहा! क्योंकि मार्ग तो निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान अन्दर में आनन्दस्वरूप में रहना, वह है। कोई विकल्प और वह कोई वस्तु नहीं है। निर्विकल्प आनन्द का नाथ सागर वह निर्विकल्परूप से, वीतरागभावरूप से प्रगट हो, वह धर्म है। वीतरागरूप से प्रगटे, वीतरागस्वरूप है, वह धर्म है। ऐसी वीतरागपने की प्रतिक्रमणादि की क्रिया की वीतरागता न प्रगटे तो आडा-टेड़ा घोटाला करना नहीं। शक्तिहीन होवे तो श्रद्धा तो रखना। आहाहा!

केवल निज परमात्मतत्त्व का... आहाहा! भगवान का और पंच परमेष्ठी का नहीं। आहाहा! क्योंकि वे तो पर हैं। परद्रव्य से तो भिन्न है। **केवल (एक) निज परमात्मतत्त्व...** आहाहा! केवल अर्थात् एक। निज परमात्मतत्त्व का **श्रद्धान ही कर्तव्य है**। आहाहा! गजब बात की है न! यदि श्रद्धा में गड़बड़ करेगा तो मर जाएगा। हाथ नहीं आयेगा चौरासी में। पहले कहा था न, अष्टपाहुड़ में। '**सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति**' (गाथा-३) आहाहा! चारित्र भ्रष्ट होगा, वह सिझेगा, परन्तु श्रद्धा में कुछ फेरफार आया तो भ्रष्ट में भ्रष्ट है। दर्शनभ्रष्ट, ज्ञानभ्रष्ट है, चारित्रभ्रष्ट है। तीनों ही भ्रष्ट है। यह लिया है। पहले अध्याय में। दर्शनभ्रष्ट है, वह ज्ञानभ्रष्ट, चारित्रभ्रष्ट तीनों भ्रष्ट है और चारित्रभ्रष्ट है, वह दर्शनभ्रष्ट नहीं। वह मुक्ति को प्राप्त करेगा। चारित्रभ्रष्ट को ख्याल है कि मेरे ख्याल में कचास है परन्तु श्रद्धा में यदि कोई अन्तर किया तो चौरासी के अवतार में मर जाएगा। आहाहा! है न? चारित्रभ्रष्ट शब्द ऐसा है। '**सिज्झंति चरियभट्ठा**'

यहाँ कहते हैं, यह कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है। आहाहा! वहाँ भी कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है। चारित्रभ्रष्ट '**सिज्झंति**' आहाहा! वही इसका अर्थ यह कहते हैं। शक्ति कम हो, चारित्र न हो... आहाहा! श्रद्धा में कहीं गड़बड़ करना नहीं। एक भी पक्ष कहीं पोला और पोचा करना नहीं कहीं। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ **केवल निज परमात्मतत्त्व...** ऐसा शब्द लिया है। केवल एक निज परमात्मतत्त्व, आहाहा!

शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्तव्य है।

आहाहा! पाठ में है न? **जदि सक्कदि कादुं जे** कुन्दकुन्दाचार्य का। शक्ति होवे तो करना। **पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।** ध्यानमय, आनन्दमय अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त होना, वह प्रतिक्रमण और पडिक्कमण है, वह प्रत्याख्यान है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का उभार करना, अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार लाना, उसका नाम प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान है। यदि वह शक्ति होवे तो करना। **सत्ति-विहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।** यति को ऐसा कहते हैं। आहाहा! बापू! शक्ति न हो, प्रभु! परन्तु जैसा है, उसमें कहीं पौणे सोलह आना श्रद्धा में अन्तर डालना नहीं। कहीं यदि श्रद्धा की विपरीत शल्य रह गयी तो संसार में भटकते हुए पता नहीं लगेगा। आहाहा! चौरासी के अवतार में भटकेगा। ओहोहो! ऐसी बात रखी है।

स्वयं अपने लिये बनाया है। यह सूत्र स्वयं अपने लिये बनाया है। कुछ भी ऐसा या शिथिल होगा तो भी बचाव करना नहीं। आहाहा! वस्तु तो त्रिकाली चिदानन्द प्रभु है। उसके अवलम्बन से ही मुक्ति का शरण है, मुक्ति की उत्पत्ति है, मुक्ति के मार्ग की उत्पत्ति है। त्रिकाली भगवान के शरण से ही मुक्ति के मार्ग की उत्पत्ति है। आहाहा! और पूर्णता भी उसकी शरण से ही है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। आहाहा! मुनिराज ऐसी बात करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य। चारित्र कदाचित न हो, अरे! यहाँ तक (कि) चारित्रभ्रष्ट हो। आहाहा! श्रद्धा में भ्रष्ट न हो तो वह मुक्ति प्राप्त करेगा क्योंकि उसके ख्याल में है कि यह दोष है। वह दोष टालेगा, उसके ख्याल में है कि यह दोष है। जिसे जो वस्तु है, उसका ख्याल भी नहीं और कहीं... कहीं... कहीं... शल्य में अटका है... आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बातें आयी नहीं। वहाँ मुम्बई में ऐसा निकले, ऐसा नहीं है। आहाहा! मुम्बई में सूक्ष्म पड़े। आहाहा!

मुमुक्षु : श्रद्धा को पकड़ रखना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। भगवान को पकड़ना। सनातन ज्ञानमूर्ति प्रभु, वीतरागमूर्ति निर्विकल्प सत्ता अनादि-अनन्त महा अनन्त गुण की खान, उसकी श्रद्धा रखना। दूसरा सब भले शिथिल पड़ जाए परन्तु वह श्रद्धा छोड़ना नहीं। आहाहा! अब गाथा की टीका करते हुए मुनिराज श्लोक कहते हैं। लो!........

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२६४

[अब, इस १५४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

असारे सन्सारे कलि-विलसिते पाप-बहुले,
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघ-जिन-नाथस्य भवति।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां,
निजात्म-श्रद्धानं भव-भयहरं स्वीकृत-मिदम् ।।२६४।।

(वीरछन्द)

इस असार संसारोदधि में पापपूर्ण कलिकाल विलास।
अत: अनघ जिननाथ मार्ग में नहीं दृष्टिगत मुक्ति विलास॥
इसीलिए कैसे हो सकता वर्तमान में आत्म सुध्यान।
भवभयहारी निज-श्रद्धा स्वीकृत करते निर्मल मतिमान॥२६४॥

[श्लोकार्थ:] असार संसार में, पाप से भरपूर कलिकाल का विलास होने पर, इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है। इसलिए इस काल में अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है? इसलिए निर्मलबुद्धिवाले भवभय का नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्मश्रद्धा को अंगीकृत करते हैं॥२६४॥

प्रवचन-१७९, श्लोक-२६४, गाथा-१५५, शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण १५, दिनांक १२-०७-१९८०

नियमसार, २६४ कलश।

असारे सन्सारे कलि-विलसिते पाप-बहुले,
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघ-जिन-नाथस्य भवति।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां,
निजात्म-श्रद्धानं भव-भयहरं स्वीकृत-मिदम् ।।२६४।।

श्लोकार्थ : असार संसार में,... संसार तो असार है। परमपारिणामिक भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप, इसके अतिरिक्त पूरा संसार असार है। **पाप से भरपूर कलिकाल का विलास होने पर,...** आहाहा! मोक्ष का ध्यान कहते हैं, हों! ध्यान बिलकुल नहीं, इसलिए तो मोक्ष अधिकार देखा। ध्यान है। समकित का, ज्ञान का, चारित्र का ध्यान है, परन्तु मोक्ष हो – ऐसा ध्यान अभी नहीं है। स्वरूप की स्थिरता का ध्यान जो यह अन्दर, ऐसा ध्यान अभी नहीं है। उसका निषेध है। मोक्ष अधिकार में... कहा न अभी? पंचम काल में कोई ऐसा कहे कि ध्यान ही नहीं है तो वह दुर्बुद्धि है। वहाँ ऐसा आया।

यहाँ कहते हैं कि **पाप से भरपूर कलिकाल का विलास होने पर, इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है।** मुक्ति की बात है यहाँ। मुक्ति सम्बन्धी का जो ध्यान, वह अभी नहीं है। आहाहा! एक ओर ध्यान नहीं है – ऐसा कहे, वह भी मिथ्यादृष्टि है; एक ओर ध्यान मुक्ति के लिये नहीं, यह भी यथार्थ है। दो बातें की है। आहाहा! **इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है।** मुक्ति नहीं है। **इसलिए इस काल में अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है?** केवलज्ञान-प्राप्ति हो, वैसा अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है? ऐसी बात है। समझ में आया? ध्यान ही नहीं, यह तो पहले मोक्ष अधिकार (पाहुड़) में निषेध किया कि इस काल में आत्मा के ओर के झुकाव की ध्यानदशा ही नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। वह सत्य को नहीं मानता। आहाहा! समझ में आया इसमें?

अन्तर प्रभु चैतन्य भगवान परमानन्द का नाथ विराजता है, उसकी ओर का दर्शन, ज्ञान का जो ध्यान, वह नहीं – ऐसा नहीं है। आहाहा! तथा स्वरूप में आंशिक स्थिरता हो, वैसा ध्यान अभी नहीं है—ऐसा कहे, वह भी मिथ्यादृष्टि है। और इस निर्दोष जैनमार्ग में मुक्ति नहीं, इसलिए मुक्ति का इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है? ऐसा लेना चाहिए। एकान्त लेने जाए तो... आहाहा! बाबूभाई! मोक्षपाहुड़ में ऐसा कहा, दो-तीन गाथायें हैं। इस काल में ध्यान, समकित ही नहीं है (ऐसा नहीं)। समकित, वह अन्दर का ध्यान ही है। आहाहा!

शुद्ध चैतन्यवस्तु परमात्मा पूरे संसार से भिन्न, ऐसी चीज़ का भान, उसका ध्यान, यह काल में नहीं—ऐसा माने, वह भी झूठा है। आहाहा! तथा ऐसा जो मुक्ति का इस काल में... मुक्ति नहीं, इसलिए इस काल में अध्यात्म-ध्यान, मुक्ति सम्बन्धी का अध्यात्मध्यान

(नहीं है) । आहाहा ! दोनों ही प्रवचन कुन्दकुन्दाचार्य के हैं । मोक्षपाहुड़ में ऐसा कहा कि अभी कोई कहता है कि अन्दर दृष्टि चैतन्यमूर्ति में एकाग्र हो सकती ही नहीं । कहते हैं न वह श्रुतसागर ? दिगम्बर आचार्य-साधु (कि) अभी तो शुभभाव ही होता है । आहाहा ! शुभभाव तो संसार है । घोर संसार, राग है, जहर है, विकृत है, विभाव है, अजीव है, अशुद्ध है । वह है और आत्मा का सम्यग्दर्शन भी नहीं... आहाहा ! यह बात भी मिथ्या है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान, उसका ध्यान तो इस काल में है । यहाँ मोक्षपाहुड़ में तीन गाथा में इनकार किया है । देखी न ? भाई ! है न मोक्षपाहुड़ में ? नहीं । तीन गाथा आयी न, उसमें यह है कि इस काल में मोक्ष नहीं, परन्तु ध्यान ही नहीं, यह बात एकदम मिथ्या है । आहाहा ! इस काल में-कलिकाल में मुक्ति नहीं है । उस सम्बन्धी का अध्यात्मध्यान नहीं है । आहाहा !

मुमुक्षु : यदि इस काल में ध्यान न माने तो सम्यग्दर्शन को ही नहीं मानता ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु को ही नहीं मानता । ध्यान नहीं अर्थात् एकाग्रता नहीं है । परम स्वभाव भगवान अकेली निर्विकल्प चीज़, वही आत्मा, जिसमें संसार की गन्ध नहीं, जिसमें राग का प्रसार नहीं, जिसमें संसरण ऐसा संसार की जरा भी अन्दर गन्ध नहीं । ऐसा परमस्वभावभाव भगवान आत्मा की श्रद्धा का ध्यान और ज्ञान का ध्यान न हो, तब तो धर्म ही नहीं होगा जरा भी । तब तो अभी जैनधर्म नहीं होगा - ऐसा होगा ।

मुमुक्षु : तो कुन्दकुन्दाचार्य को भी धर्म नहीं था - ऐसा होगा ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आहाहा !

यहाँ जो बात करते हैं, वह अपेक्षा से मस्तिष्क में आयी । यहाँ अपेक्षा जो करते हैं, वह कौन सी ? अरे रे ! **असार संसार में, पाप से भरपूर कलिकाल का विलास...** पाप से भरपूर कलिकाल का विलास **इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में...** इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में **मुक्ति नहीं है** । मोक्ष नहीं हैं, इसलिए तद्प्रमाण **इस काल में अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है ?** केवलज्ञान ले, ऐसा अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है ? ऐसी बात है । आहाहा !

मुमुक्षु : स्वयं मुनिराज तो पोण-पोण सैकेण्ड ध्यान में...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे तो मुनि हैं । ध्यान में तीन कषाय का बिलकुल अभाव है ही

नहीं—ऐसा माननेवाले भी मिथ्यादृष्टि हैं और इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है; इसलिए उस मुक्तिसम्बन्धी अध्यात्मध्यान, वह अध्यात्मध्यान नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा परमानन्द का सागर परम पवित्र पिण्ड प्रभु, एक समय की पर्याय में जो घालमेल है, वह संसार है। द्रव्यस्वभाव तो परमात्मस्वरूप ही है। उसकी दृष्टि और उसका ज्ञान अभी न हो तो धर्म नहीं है। उसका ध्यान नहीं है, ऐसा जो माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? आहाहा! तथा इस पूर्णानन्द निर्दोष जिनमार्ग, जिसमें पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपी केवलज्ञान का अभी अभाव है; इसलिए उस सम्बन्धी का-उस परमात्म प्राप्ति सम्बन्धी का ध्यान कैसे हो सकता है? समझ में आया इसमें कुछ? दोनों बातें? आहाहा!

इसलिए निर्मलबुद्धिवाले... देखो! यह तो आया समकित और ज्ञान। **इसलिए निर्मलबुद्धिवाले...** आहाहा! **भवभय का नाश करनेवाली...** भवभय का नाश करनेवाली **ऐसी इस निजात्मश्रद्धा को अंगीकृत करते हैं।** यह क्या आया? आहाहा! **निर्मलबुद्धिवाले भवभय का नाश करनेवाली...** आहाहा! लो! यह तो है। भव भय का नाश करनेवाली है। परन्तु भव का अभाव करके मुक्ति करनेवाला यह ध्यान नहीं है। आहाहा! सर्वथा ध्यान नहीं तो समकित ही नहीं। उसे पूर्ण ध्यान होवे, तब तो मुक्ति है, केवलज्ञान अभी है। दोनों ऐसा नहीं है। जो कहा, जिस प्रकार से, उस प्रकार से जान। 'ध्यान नहीं', यह कहा, वह आत्मा की मुक्ति हो और केवलज्ञान हो, वह ध्यान नहीं है; और 'ध्यान है'—ऐसा न माने तो अज्ञानी है। आत्मा सम्बन्धी का सम्यग्दर्शन और ज्ञान के ध्यान की बात है। समझ में आया? आहाहा!

स्वयं के स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं मोक्षपाहुड़ में कहा और यहाँ स्वयं कहा न? स्वयं ने मूल पाठ में कहा न?

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्ति-विहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।।१५४।।

तो समकित तो आज है। यह तो कहा। आहाहा! पंचम भाव भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त चैतन्य रत्न से भरपूर, ऐसे भगवान की श्रद्धा और ज्ञान नहीं—ऐसा माने,

वह तो अज्ञानी है। आहाहा! और इस काल में अत्यन्त निर्दोष ऐसा जैनमार्ग, उसकी मुक्ति जो केवलज्ञान, उसका ध्यान माने तो भी वह बात झूठी है। क्योंकि वैसा ध्यान— केवलज्ञान हो, वैसा ध्यान नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इस काल में... इस काल में **अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है?... कैसे हो सकता है? इसलिए निर्मलबुद्धिवाले...** वापस निर्मलबुद्धिवाले कहा। तो इतना ध्यान हुआ या नहीं? आहाहा! **निर्मलबुद्धिवाले भवभय का नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्मश्रद्धा...** निजात्मश्रद्धा – निजस्वरूप की श्रद्धा। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ अखण्डानन्द प्रभु की निजश्रद्धा अंगीकार करते हैं। आहाहा! वह तो ध्यान है परन्तु जिस ध्यान से केवल (ज्ञान) हो, वह ध्यान नहीं है। आहाहा! दोनों बात भगवान की, दोनों बात कुन्दकुन्दाचार्य की कही हुई है। आहाहा! यह भी वापस सिद्ध किया कि **निर्मलबुद्धिवाले...** है समकिती। आहाहा! आत्मा में एकाग्रता का ध्यान तो हुआ है, ऐसा **भवभय का नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्मश्रद्धा...** निज प्रभु (की) निजात्मश्रद्धा। निज आत्मप्रभु परमात्मस्वरूपी अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण की राशि, उसकी श्रद्धा को **अंगीकृत करते हैं**। आहाहा! वह श्रद्धा अर्थात् इतना विकल्प नहीं, निर्मल अनुभव है। उस श्रद्धा में अतीन्द्रिय आनन्द की मिठास-स्वाद है। अनन्त गुण की शक्ति की व्यक्तता आंशिक अनन्त गुण की है। अकेली निर्मलबुद्धि नहीं। आहाहा! समझ में आया?

निर्मलबुद्धिवाले भवभय का... आहाहा! भवभय का **नाश करनेवाली...** अरे! देह छूटकर तू कहाँ जाएगा? कहाँ अवतार होगा? आहाहा! यह भव देह छूटा, परन्तु आत्मा की सत्ता तो अनादि है। देह का नाश होगा, राख होगी। आत्मा तो सत्ता है (तो) जाएगा कहाँ? प्रभु! यह देह छूटने के साथ ही दूसरा अवतार लेगा। दूसरे अवतार में जाएगा। आहाहा! तो ऐसी इस निजात्मश्रद्धा को **निर्मलबुद्धिवाले भवभय का नाश करनेवाली...** देखो, उसे भी फिर भव नहीं। देखा! भले एकाध-दो भव हों, तो भी केवलज्ञानी को भव नहीं होते और इसे कदाचित् होवें तो भी वे गिनती में गिनने में नहीं आते क्योंकि एकाध-दो भव हों, वे सब ज्ञान में ज्ञेय गिनने में आया है। आहाहा! केवलज्ञान के ध्यान का तो निषेध किया और यह निर्मल श्रद्धा भवभय की हरनेवाली, इसका स्वीकार किया। आहाहा! समझ में आया इसमें? हरिभाई!

मुमुक्षु : आठ सौ वर्ष पहले इतना पाप से भरा हुआ संसार था, इसलिए मुनि देव ने ऐसी भाषा रखी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप से भरा हुआ पूरा संसार है। इसलिए उसे अध्यात्मध्यान केवलज्ञान का नहीं होता। इतनी बात है। यह अपेक्षा है। केवलज्ञान का ध्यान नहीं होता। पाप से भरा हुआ है परन्तु पाप से भरा हुआ है, इसलिए समकित न हो तो निर्मल बुद्धिवालों को भवभय का हरनेवाला... आहाहा! समझ में आया? यह अटपटी गाथा आयी।

भवभय के हरनेवाले। भव भी फिर न मिले। आहाहा! एकाध-दो भव हो, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा! थोड़े राग-द्वेषादि हों, वे भी ज्ञान का ज्ञेय है। ऐसी स्थिति को अंगीकार कर। ऐसी निजात्मश्रद्धा को, निजात्मश्रद्धा। मुक्ति न हो, इसलिए परमात्मा की श्रद्धा रखना, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! मोक्ष नहीं हो, इसलिए पंच परमेष्ठी की श्रद्धा रखना, ऐसा नहीं कहा। क्योंकि वह तो विकल्प है, राग है। आहाहा! इसलिए निर्विकल्प ध्यान तो हुआ है। निजात्मध्यान को (श्रद्धा को) अंगीकृत करता है। आहाहा!

निर्मलबुद्धिवाले भवभय का नाश करनेवाली... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भव का भय नहीं है। इसे अब भव नहीं है। एकाध-दो भव हों, वे भी ज्ञान में ज्ञेयरूप से हैं। आहाहा! इसलिए भवभय का नाश करनेवाली कहा है न? एकाध-दो भव रखनेवाली, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! समझ में आया? भवभय का नाश करनेवाली। अनन्त भव जो हैं, उन भव का नाश करनेवाली **ऐसी इस निजात्मश्रद्धा...** भगवान स्वयं परमानन्द की मूर्ति विराजमान है। असार संसार में पाप से भरा हुआ कलिकाल है, परन्तु प्रभु तो पूर्ण भरपूर पड़ा है। आहाहा! वह तो पर्याय में यह बात है। द्रव्य तो परिपूर्ण भगवान अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति, अनन्त प्रभुता की ईश्वरता से पूरा भरा है। आहाहा! उसकी श्रद्धा रख। **भवभय का नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्मश्रद्धा...** निज-आत्म-श्रद्धा— अपने आत्मा की श्रद्धा को अंगीकार करते हैं। आहाहा! शान्तिभाई!

मुमुक्षु : भले द्रव्यमोक्ष न हो परन्तु भावमोक्ष तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। भावमोक्ष तो तेरहवें में। भावमोक्ष भी नहीं। मुक्ति है, मुक्तस्वरूप ऐसे अनुभव की प्रतीतिरूपी मुक्ति है। इतनी तो श्रद्धा की अपेक्षा है क्योंकि

आत्मा मुक्तस्वरूप है। वह तो मुक्तस्वरूप ही है। उसे मुक्ति हुई है, ऐसा नहीं। वह तो पर्याय में मुक्ति और बन्ध है। स्वयं तो मुक्तस्वरूप भगवान है। उसकी मुक्ति होना, ऐसा है नहीं, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पूर्ण मुक्ति जो पर्याय में होती है, उस मुक्ति का अभी अभाव है। उस मुक्ति के लिये जो ध्यान चाहिए, उस ध्यान का अभाव है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु भाव जरा अटपटा है। एक ओर कहना कि ध्यान नहीं तथा एक ओर कहना कि ध्यान है। आहाहा!

गाथा–१५५

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादि य परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णिय–कज्जं साहए णिच्चं ।।१५५।।

जिनकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्षयित्वा स्फुटम्।
मौन–व्रतेन योगी निज–कार्यं साधयेन्नित्यम् ।।१५५।।

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिदमुक्तम्। श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुरसन्दर्भे द्रव्यश्रुते शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणप्रभृतिसत्क्रियां बुद्ध्वा केवलं स्वकार्यपरः परमजिनयोगीश्वरः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य निखिलसङ्गव्यासङ्गं मुक्त्वा चैकाकीभूयं मौनव्रतेन सार्धं समस्तपशुजनैः निन्द्यमानोऽप्यभिन्नः सन् निजकार्यं निर्वाणवामलोचनासम्भोगसौख्यमूलमनवरतं साधयेदिति।

पूरा परख प्रतिक्रमण आदिक को परम जिन सूत्र में।
रे साधिये निज कार्य अविरल साधु! रत व्रत मौन में॥१५५॥

अन्वयार्थ : [जिनकथितपरमसूत्रे] जिनकथित परम सूत्र में [प्रतिक्रमणादिकं स्फुटम् परीक्षयित्वा] प्रतिक्रमणादिक की स्पष्ट परीक्षा करके [मौनव्रतेन] मौनव्रत सहित [योगी] योगी को [निजकार्यम्] निज कार्य [नित्यम्] नित्य [साधयेत्] साधना चाहिए।

टीका : यहाँ साक्षात् अन्तर्मुख परमजिनयोगी को यह शिक्षा दी गयी है।

श्रीमद् अर्हत् के मुखारविन्द से निकले हुए समस्त पदार्थ जिसके भीतर समाये हुए हैं, ऐसी चतुरशब्दरचनारूप द्रव्यश्रुत में शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर, केवल स्वकार्य में परायण परमजिनयोगीश्वर

को प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचनरचना को परित्यागकर, सर्वसंग की आसक्ति को छोड़कर अकेला होकर, मौनव्रत सहित, समस्त पशुजनों (पशु समान अज्ञानी मूर्ख मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी *अभिन्न रहकर, निजकार्य को—कि जो निजकार्य निर्वाणरूपी सुलोचना के सम्भोगसौख्य का मूल है उसे—निरन्तर साधना चाहिए।

गाथा - १५५ पर प्रवचन

गाथा १५५

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादि य परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णिय-कज्जं साहए णिच्चं।।१५५।।

पूरा परख प्रतिक्रमण आदिक को परम जिन सूत्र में।
रे साधिये निज कार्य अविरल साधु! रत व्रत मौन में॥१५५॥

लो! मोक्ष के लिये चाहिए, वह ध्यान नहीं है परन्तु ऐसा तो मौनपना कुछ है। उसका निषेध नहीं किया। आहाहा! इससे जिसमें ऐसी दशा न हो, उसे भी मानना, अभी मुनिपना कहा है, इसलिए जैसी दशा नहीं है, उसे मानना-ऐसा भी नहीं है। हंस कहे हैं... मोक्षमार्गप्रकाशक में (यह बात आती है) कि भाई! हंस अभी हैं परन्तु हंस दिखायी नहीं देते, इसलिए कौवे को हंस माना जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे! प्रभु! प्रभु! तेरे हित की बात है। सभी जीवों के हित की बात है। आहाहा! मुनिपना नहीं है और मुनिपना माने, प्रभु! तुझे दु:ख होगा। आहाहा! क्योंकि विपरीत मान्यता में दु:ख की ज्वाला है। आहाहा! मिथ्यात्व महा दु:ख की ज्वाला है। कोई प्राणी दु:खी होवे, ऐसा धर्मी को तो होता नहीं। आहाहा!

सभी प्राणी भगवान होओ, आठ कर्मरहित होओ। आहाहा! आत्मा का ध्यान करके पूर्णानन्द की प्राप्ति करो, ऐसी भावना होती है। आहाहा! उन्हें किसी के प्रति बैर-विरोध होता नहीं, किसी के प्रति यह संसार में भटके तो अच्छा-ऐसा होता नहीं। आहाहा! सभी

---

* **अभिन्न=छिन्नभिन्न हुए बिना; अखण्डित; अच्युत।**

भगवान हैं। शक्ति से-स्वभाव से तो भगवान हैं, पर्याय में भगवान होओ और हो सको, ऐसा है, ऐसा आचार्य का पुकार है। आहाहा! तथापि यहाँ इनकार करते हैं कि मुक्ति नहीं है। मुक्ति नहीं है परन्तु भव का अभाव होने की स्थिति है। भव एकाध-दो रहे, फिर यह प्रश्न नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

पूरा परख प्रतिक्रमण आदिक को परम जिन सूत्र में।
रे साधिये निज कार्य अविरल साधु! रत व्रत मौन में॥१५५॥

टीका : यहाँ साक्षात् अन्तर्मुख परमजिनयोगी को... यहाँ मोक्ष का ध्यान नहीं है, ऐसा कहा, परन्तु ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं कहा। ऐसा तो यहाँ है। ऐसा हो सकता है। जिसमें नहीं इसलिए उसमें हो सकता है, ऐसा कहा, इसलिए यहाँ लागू किया, ऐसा नहीं। अभी ऐसा मौनव्रत और मुनिपना है। इसलिए फिर जिसमें वह है ही नहीं, उसे मानना, ऐसा कुछ नहीं है। यह तो ऐसी वस्तुस्थिति है। किसी समय किसी को यह दशा होती है। आहाहा!

यहाँ साक्षात् अन्तर्मुख परमजिनयोगी को... देखा! उस रूप से ध्यान का निषेध किया कि केवल (ज्ञान)-मुक्ति (नहीं है), परन्तु यहाँ **अन्तर्मुख परमजिनयोगी को यह शिक्षा दी गयी है।** अन्तर्मुख जिनयोगी को, परमजिनयोगी को, आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द से सर्वांग पूर्ण से भरपूर भगवान, उसे परमयोगीजिनेश्वर, परम मुनि स्वयं उसमें जुड़ान करके... आहाहा! यह शिक्षा दी गयी है। परमयोगी अन्दर में जुड़ जा, भले मुक्ति नहीं परन्तु परम योग अन्दर जुड़ जाए, अन्तर्ध्यान में जुड़ जा। आहाहा! पूर्ण परमात्मा, जिसमें पर्याय का भी अभाव है, ऐसे पंचम भाव में साक्षात् स्थिर हो। आहाहा! ऐसी बात है।

श्रीमद् अर्हत् के मुखारविन्द से निकले हुए... श्रीमन्त-आत्मलक्ष्मीवाले अरहन्त के मुखरूपी कमल से निकले हुए **समस्त पदार्थ जिसके भीतर समाये हुए हैं, ऐसी चतुरशब्दरचनारूप द्रव्यश्रुत में शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर,...** आहाहा! जानकर (अर्थात्) यह जानकर। आहाहा! प्रभु के श्रीमुख से निकली हुई वाणी। मुख से तो शब्द कहा है, बाकी पूरे शरीर में से वाणी आती है। ओम तो पूरे शरीर में से आता है। ॐध्वनि। होंठ बन्द हो, कण्ठ बन्द हो, परन्तु दुनिया की भाषा ऐसी है, इसलिए उसे इस प्रकार से कहा है। आहाहा!

मुखारविन्द से निकले हुए समस्त पदार्थ जिसके भीतर समाये हुए हैं, ऐसी चतुरशब्दरचनारूप द्रव्यश्रुत में शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप... आहाहा! ऐसा भी कहा है यह। भगवान के मुख से निकले हुए द्रव्यश्रुत में भी यह कहा है। क्या? **शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया...** यह सत्क्रिया है। आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा के मुखारविन्द से निकली हुई जगत के चतुर शब्द की रचना। है न? **द्रव्यश्रुत में...** इस शास्त्र में **शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप...** शास्त्र में यह कहा है। व्यवहार कहा है, वह जानने के लिये कहा (कहा है), निश्चय कहा है, वह आदरने के लिये, अंगीकार करने के लिये (कहा है)। आहाहा। द्रव्यश्रुत में व्यवहार भी आता है, परन्तु व्यवहार है, उसका विषय है, पर्याय है, ऐसा बतलाने को (आया है)। आहाहा! जानकर छोड़ दे। और करना क्या? **शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप...** लो! केवली का ध्यान नहीं परन्तु यह ध्यान है। आहाहा! केवलज्ञान होवे, वैसा ध्यान नहीं परन्तु भगवान के मुख में से निकली हुई वाणी में इस काल के लिए भी (ऐसा ध्यान है)। आहाहा!

शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर,... उसमें यह कहा है। वीतराग की वाणी में सत्क्रिया—प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया (कही है)। विकल्प की नहीं। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान और व्यवहार, वह नहीं। आहाहा! अन्तर में सत्क्रिया अन्तर के अवलम्बन से हो, वह सत्क्रिया उस सूत्र में कही है। आहाहा! भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी में **द्रव्यश्रुत में शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर,...** कही है, उसे जानकर न? कही है, उसे जानकर न? आहाहा! दूसरे प्रकार से (कहें तो) भगवान के मुख में से निकली हुई वाणी अभी तक चलती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसका विरह नहीं है। आहाहा! **सत्क्रिया को जानकर,...** ऐसा शब्द ही कैसे हो सकता है? समझ में आया? इस काल में भी द्रव्यश्रुत में निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना द्रव्यश्रुत में कही है। आहाहा! इस काल में भी यह कहा है। वह वाणी चली आती है। आहाहा!

द्रव्यश्रुत में शुद्धनिश्चयनयात्मक... शुद्ध निश्चयस्वरूप **परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया...** कौन सी क्रिया? कि परमात्मा के ध्यानस्वरूप। देखो! यहाँ

ध्यान लिया। वह तो केवलज्ञानी का ध्यान नहीं, परन्तु साधक का ध्यान, मुनि के योग्य ध्यान है, वह ध्यान है। तीन कषाय का अभाव करके, सत्क्रिया को मुनि करे, शास्त्र में लिखी है, अर्थात् शास्त्र चले आते हैं। उन शास्त्रों में यह कहा है। उसमें से यह जानकर। उनमें कहा है, उसे जानकर। आहाहा! उनमें व्यवहार कहा है, उसे जानकर, ऐसा नहीं कहा। आहाहा!

भगवान की वाणी त्रिलोकनाथ की वाणी चली आती है। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं। भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई। आहाहा! उस वाणी में वर्तमान में **शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि...** प्रत्याख्यान, आलोचना ऐसी सत्क्रिया है। उसे जानकर... आहाहा! उसका ज्ञान करके **केवल स्वकार्य में परायण...** आहाहा! मुक्ति नहीं है, तथापि यह है। आहाहा! केवल अकेला स्वकार्य में परायण... आहाहा! अपने आत्मा के आनन्द के कार्य में तत्पर। आहाहा! ऐसे मुनि को... आहाहा! **परमजिनयोगीश्वर को प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचनरचना को परित्यागकर,...** ऐसे मुनि शुभ और अशुभराग को छोड़कर, शुभ और अशुभ वचनरचना को छोड़कर... आहाहा! पंचम काल में यह है, यह हो सकता है। आहाहा! प्रशस्त अर्थात् समस्त **वचनरचना को परित्यागकर,...** परित्यागकर, समस्त प्रकार से छोड़कर **सर्वसंग की आसक्ति को छोड़कर...** वचन को छोड़कर परन्तु फिर सर्वसंग की आसक्ति को छोड़कर। आहाहा! यदि परद्रव्य का संग करने जाएगा तो वहाँ विकल्प उठेंगे। आहाहा!

सर्वसंग की आसक्ति को छोड़कर... इसमें क्या बाकी रखा? गुरु को बाकी रखा? देव को बाकी रखा? आहाहा! सर्वसंग को छोड़कर। वर्तमान ऐसा पंचम काल है, कलिकाल है, अकाल जैसा है, दग्ध काल है, तथापि ऐसा हो सकता है। आहाहा! **स्वकार्य में परायण परमजिनयोगीश्वर को...** आहाहा! सर्वसंग की आसक्ति को छोड़कर। सर्व का परिचय छोड़कर अकेला भगवान का परिचय कर। असंग तत्त्व का संग कर। आहाहा! इसका नाम निश्चयप्रतिक्रमण और निश्चयप्रत्याख्यान। ऐसी बात है। सम्प्रदाय में भी सुनने को मिले, ऐसा नहीं है और बाहर में सब मना ले। व्यवहार है न? व्यवहार है न? किसने इनकार किया है? व्यवहार से होता है? वह तो कथनमात्र है। वह तो इसमें श्लोक आ गया है न? ९०वीं गाथा में, नहीं? ९० गाथा का कलश। ९०वाँ आया या बाद में

आया ? क्या कहा ? बाद में आया, बाद में। **मोक्ष का कुछ कथनमात्र...** ९१वीं गाथा के नीचे। ९१ वीं गाथा, उसके नीचे। वह है ९० गाथा की टीका परन्तु ९१ के नीचे। १७२ पृष्ठ है। **जो मोक्ष का कुछ कथनमात्र (कहनेमात्र) कारण है...** व्यवहार है, वह तो कहनेमात्र है। आहाहा! **उसे भी (अर्थात् व्यवहार-रत्नत्रय को भी) भवसागर में डूबे हुए जीव ने पहले भवभव में सुना है...** यह भव-भव में व्यवहाररत्नत्रय को सब सुना है **और आचरा (आचरण में लिया) है;...** देखो! व्यवहारक्रिया और व्यवहार समकित और व्यवहार प्रतिक्रमण, यह तो व्यवहार अनन्त बार प्रत्येक जीव ने आचरण किया है। सुना भी है और आचरण भी किया है। है ? आहाहा!

परन्तु भवसागर में डूबे हुए जीव ने पहले भवभव में (अनेक भवों में) सुना है और आचरा (आचरण में लिया) है; परन्तु अरे रे! खेद है कि जो सर्वदा एक ज्ञान है... पूर्णानन्द प्रभु अकेला ज्ञान ही स्वरूप है, जिसमें व्यवहार की गन्ध नहीं, जिसमें व्यवहार का स्पर्श नहीं। **अरे रे! खेद है कि जो सर्वदा एक ज्ञान है उसे (अर्थात् जो सदा एक ज्ञानस्वरूप ही है, ऐसे परमात्मतत्त्व को) जीव ने सुना-आचरा नहीं है, नहीं है।** दो बार कहा। आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, विकल्पमात्र उसमें नहीं है। आहाहा! मैं ज्ञायक हूँ, ऐसा विकल्प भी जिसमें नहीं है। आहाहा! वह इसने अनन्त बार सुना है... आहाहा! परन्तु कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को जीव ने सुना और आचरण किया नहीं है। अकेला मैं ज्ञानानन्द ही हूँ। कोई दया, दान के विकल्प, वह मेरी चीज़ है नहीं, यह इसने सुना नहीं, आचरण नहीं किया। यह आचरण नहीं किया, ऐसा दो बार कहा। सुना नहीं। **आचरा नहीं है, नहीं है।** मूल पाठ में है न ? **'न च न च'** मूल कलश में है। **'न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम्'** अकेला ज्ञानस्वरूप ही है प्रभु। पूर्ण ज्ञान है, अपूर्ण नहीं, मलिनता नहीं, विकल्प नहीं। आहाहा! जिसमें संसार की गन्ध नहीं, ऐसा जो प्रभु ज्ञान का स्वरूप पूर्व में तूने सुना नहीं। आहाहा! और आचरा नहीं। सुना नहीं, फिर आचरे कहाँ से ? आचरा नहीं, नहीं—ऐसा कहा। सुना नहीं और **आचरा नहीं है, नहीं है।** आहाहा!

मुमुक्षु : देशनालब्धि तो बहुत बार मिली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त बार मिली है। उसमें उसके कारण क्या है ? वह सुना नहीं

कहा जाता। कार्य करे तो सुना कहा जाता है। देशनालब्धि अनन्त बार मिली परन्तु देशनालब्धि मिले बिना होता नहीं। सत्श्रवण न हुआ हो और हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता, तथापि उससे होता है, ऐसा भी नहीं बनता। आहाहा! ऐसी बात है। शास्त्र श्रवण से नहीं होता और तो भी देशनालब्धि मिले बिना होता भी नहीं, परन्तु होता है, तब देशनालब्धि का लक्ष्य भी नहीं होता। उसका लक्ष्य भी नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात। लक्ष्य द्रव्य पर है। त्रिकाली परमानन्द का नाथ आत्मा, सच्चिदानन्द प्रभु सत्ज्ञान और आनन्द से भरपूर, उसे तूने सुना नहीं और तूने आचरा भी नहीं। आहाहा!

अब यहाँ १५५ में भी यही कहते हैं। **द्रव्यश्रुत में शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप...** शुद्धनिश्चयनयस्वरूप परमात्मध्यानस्वरूप। शुद्धनिश्चय अर्थात् क्या? कि परमात्मा का ध्यान। स्वयं परमात्मा है, उसका ध्यान। आहाहा!

मुमुक्षु : उसका नाम ही....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो शुद्धनिश्चय उसे ही कहते हैं।

शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को जानकर,... आहाहा! **केवल स्वकार्य में परायण...** अपना कार्य करना है। किसी का कोई कर नहीं सकता। किसी की पंचायत में पड़ना नहीं। आहाहा! लाओ इसका ऐसा कर दूँ और इसे ऐसा कर दूँ और इसका ऐसा कर दूँ। यह कुछ तुझसे नहीं हो सकेगा। तू तेरा कार्य कर। आहाहा! **संग की आसक्ति को छोड़कर अकेला होकर,...** आहाहा! **मौनव्रत सहित,...** बोलना भी नहीं जहाँ अकेला होकर, ऐसा कहते हैं। **मौनव्रत सहित,...** अरे! अब यहाँ तक जाना इसे। आहाहा! पंचम काल के प्राणी को कहते हैं। ऐसा हो सकता है, इसलिए कहते हैं। आहाहा! **मौनव्रत सहित, समस्त पशुजनों (पशु समान अज्ञानी मूर्ख मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी...** आहाहा! अज्ञानी जैसे लोग वे तो निन्दा करें। ऐ.. ऐसा है और यह तो एकान्त है और अमुक है और अमुक है। है? **समस्त पशुजनों...** आहाहा! **(पशु समान अज्ञानी मूर्ख मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी...** लो! पूरे दिन आत्मा.. आत्मा.. करते हैं। आत्मा.. आत्मा.. आत्मा पूरे दिन आत्मा नहीं, यहाँ तो तीनों काल आत्मा है। पूरे दिन तो उसका लक्ष्य करना है। वस्तु तो त्रिकाल है। आहाहा! ऐसा कहाँ सुना था चिमनभाई? नहीं? हिम्मतभाई के पास सुना नहीं था? तुम्हारे पिता के पास? आहाहा!

(पशु समान अज्ञानी मूर्ख मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी... आहाहा! **अभिन्न रहकर,...** अर्थात् **छिन्नभिन्न हुए बिना;...** विकल्प किये बिना। भले पशुजन समान अज्ञानी बोले, उनके सन्मुख देखना नहीं। अभिन्न में भिन्न करना नहीं। भेद ऐसे विकल्प को करना नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : गाँव के मुख पर कहीं पट्टी बँधेगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्द कर अर्थात् पट्टी बँधी हुई ही है। आहाहा! दुनिया बोले। दुनिया के मुँह पर कहीं पट्टी बँधती है? इसलिए कहा, **पशुजनों...** आहाहा! ढोर जैसे मनुष्य, सत्य निश्चय को न समझनेवाले, निश्चय की निन्दा करनेवाले, निश्चय की मजाक करनेवाले, व्यवहार की प्रशंसा करनेवाले। आहाहा!

पशुजनों (पशु समान अज्ञानी मूर्ख मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी अभिन्न... भले वे निन्दा करे। आहाहा! तुझे क्या? दूसरे चाहे जो माने, उसमें इसे क्या? आहाहा! **अभिन्न रहकर,...** अर्थात् **छिन्नभिन्न हुए बिना; अखण्डित; अच्युत।** भेद पड़े बिना, विकल्प किये बिना, अखण्डित रहकर। आहाहा! यह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान अखण्ड रहकर करना, कहते हैं। आहाहा! हमारे वहाँ संघवी के उपाश्रय जाए, लोग शाम को जाए प्रतिक्रमण करने। लींबडी के उपाश्रय जाते हैं न? सब प्रतिक्रमण करे। आहाहा! पीछे घर है। हरिचन्द की बहिन का। 'खस'वाले हरिचन्द है न? उनकी बहिन का घर है। वह स्थानकवासी है। यहाँ आवे परन्तु यह बात जँचती नहीं। आहाहा! बहुत वर्ष का सम्प्रदाय का पोषण हो न, इसलिए ये बात क्या कहते हैं यह? व्यवहार की तो बात (करते नहीं)। अन्दर आत्मा.. आत्मा.. आत्मा.. आत्मा.. आत्मा, आत्मा अन्दर हाथ आता नहीं और आत्मा.. आत्मा.. आत्मा करते हैं। परन्तु जाननेवाले बिना जानता कौन है? दूसरे को जानता है, वह कौन? जाननेवाला स्वयं ही प्रसिद्ध है। दूसरे को जाननेवाला स्वयं प्रसिद्ध है। आहाहा! स्व और पर को जाननेवाला प्रसिद्ध आत्मा है। आहाहा!

निजकार्य को—यह निजकार्य ही है। आहाहा! कमाना और विवाह करना और दुकान का धन्धा करना, वह निजकार्य नहीं है, कहते हैं। वे सब पाप कार्य हैं। आहाहा! मकान में ध्यान रखना कि लोग कैसे काम करते हैं और किस प्रकार काम करते हैं? कितना काम किया? सब ध्यान रखना, वह कुछ स्वकार्य नहीं। वह पापकार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ तो ऐसा ही कहना पड़े न।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दूसरी बात कहाँ है? एक तत्त्व के अतिरिक्त दूसरी वस्तु को सम्बन्ध क्या है? तत्त्व है या नहीं? तत्त्व है तो है तो है। वह दूसरे के कारण है या अपने कारण से है? और दूसरे का तो उसमें अभाव है। यदि अभाव न हो तो अपना भाव ही रह सके नहीं। स्वतत्त्व है और परतत्त्व से नहीं है। आहाहा! तब तो उसकी स्वतन्त्रता की पूर्णता है। वह विकल्प से भी नहीं। व्यवहार दया, दान के विकल्प से भी नहीं। आहाहा! अरे! निश्चय प्रतिक्रमणादि की पर्याय से भी वह नहीं। वह तो ध्रुव है। वह तो उसके आश्रय से यह क्रिया होती है। यह क्रिया कहीं ध्रुव में घुस नहीं गयी है। आहाहा! कठिन काम है, बहुत लम्बा ले जाए... मार्ग बापू ऐसा है। चौरासी में भटक रहा है। आहाहा! देखो न! किस प्रकार से लोग मर जाते हैं! कुचल कर मर जाते हैं, उसमें मर जाते हैं, वह मुम्बई में देखो न कितने तीन, चार, पाँच, छह हमेशा मरते हैं। ट्रक में कुचलकर या अमुक में भटककर, गाड़ी में भटककर, कुचलकर मरे हुए पड़े ही होते हैं। वह क्या कहलाता है? बस को खड़ी रखना पड़े। आदमी मर जाए इसलिए। पुलिस इकट्ठी हो। यह देखा है। निकले हों न, आहाहा! यह संसार।

यहाँ तो कहते हैं, पशुजनों द्वारा भले निन्दा करे **निजकार्य को—कि जो निजकार्य निर्वाणरूपी सुलोचना के...** आहाहा! जो निजकार्य मोक्षरूपी सुलोचना अर्थात् स्त्री। अब वहाँ मोक्ष को डाला। भले इस भव में न हो परन्तु अन्य भव में मोक्ष होगा। मोक्ष के लिये करना है। ध्येय है आत्मा; साध्य है मोक्ष। ध्येय है धर्म धरनेवाला धर्मी; साध्य है परमात्मदशा पर्याय। इसके अतिरिक्त दूसरी बात व्यवहार है। आहाहा! इसलिए कहते हैं... आहाहा! **निजकार्य को—कि जो निजकार्य निर्वाणरूपी सुलोचना के सम्भोगसौख्य का मूल है...** निर्वाणरूपी जो परिणति, मोक्षरूपी जो आनन्द की परिणति, उसके अनुभव के सुख का मूल है। **उसे—निरन्तर साधना चाहिए।** आहाहा! उसे निरन्तर साधना चाहिए। आहाहा! यह तो पहले इनकार किया कि निर्वाण का ध्यान है नहीं, परन्तु तू ध्यान तो ऐसा कर। अभी भले न हो। अमुक भव में होगा, सर्वथा ऐसा तो कर। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२६५

[अब इस १५५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

(मंदाक्रांता)

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी,
शस्ताशस्तां वचन-रचनां घोरसन्सार-कर्त्रीम्।
मुक्त्वा मोहं कनक-रमणीगोचरं चात्मनात्मा,
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः।।२६५।।

(वीरछन्द)

आतम ज्ञानी जीव मुमुक्ष पशुजनकृत लौकिक भय को।
घोर भवोत्पादक शुभ और अशुभ वचनों की रचना को॥
कनक-कामिनी सम्बन्धी जो मोहभाव को भी तजते।
मुक्ति हेतु अपने से अपने में अविचल स्थिति पाते॥२६५॥

[श्लोकार्थः] आत्मज्ञानी मुमुक्षु जीव पशुजनकृत लौकिक भय को तथा घोर संसार की करनेवाली प्रशस्त-अप्रशस्त वचनरचना को छोड़कर और कनक-कामिनी सम्बन्धी मोह को तजकर, मुक्ति के लिये स्वयं अपने से अपने में ही अविचल स्थिति को प्राप्त होते हैं॥२६५॥

प्रवचन-१८०, श्लोक-२६५-२६६, गाथा-१५६, रविवार, अषाढ़ शुक्ल १, दिनांक १३-०७-१९८०

नियमसार, २६५ कलश। कलश है न? २६५

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी,
शस्ताशस्तां वचन-रचनां घोरसन्सार-कर्त्रीम्।
मुक्त्वा मोहं कनक-रमणीगोचरं चात्मनात्मा,
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः।।२६५।।

श्लोकार्थ : आहाहा! **आत्मज्ञानी मुमुक्षु जीव...** जिसे आत्मज्ञान हुआ है, वह जीव, मुमुक्षु जीव। **पशुजनकृत लौकिक भय को...** अर्थात् लोग पशु जैसे हैं, वे कुछ भी बोले। आत्मा की बात करने पर या आत्मा का अनुभव या ज्ञान की बात करने पर कुछ भी बातें करे कि यह पाखण्डी है, ऐसा है, वैसा है, तो उसे सहन करके समता रखना। **आत्मज्ञानी मुमुक्षु जीव पशुजनकृत...** पशुजन-पशु जैसे मनुष्य। जिन्हें कुछ अक्ल नहीं हैं, सत्य-असत्य का विवेक नहीं है। आहाहा! उनके **भय को तथा...** उनके भय को तज दे। वे क्या कहते हैं? क्या करेंगे? आहाहा! धर्मीजीव को कोई दोष लगा हो और वह दोष किसी ने देखा हो तो वह क्या करे और वापस क्या उछाले? पशु जैसे - अज्ञानी जैसे। नहीं तो दोष को ढाँकना चाहिए। आहाहा! उपगूहन आता है न? समकित का (गुण)। ऐसी बात कोई होवे तो गोपन कर देना चाहिए। और एक यह पशुजन जैसे लोगों के भय को तजकर, उनके भय को तजकर। धर्मी जीव को पशुजन जैसे लोगों की दरकार छोड़कर, **घोर संसार की करनेवाली प्रशस्त-अप्रशस्त वचनरचना को...** आहाहा! शुभ और अशुभ वचन की रचना घोर संसार का कारण हैं। गजब बात है। उपदेश करना या सुनना, वह वचनरचना-जड़ की रचना है। सूक्ष्म बात है, भाई!

उस **संसार की करनेवाली प्रशस्त**-अर्थात् शुभ स्वाध्याय आदि और अशुभ **वचनरचना को छोड़कर...** आहाहा! दुनिया से प्रकार अलग है। कहते हैं, शुभवचन, प्ररूपणा और स्वाध्याय का, वे शुभ वचन भी जड़ हैं। आहाहा! उन्हें भी छोड़कर। आहाहा! उपदेश की वाणी को भी कहते हैं जड़ है। आहाहा! चैतन्य प्रभु में तो कोई विकल्पमात्र ही नहीं है। वह तो निर्विकल्प आनन्दकन्द का पिण्ड है। ऐसा आत्मतत्त्व है। उसमें अल्पता नहीं, अशुद्धता नहीं, अशुद्धता नहीं। अल्पता नहीं, हीनता नहीं, अशुद्धता नहीं।

पूर्णानन्द का नाथ आत्मा.. आहाहा! उससे विरुद्ध, वचन की रचना उससे विरुद्ध है। आहाहा! वाणी जड़ है, भगवान चैतन्य है। लोगों को कठोर लगे। तो फिर सुनना या सुनाना, उपदेश करना (उसका क्या)? भाई! वह वाणी, जिसमें—स्वरूप में विकल्प नहीं, जैनस्वरूप जो आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, अतीन्द्रिय शान्तिरस का पिण्ड है। वह पूर्ण है, पवित्र है, अखण्ड है, एकरूप ही है। उसमें कोई वचनरचना है नहीं। आहाहा!

कहते हैं, भाषा अकेले छोड़ने का कहे तो ठीक, परन्तु **घोर संसार की करनेवाली...** आहाहा! उस **प्रशस्त-अप्रशस्त वचनरचना को छोड़कर...** आहाहा! कहो, चिमनभाई! वचन को छोड़कर। अब इसे... आहाहा! आत्मा में कहाँ वचन है? आत्मा में कहाँ राग है? आत्मा में कहाँ द्वेष है? आत्मा तो आनन्दकन्द है। आहाहा! कहते हैं, धर्मी जीव को **पशुजनकृत लौकिक भय को तथा घोर संसार की करनेवाली प्रशस्त-अप्रशस्त वचनरचना को छोड़कर...** आहाहा। दो (बोल हैं)।

कनक-कामिनी सम्बन्धी मोह को तजकर,.... है? वे दो-दो बोल आये। पशुजनकृत लौकिक और प्रशस्त-अप्रशस्त वचन रचना और कनक-कामिनी। आहाहा! सोना और स्त्री आदि। उनके सम्बन्धी मोह। आहाहा! उनके प्रति का झुकाव और मोह। पैसे के प्रति और स्त्री के प्रति.. आहाहा! कनक और कामिनी के प्रति जो झुकाव, मोह, सावधानी तजकर... आहाहा! **मुक्ति के लिये...** अपने आनन्द का पूर्ण लाभ मिले, ऐसी जो मुक्ति। पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ मिले - ऐसी जो मुक्ति... आहाहा! उसके लिये। स्वर्ग के लिये या पुण्य के लिये - यह बात नहीं की। ओहोहो!

चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ, पूर्ण शान्ति, पूर्ण वीतरागता, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण प्रभुता से भरपूर भगवान का जो मुमुक्षु—आत्मज्ञानी... आहाहा! उसे तो पशुजन जैसे जीवों का भय नहीं रखना। वह क्या करेगा और क्या बोलेगा। क्यों? प्रशस्त-अप्रशस्त शब्द उसके गिनना। क्योंकि वह भी घोर संसार का कारण है। आहाहा! कठिन लगे। तब उपदेश करना या नहीं? भाई! उपदेश आता है, परन्तु वह करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! उपदेश आता है, परन्तु करने योग्य नहीं। समाधिशतक में यहाँ तक कहा है कि तुझे दूसरे को समझाने का विकल्प उठे, प्रभु! वह पागलपना है। ऐसा आया है। समाधिशतक (में) ऐसा कहते हैं कि दूसरों को समझाने का... आहाहा! विकल्प जो आवे, वह पागलपन है। आहाहा! क्योंकि विकल्प से तुझे नुकसान है। उससे कुछ लाभ सामनेवाले को हो, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : चारित्र सम्बन्धी पागलपना है। मुनि को विकल्प आवे, वह चारित्र का पागलपना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पागल है, परन्तु वह पागल... यहाँ तो दोष का पागल है। आहाहा! है तो चारित्रदोष। आहाहा! अस्थिरता का दोष। यह तो आवश्यक चलता है न?

निश्चय आवश्यक चलता है न ? अवश्य करनेयोग्य क्या है ? और नहीं करनेयोग्य क्या है ?- यह बात चलती है। निश्चय परमावश्यक। आहाहा! वाणी भी करनेयोग्य आवश्यक-जरूर है-ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वाचक तो वाच्य को बतावे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह करनेयोग्य नहीं है, कहते हैं। बतावे, वह सब व्यवहार है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है।

यहाँ तो परमावश्यक-परम अवश्य का क्या है ? यह कहीं वाणी परम आवश्यक नहीं है। यह समझाने का विकल्प, वह कहीं परम जरूरी नहीं है। आहाहा! घोर संसार शब्द प्रयोग किया है। आहाहा! प्रशस्त और अप्रशस्त, भली भाषा और खोटी-झूठी, दोनों वचन रचना को छोड़कर। आहाहा! दिगम्बर साधु भारी कड़क और परम सत्य ही कहनेवाले। दुनिया में सुगठितता रहे या न रहे, दुनिया इसे स्वीकार करे या न करे ? तब तुम क्यों बोलते हो ? ऐसा कहनेवाले मिलें तो उनका सुनना नहीं तुझे। वे पशुजनकृत हैं। आहाहा!

कहने का आशय ऐसा, प्रभु! परम आवश्यक-जरूरी (यह है कि) आत्मा अखण्डानन्द प्रभु की श्रद्धा-ज्ञान और अन्दर रमणता, यह परमावश्यक है। बाकी कुछ कोई आवश्यक नहीं है। आहाहा! व्यवहार के लिये प्रभावना करना, अमुक यह करना... अमुक यह करना... आहाहा! वह सब व्यवहार की रागवाली बात घोर संसार को उत्पन्न करनेवाली है। आहाहा! मुनि कहते हैं, घोर संसार। प्रशस्त। आहाहा! साधारण ने तो सुना न हो। स्थूल प्ररूपणा... आहाहा! वीतराग की कही हुई वाणी, परन्तु वह वाणी जड़ है। आहाहा! इसलिए वह घोर संसार का मूल है। आहाहा!

यहाँ तो स्थिर हो जाने की बात है। बाहर मैं ऐसा करूँगा, बाहर मैं ऐसा करूँगा, फिर ऐसा करूँगा, शास्त्र बनाऊँगा, बनाकर ऐसा बाहर प्रसिद्ध करूँगा, बाहर प्रसिद्ध करके बाहर में महिमा होगी। यह तो अन्दर मिथ्यात्व में रह गया। आहाहा! कठिन कलश आया है। बाबूभाई! आहाहा!

प्रभु! तू कौन है ? तू सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर है। सत्‌चिदानन्द ज्ञान और आनन्द का कन्द है। उसमें राग की गन्ध नहीं, वचन का स्पर्श भी नहीं। राग का तो पर्याय में स्पर्श भी

है। पर्याय में। वाणी को तो पर्याय में स्पर्श भी नहीं। आहाहा! क्योंकि वह तो जड़ द्रव्य है। राग है, वह तो अभी पर्याय में अस्तित्व में है। द्रव्यदृष्टि में नहीं। पर्याय के अस्तित्व में है। वाणी तो इसकी पर्याय के अस्तित्व में भी नहीं। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग है।

कनक-कामिनी... यह पैसे की भी आवश्यकता है इसमें, इसमें पैसा कमाना और उसमें यह पढ़ना, उसमें यह काम करना... आहाहा! यह इनकार करते हैं। कनक अर्थात् पैसा और स्त्री। उस **सम्बन्धी मोह...** अर्थात् सावधानी, उसकी ओर का विकल्प **तजकर,...** आहाहा! अभडछेट छूने जैसा नहीं है। राग और वाणी को छूने जैसा नहीं है। ऐसा प्रभु तू है। परमानन्द का नाथ तुझे तो परमात्मा ही होना पड़ेगा। तू परमात्मा ही है। सब भगवान है। वस्तु से, शक्ति से, स्वभाव से, सत्त्व से, सत् से, अस्ति से भगवान स्वरूप से आत्मा-परमात्मा सब है। इसलिए भगवान ही तुझे होना पड़ेगा। आहाहा! संसार का उत्साह उतार डाले, ऐसा है।

उसे **तजकर, मुक्ति के लिये...** आहाहा! एक सब आशा छोड़कर **मुक्ति के लिये स्वयं अपने से...** आहाहा! आत्मा, आत्मा से और स्वभाव से। स्वयं आत्मा और स्वयं से अर्थात् अपने स्वभाव से। राग और विकल्प और व्यवहार से नहीं। व्यवहाररत्नत्रय से भी नहीं क्योंकि वह स्वयं नहीं है। आहाहा! **स्वयं अपने से...** अर्थात् स्वभाव से। **अपने में ही...** अपने आनन्दस्वभाव में ही। एकान्त है, लो! **अविचल स्थिति को प्राप्त होते हैं।** इस प्रकार जो करे, वह अविचल स्थिति-मुक्ति को प्राप्त करता है। यह उसका मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। आहाहा! हमने बहुत पुस्तकें बनायीं, बहुत मकान बनाये, मन्दिर बहुत बनाये; इसलिए आत्मा को कुछ (लाभ) होगा, यह सब विकल्प है। आहाहा! इसमें पैसे को भी निकाल दिया, वाणी को भी निकाल दिया। आहाहा! और बोलनेवाले, तत्त्व को न समझे, वे तत्त्व को हीन करने के लिये विरोध करनेवाले, उन लोगों को पशु जैसा गिनकर, उन्हें निकाल दिया। आहाहा!

यह कल आया था न? भाई! १५४ गाथा। वह गाथा दर्शनपाहुड़ में २२वीं है। अभी शाम को बताया था। २२ में। '**जं सक्कइ तं कीरइ जं चण स्केइ तं च सद्दहणं**' उसमें बचाव करना नहीं। नहीं कर सके, उसकी श्रद्धा करना। बचाव करना नहीं कि नहीं, नहीं, नहीं यह तो ऐसा होगा, इसमें ऐसा होगा। आहाहा! **स्वयं अपने से...** ही आत्मा आनन्दस्वरूप

है, वह अतीन्द्रिय आनन्द से **अपने में ही...** आनन्द में ही **अविचल स्थिति को प्राप्त होते हैं।** ऐसा करनेवाला अविचल स्थिति-मुक्ति को प्राप्त करता है, लो! ओहोहो! एक कलश में तो कितना डाला है?

वचनरचना को जड़ घोर संसार का कारण कहा। आहाहा! यह दिगम्बर मुनि कहते हैं। दूसरों का दम नहीं है। दूसरे तो उसे अच्छा लगे... अच्छा लगे, (ऐसा कहे)। पैसा खर्च करो तुम्हारा ऐसा होगा, तुम्हें ऐसा होगा। आहाहा! बनाओ धर्म के स्थान तो धर्म बढ़ेगा, धर्म ऐसा होगा। आहाहा! कुछ पड़ी है इन्हें? पैसे की स्पृहा नहीं, स्त्री की नहीं, शुभाशुभ वचन की नहीं और पशु जैसे जीव सत्य को विरोध करनेवाले ऐसे जीवों की दरकार छोड़कर... आहाहा! अविचल स्थिति को, वह कही, वह स्वयं अपने से (प्राप्त करता है)। जो स्वभाव है, अपने में स्वभाव है, वह अपने से। विभाव अपने में नहीं।

स्वयं अपने से... अर्थात् अपने स्वभाव से स्वभाव को प्राप्त करके। आहाहा! पर्याय में अपने निर्मल स्वभाव से निर्मल स्वभाव को प्राप्त करके। विभाव की बात नहीं। आहाहा! ऐसा तो एकान्त लगे। साधारण सम्प्रदाय के आग्रही हों, उन्हें ऐसा हो, यह एक ही मार्ग होगा? यह सब कुछ नहीं? है? कुछ नहीं कहाँ, कहा न? संसार का कारण है। घोर संसार का कारण है। आहाहा! गजब बात है। शुभभाव घोर संसार का कारण और शुभभाव तेरा चाहे जो बाहर में हो, मन्दिर के लिये, इसके लिये... सज्झाय के लिये... आहाहा! इतना ध्यान रखना कि वह संसार का घोर कारण है। वह संसार के अभाव के कारण में बिल्कुल सहायक नहीं है। आहाहा! यह २६५ (श्लोक) पूरा हुआ।

श्लोक-२६६

(वसंततिलका)

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं,
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।
आत्म-प्रवाद-कुशलः परमात्म-वेदी,
प्राप्नोति नित्य-सुखदं निज-तत्त्व-मेकम् ।।२६६।।

(वीरछन्द)

आत्मप्रवाद कुशल ज्ञानी मुनि नर-पशुओं कृतभय को छोड़।
लौकिक वचन समूह तजें, गहते शाश्वत सुखमय निज को ॥२६६॥

[श्लोकार्थः] आत्मप्रवाद में (आत्मप्रवाद नामक श्रुत में) कुशल ऐसा परमात्मज्ञानी मुनि, पशुजनों द्वारा किये जानेवाले भय को छोड़कर और उस (प्रसिद्ध) सकल लौकिक जल्पजाल को (वचनसमूह को) तजकर, शाश्वतसुखदायक एक निज तत्त्व को प्राप्त होता है ॥२६६॥

श्लोक - २६६ पर प्रवचन

---

२६६ कलश

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं,
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।
आत्म-प्रवाद-कुशलः परमात्म-वेदी,
प्राप्नोति नित्य-सुखदं निज-तत्त्व-मेकम् ।।२६६।।

श्लोकार्थ : आत्मप्रवाद में (आत्मप्रवाद नामक श्रुत में)... जिसमें आत्मा का कथन है, ऐसे श्रुत में **कुशल...** ऐसा जो कुशल **(आत्मप्रवाद नामक श्रुत में) कुशल...** आहाहा! **ऐसा परमात्मज्ञानी मुनि पशुजनों...** परम आत्मज्ञानी-परमस्वरूप आत्मा, अनन्त

आनन्द और अनन्त शान्ति का सागर; राग की क्रियासहित, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस राग की क्रिया से रहित प्रभु आत्मा है। आहाहा! **ऐसा परमात्मज्ञानी...** परम आत्मज्ञानी। परम आत्मज्ञानी। आहाहा! **मुनि पशुजनों द्वारा...** ऐसे मुनि पशुजन द्वारा। पशुजनों कहा है। आहाहा! धर्म को समझते नहीं और विरोध करते हैं, वे सब ढोर जैसे हैं, पशु जैसे हैं।

पशुजनों द्वारा किये जानेवाले भय को छोड़कर... आहाहा! मुनि हैं, छद्मस्थ हैं। कोई दोष लगा हो और कोई देख जाए तो बाहर प्रसिद्ध करे और निन्दा हो तो भय करना नहीं। इस दुनिया का भय करना नहीं। आहाहा! **पशुजनों द्वारा किये जानेवाले भय को छोड़कर और उस (प्रसिद्ध) सकल लौकिक जल्पजाल को...** आहाहा! **उस (प्रसिद्ध) सकल लौकिक जल्पजाल को (वचनसमूह को)...** यह पहले में आ गया है। उसे यहाँ जल्पजाल कहा है। वचन का जाल, जल्पजाल। आहाहा! भगवान तो वाणी को स्पर्शा ही नहीं है। आत्मा वाणी के परमाणु को स्पर्शता ही नहीं है। आत्मा अनादि से होने पर भी कर्म और वाणी को स्पर्शा ही नहीं है, स्पर्शा ही नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह सब जड़ है। प्रभु चैतन्य है। दो के बीच अत्यन्त अभाव, अभाव का बीच में पर्वत-गढ़ पड़ा है। दो के बीच में अभावभाव का, अभावभाव का बड़ा गढ़ पड़ा है। आहाहा!

क्या कहा? भगवान आत्मा और पशुजनों द्वारा कही हुई वाणी कि स्वयं वाणी का समूह... आहाहा! वह **उस (प्रसिद्ध) सकल लौकिक जल्पजाल को (वचनसमूह को) तजकर,...** आहाहा! यह व्यवहार से कथन है। तजकर, यह भी व्यवहार से कथन है। ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर हो जाना, तब वचन होता नहीं, राग की उत्पत्ति होती नहीं, उसको उसने छोड़ा ऐसा कहने में आता है। कथन की शैली तो अनेक प्रकार से होती है, परन्तु उसका मर्म अलग प्रकार का होता है। वचन को छोड़कर, जड़ को छोड़कर। जड़ को ग्रहण कब किया था, उसे छोड़ना है? जड़ को स्पर्श भी नहीं किया है। (समयसार की) तीसरी गाथा में तो ऐसा कहा है। समयसार तीसरी (गाथा) आत्मा पर को स्पर्श भी नहीं करता अपने अतिरिक्त परद्रव्य को चुम्बन भी नहीं करता, छूता भी नहीं। कर्म को स्पर्श नहीं किया, शरीर को स्पर्श नहीं किया अभी तक। अनन्त काल हुआ। भगवान आत्मा ने वाणी को स्पर्श नहीं किया, कर्म को स्पर्श नहीं किया। आहाहा! शरीर को स्पर्श नहीं किया, वाणी को स्पर्श नहीं किया। जड़-मन को भी स्पर्श नहीं किया। आहाहा! ऐसा है। पाटनीजी! मार्ग ऐसा है। आहाहा!

प्रभु तो भगवानस्वरूप, परमेश्वरस्वरूप चैतन्यमूर्ति है। वह तो कभी राग को, कर्म को, शरीर को, वाणी को हुआ भी नहीं है, स्पर्शा नहीं है, चुम्बन नहीं किया, यह समयसार की तीसरी गाथा है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने धर्म को चुम्बन करता है। धर्म अर्थात् स्वभाव। गुण और पर्याय निर्मल स्वभाव को चुम्बन करता है परन्तु दूसरे द्रव्य की किसी भी पर्याय को, गुण-द्रव्य को तो चुम्बन न करे परन्तु पर की पर्याय को दूसरा द्रव्य चुम्बन-स्पर्शन नहीं करता। आहाहा! गजब बात है। इस हाथ को शरीर छुआ नहीं, शरीर को अन्दर आत्मा छुआ नहीं। आत्मा को शरीर छुआ ही नहीं। आहाहा! परमात्मज्ञानी मुनि यह सब वाणी आदि को छोड़कर, **पशुजनों द्वारा किये जानेवाले भय को छोड़कर और उस (प्रसिद्ध) सकल लौकिक जल्पजाल...** आहाहा! स्वयं तो लिखते हैं। लिखने की क्रिया भले हो। आत्मा से नहीं लिखा जा सकता। आत्मा उसे स्पर्श नहीं करता। वाणी के, जड़ के परमाणु में क्रमबद्ध होने का-भाषा होने का पुद्‌गल में काल है, इसलिए वचनवर्गणा भाषारूप होती है। आत्मा उसे स्पर्श नहीं करता और आत्मा भाषा नहीं करता। आहाहा! लो! हसमुखभाई! अब पूरे दिन करना, पैसा और धूलधाम। धूलधाम। आहाहा! एक द्रव्य के अपने गुण और पर्याय उसे स्पर्श करते हैं परन्तु दूसरे द्रव्य की पर्याय को दूसरा द्रव्य स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। आहाहा! तो फिर वाणी को आत्मा छूता नहीं तो यह वाणी है, वह कहते हैं... आहाहा! **सकल लौकिक जल्पजाल को (वचनसमूह को) तजकर, शाश्वतसुखदायक...** शाश्वत सुख का देनेवाला भगवान **एक निज तत्त्व को प्राप्त होता है।** आहाहा! वीतराग को पाते हैं और पंच परमेष्ठी को पाते हैं, यह नहीं। परद्रव्य को पाते हैं, वह राग है। आहाहा! ऐसा करके निज तत्त्व को प्राप्त करते हैं। आहाहा! वचन की रचना छोड़कर... आहाहा! पशुजनों द्वारा भय होता हो, विरोध करते हों, उसे भी छोड़कर... आहाहा! शाश्वत् सुख देनेवाले, कायम आनन्द में रहनेवाले, कायम आनन्द में रहनेवाला प्रभु, आनन्द का धाम नित्यानन्द शाश्वत् टंकोत्कीर्ण वस्तु भगवान आत्मा को प्राप्त करते हैं।

ऐसे **शाश्वतसुखदायक एक निज तत्त्व...** ऐसा सुख का देनेवाला एक निज तत्त्व। दो तत्त्व दूसरे नहीं। आहाहा! यह एक-एक श्लोक भी गजब है न! अपना भगवान आत्मा निज तत्त्व अन्दर एकरूप प्रभु विराजता है। अनन्त गुण भले हैं, परन्तु अभेदरूप से वे एकरूप हैं। ऐसे एकरूप तत्त्व को प्राप्त करते हैं। है? **शाश्वतसुखदायक एक निज**

तत्त्व... वापस वह निज तत्त्व। पर परमात्मा वीतराग की भेंट हो, वह नहीं। आहाहा! कलश तो कलश! अमृत के कलश भरे हैं!! आहाहा! दूसरे का करना है और दूसरे से गिनाने में गिनवाना है, ऐसों को तो इसमें अवकाश नहीं है।

ऐसी स्थिति करनेवाला अविचल शाश्वत सुखदायक **एक निज तत्त्व को प्राप्त होता है।** यह सार है। आहाहा! परतत्त्व का... आत्मा के निज तत्त्व के अतिरिक्त परतत्त्व चाहे तो वीतराग की महिमा की, प्रशंसा की वाणी हो या शास्त्र के शब्द हों... आहाहा! वे सब परद्रव्य हैं। उन्हें छोड़कर निज आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। एक निज तत्त्व को.. बाहर के अनेक तत्त्व परमात्मा, पशु आदि या परमात्मा पंच परमेष्ठी, वे भी पर में जाते हैं। उनका लक्ष्य करने से भी राग होता है। आहाहा! इसमें पहले क्या करना? हरिभाई! आहाहा!

यह तो कलश है। पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि। मुनि का (कलश है)। यह कहते हैं कि निज तत्त्व तो एकदम निराला पड़ा है। जिसे संसार स्पर्शा नहीं है, जिसे राग स्पर्शा नहीं है, ऐसा वह तत्त्व है। एक समय की पर्याय में भले हो, परन्तु वह पर्याय द्रव्य को स्पर्शी नहीं। आहाहा! ऐसे द्रव्य को—उस तत्त्व को प्राप्त करता है। ऐसी वचन रचना और ऐसे भय से पृथक् पड़ता हुआ (निज तत्त्व को पाता है)। आहाहा! यह तो बाबा हो, दुकान छोड़कर बैठे तो हो। ऐसे होता होगा? दुकान छोड़कर बैठा कहाँ है? पर का त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है। परवस्तु का त्याग और परवस्तु का ग्रहण, वह तो शून्य है। आहाहा! मात्र उस सम्बन्धी का अन्दर राग से ऐसे बोलना और ऐसे करना... आहाहा! वीतरागस्वरूपी भगवान आत्मा में उस राग का कण मैल और दुःख है, उसे छोड़कर सुखदायक ऐसा जो भगवान आत्मा एक निज तत्त्व। एक ही तत्त्व, दूसरा तत्त्व नहीं। परमात्मा, परमेश्वर और पंच परमेष्ठी भी नहीं। आहाहा! **एक निज तत्त्व को प्राप्त होता है।** लो! यह इसका सार है। आहाहा! कठिन लगे।

पहले क्या करना? पहले यह (करना) अन्तिम क्या? कि तू पूर्ण प्राप्त कर जा वह। पहला यह करना और अन्तिम यह कि तू उस तत्त्व को प्राप्त कर जा। दूसरा कुछ है नहीं। आहाहा! अरे रे! यह बात सुनी न हो। व्रत करो, अपवास करो, यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... कर्ताबुद्धि की क्रिया में रोकनेवाले संसार को भटकाने में फलते हैं। वहाँ संसार फलता है। आहाहा!

यहाँ तो प्रशस्तराग रचना को घोर संसार कहा। अहा! कहा या नहीं? आहाहा! घोर संसार है। आहाहा! मुनि को जगत की दरकार कहाँ पड़ी है? जगत को यह जँचेगा या इसमें खलबलाहट हो जाएगी, उन्हें कहाँ पड़ी है? आहाहा! और ऐसी बात अन्यत्र दिगम्बर सन्तों के सिवाय कहीं नहीं है। श्वेताम्बर, स्थानकवासी और अन्यमत में कहीं यह बात नहीं है। सर्वत्र एकदम मिथ्यात्व की बात है। आहाहा! कठिन लगे, क्या हो? अनादि सनातन सन्त अनादि दिगम्बर सन्त हो गये हैं, वे अनादि से यह बात करते आये हैं। यह कहीं स्वयं अकेले करते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! अनादि से यह बात चली आ रही है। अनन्त काल ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। आहाहा! तू भी अनन्त काल का है न! प्रभु! तो यह स्थिति प्राप्त करके तू भी अनन्त काल रहनेवाला है। आहाहा! कहो, रतिभाई! ऐसी बात कब सुनी थी?

मुमुक्षु : कोई सुनानेवाला ही कहाँ था!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूर्ति करो-स्थापित करो। प्रतिदिन करो आरती... क्या कहलाता है? स्तुति, भजन और भक्ति। आहाहा!

यहाँ तो तीन लोक के नाथ का पुकार है (कि) यह शुभविकल्प उठता है, वह घोर संसार है। तीन लोक के नाथ के पवित्र से अत्यन्त विरुद्ध भाव शुभभाव है। जब प्रभु में संसार का त्रिकाली अभाव है, तब राग में संसार का सद्भाव पूर्ण भरा है। आहाहा! कलश बहुत अच्छे आये। दोनों सरस कलश आये। पैसा-बैसा तो सबका यहाँ शून्य लगाया। पैसे से ऐसा होगा और पैसे से ऐसा होगा, पैसेवाले हों तो धर्म के स्थानक बने, धर्म बने, मन्दिर बने, पुस्तकें बने। आहाहा! प्रभु की वाणी दुनिया से अलग प्रकार की है। आहाहा!

तू है, वह हो और नहीं, उसे जाने दे। आहाहा! इतनी बात है। तू जैसा ज्ञानानन्द वीतरागमूर्ति प्रभु है, वैसी श्रद्धा करके हो, उससे विरुद्ध विकल्पमात्र घोर संसार का कारण है। संसार, जो अन्दर वस्तु में नहीं, उस घोर संसार का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : रिश्तेदार को पत्र लिखना, वह भी घोर संसार।

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्र-बत्र लिखना, वह भी यह। आहाहा!

यहाँ तो एक अक्षर अनन्त गुण का भरपूर है, उसकी वह क्रमबद्ध की पर्याय

उसकी होनेवाली उस काल में होती है। उसके बदले यह कहे कि मुझसे यह वाणी रची जाती है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे तत्त्व की दृष्टि की खबर नहीं है। आहाहा! और छियानवें हजार स्त्री का भोगनेवाला कहलाये कि भोगता है। वास्तव में तो उन्हें स्पर्श भी नहीं करता। वह क्रिया होती है उसे वह जानता है। आहाहा! वह क्रिया होती है, राग आया तो उसकी क्रिया को जानता है। आहाहा! और चक्रवर्ती भी छियानवें हजार स्त्री और छियानवें करोड़ सैनिक... आहाहा! उसका भोजन ऐसा कि बत्तीस ग्रास (में से) एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक खा नहीं सकते। ऐसा बत्तीस ग्रास का आहार, तो भी कहते हैं कि वह स्पर्श नहीं करता। उस आहार को स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! उस आहार की ओर के विकल्प का स्वयं को स्वामी नहीं मानता। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसा कभी सुना भी नहीं होगा कहीं। आहाहा! श्लोक बहुत ऊँचे, बहुत सरस आये हैं। आहाहा! १५५ गाथा (पूरी) हुई।

गाथा-१५६

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयण-विवादं सग-पर-समएहिं वज्जिज्जो।।१५६।।

नानाजीवा नानाकर्म नानाविधा भवेल्लब्धिः।
तस्माद्वचन-विवादः स्व-पर-समयैर्वर्जनीयः।।१५६।।

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम्। जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, सन्सारिणः त्रसाः स्थावराः। द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसञ्ज्ञयसञ्ज्ञिभेदात् पञ्च त्रसाः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः। भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मकसहज-ज्ञानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः, एतेषां विपरीता ह्यभव्याः।

कर्म नानाविधं द्रव्यभावनोकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्रतर-तीव्रमन्दमन्दतरोदयभेदाद्वा। जीवानां सुखादिप्राप्तेर्लब्धिः कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यता-भेदात् पञ्चधा। ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वादो न कर्तव्य इति।

हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नाना विध कही।
अतएव ही निज-पर समय के साथ वर्जित वाद भी॥१५६॥

अन्वयार्थ : [नानाजीवः] नाना प्रकार के जीव हैं, [नानाकर्म] नाना प्रकार का कर्म है, [नानाविधा लब्धिः भवेत्] नाना प्रकार की लब्धि है; [तस्मात्] इसलिए [स्वपरसमयैः] स्वसमयों तथा परसमयों के साथ (स्वधर्मियों तथा परधर्मियों के साथ) [वचनविवादः] वचनविवाद [वर्जनीयः] वर्जनेयोग्य है।

टीका : यह वचनसम्बन्धी व्यापार की निवृत्ति के हेतु का कथन है (अर्थात् वचनविवाद किसलिए छोड़नेयोग्य है, उसका कारण यहाँ कहा है)।

जीव नाना प्रकार के हैं : मुक्त हैं और अमुक्त, भव्य और अभव्य, संसारी—त्रस

और स्थावर। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा (पंचेन्द्रिय) संज्ञी तथा (पंचेन्द्रिय) असंज्ञी ऐसे भेदों के कारण त्रस जीव पाँच प्रकार के हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति यह (पाँच प्रकार के) स्थावर जीव हैं। भविष्य काल में स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक सहजज्ञानादि गुणोंरूप से *भवन के योग्य (जीव) वे भव्य हैं; उनसे विपरीत (जीव) वे वास्तव में अभव्य हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ऐसे भेदों के कारण, अथवा (आठ) मूल प्रकृति और (एक सौ अड़तालीस) उत्तर प्रकृतिरूप भेदों के कारण, अथवा तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर उदयभेदों के कारण, कर्म नाना प्रकार का है। जीवों को सुखादि की प्राप्तिरूप लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदों के कारण पाँच प्रकार की है। इसलिए परमार्थ के जाननेवालों को स्वसमयों तथा परसमयों के साथ वाद करने योग्य नहीं है।

[भावार्थ:] जगत में जीव, उनके कर्म, उनकी लब्धियाँ आदि अनेक प्रकार के हैं; इसलिए सर्व जीव समान विचारों के हों, ऐसा होना असम्भव है। इसलिए पर जीवों को समझा देने की आकुलता करना योग्य नहीं है। स्वात्मावलम्बनरूप निज हित में प्रमाद न हो, इस प्रकार रहना ही कर्तव्य है।

गाथा - १५६ पर प्रवचन

अब १५६ (गाथा)

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयण-विवादं सग-पर-समएहिं वज्जिज्जो।।१५६।।

हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नाना विध कही।
अतएव ही निज-पर समय के साथ वर्जित वाद भी ॥१५६ ॥

टीका : आहाहा! **यह वचनसम्बन्धी व्यापार की निवृत्ति के हेतु का कथन है...** अपनी बात सत्य है, इसलिए स्वसमय में भी उसके साथ चर्चा-वाद-विवाद करके स्थापित करना, यह रहने देना, बापू! आहाहा! यह नहीं जँचेगी। सारांश कहते हैं।

---

* भवन = परिणमन; होना सो।

वचनसम्बन्धी व्यापार की निवृत्ति के हेतु का कथन है (अर्थात् वचनविवाद किसलिए छोड़नेयोग्य है, उसका कारण यहाँ कहा है)।

जीव नाना प्रकार के हैं :... आहाहा ! तू किसे समान करने जाएगा ? सबके समान विचार हों, और सबकी समान श्रद्धा हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा ! तथापि ऐसा कहे, सब भगवान होओ। मैं तो भगवान होनेवाला हूँ, आठ कर्मरहित होनेवाला हूँ। द्रव्यसंग्रह में अवाय में यह कहा है। मैं तो आठ कर्मरहित होनेवाला हूँ, परन्तु सब आत्मा आठ कर्मरहित होओ। कोई भी अल्पज्ञ न रहो, कोई संसार में न रहो। आहाहा ! सब परमात्मा होओ क्योंकि तुम परमात्मा हो। नहीं हो और होना, ऐसा नहीं है। है, वैसा पर्याय में होना है। जैसा द्रव्य में स्वभाव और वस्तु सत्व है, उसी प्रकार पर्याय में प्रगट होना है। वह परमात्मा है। वह परमात्मा पर्याय में होना है। प्राप्त की प्राप्ति है। यह कहीं बाहर से परमात्मपना होता है, आता है - ऐसा नहीं है। कहो, हसमुखभाई ! ऐसी बातें हैं। आहाहा ! कठिन काम। पूरे दिन काम में फुरसत नहीं मिलती। उलझ गये, काम में उलझ गये। आहाहा !

जीव नाना प्रकार के हैं :... नाना अर्थात् अनेक प्रकार के हैं। **मुक्त हैं और अमुक्त,...** सिद्ध हैं और संसारी हैं। उनमें भी वापस संसारी में **भव्य और अभव्य,...** हैं। आहाहा ! **संसारी—त्रस और स्थावर।** हैं। वापस उन संसारियों में भी त्रस और स्थावर जाति है। आहाहा ! लट, चींटी, मकोड़ा, त्रस, मानव, तिर्यंच, नारकी, देव, ये सब त्रस (जीव हैं) और एकेन्द्रिय, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, यह स्थावर (जीव हैं)। त्रस और स्थावर जीव हैं। तू सबको समान किस प्रकार करेगा ? तेरी भावना में सब रख। आहाहा ! सब किस प्रकार समान होंगे ? आहाहा ! अनन्त काल चला गया, अनन्त तीर्थंकर चले गये, अनन्त तीर्थंकरों ने उपदेश किया, तो भी एक शरीर के अनन्तवें भाग मोक्ष गये और निगोद के शरीर असंख्य चौबीसी के समय जितने हैं। असंख्य चौबीसी के समय जितने। उनमें मुक्ति में गये एक शरीर के अनन्तवें भाग और जाएँगे तो इतने। अरे रे ! यह विचार करने पर, बापू ! तू कहाँ आया है, भाई ! तू मनुष्यरूप से आया, भाई ! कहाँ आ चढ़ा है। आहाहा ! यह तो कल्प चिन्तामणि में आ पड़ा है।

छहढाला में तो ऐसा कहा है कि निगोद में से लट होवे तो भी चिन्तामणि रत्न है। आहाहा ! भाई ! तूने विचार नहीं किया। गत काल में से इतने में से छूटकर... आहाहा ! ऐसा

तुझे मनुष्यपना मिला और वह भी जैन परमेश्वर के मार्ग को सुनने के योग तक आया। आहाहा! आयुष्य लम्बा, निरोगता, सुनने की योग्यता... आहाहा! ऐसे तो अनन्तवें भाग मोक्ष गये, बापू! तू किसे बलजोरी से मोक्ष प्राप्त करायेगा? जिसकी योग्यता होगी, उसे होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : अपने पास ज्ञान हो, वह दूसरे को ज्ञान न दे तो ज्ञानावरणीय का बन्ध पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं देता हूँ, ऐसा माने, वह ज्ञानावरणीय का बन्ध पड़ता है। दूसरा दे कौन और ले कौन? प्रभु! ज्ञान यहाँ है, उस ज्ञान का एक अंश भी यहाँ से हटता नहीं। किसे देना है? वाणी देना है? वाणी इसकी है? वाणी देना है? और वाणी से कुछ ज्ञान होता है? यह सुनने से कुछ ज्ञान होता है? आहाहा! इसकी तो उस समय की पर्याय का काल है, इससे यहाँ ज्ञान होता है। वाणी से नहीं। आहाहा! यह तो अलौकिक मार्ग है। सुनने को मिलना मुश्किल है। आहाहा! गजब बात है।

दिगम्बर सन्तों ने मोक्ष को हथेली पर ऐसे बताया है। तू मोक्षस्वरूप है न, प्रभु! आहाहा! तू मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप है, ऐसा पर्याय में मुक्त हो। प्राप्त की प्राप्ति है। नहीं और होनेवाला, हो सके, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! इसके अतिरिक्त की दूसरी सभी बातें छोड़ दे। आहाहा! लप का लाकड़ा (विपरीतता) रखा हो और इससे ऐसा होगा... इससे ऐसा होगा। यह शास्त्र बनाये तो फिर दूसरे को ज्ञान होगा और मेरा नाम रहेगा, यह सब मिथ्यात्व की विपरीतता है। आहाहा! प्रभु! तू तो ज्ञानस्वरूप है न! ज्ञानस्वरूप क्या करे? जानने का काम करे या कुछ दूसरे का करने का करे? करे करने का, परन्तु क्या करने का? जानने का। राग का काम भी नहीं तो फिर वाणी-फाणी के कर्तव्य तो इसे है ही नहीं। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! यह बात सुनना कठिन पड़ती है। आहाहा! कलश भी बहुत ऊँचा आया है। आहाहा!

वचनसम्बन्धी व्यापार की निवृत्ति के हेतु का कथन है (अर्थात् वचनविवाद किसलिए छोड़नेयोग्य है, उसका कारण यहाँ कहा है)। एक तो संसारी और मुक्त, दो जीव हैं और उनमें भी भव्य और अभव्य। आहाहा! अभव्य जीव कभी तीन काल में मुक्ति नहीं होगी, ऐसे जीव हैं, प्रभु! तू किसके साथ वाद करेगा? आहाहा! संसारी में तो त्रस

और स्थावर हैं। उनमें कभी अभी निगोद में से निकले नहीं, इतने अधिक जीव हैं। आहाहा! और बाहर निकले वे त्रस। वे **द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय...** हैं, मनवाले हैं और कोई मनरहित हैं। **ऐसे भेदों के कारण त्रस जीव पाँच प्रकार के हैं।** आहाहा!

पृथ्वी,... के जीव हैं। यह पृथ्वी खोदने जाते हैं। एक मिट्टी के कण में असंख्य जीव हैं। आहाहा! **पृथ्वी, जल,...** है। पानी की एक बूँद में असंख्य जीव हैं। आहाहा! **तेज,...** अग्नि। अग्नि में एक दियासलाई ऐसे सुलगे, उसमें असंख्य जीव हैं। **वायु...** पूरा लोक ठसाठस वायु से भरा हुआ है, खाली भाग है वह। आहाहा! **वनस्पति,...** आहाहा! **यह (पाँच प्रकार के) स्थावर जीव हैं।** आहाहा! **णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।**

भविष्य काल में स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक सहजज्ञानादि गुणोंरूप से भवन के योग्य (जीव), वे भव्य हैं;... आहाहा! भविष्य काल में स्वभाव अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सुख, वीर्य—ऐसे चतुष्टयात्मक... आहाहा! **सहजज्ञानादि गुणोंरूप...** होने के योग्य हैं वे, परिणमन के योग्य ऐसे जीव भी हैं। आहाहा! **वे भव्य हैं; उनसे विपरीत (जीव) वे वास्तव में अभव्य हैं।** किसी के समझाने से समझेंगे नहीं, ऐसे जीव भी हैं। आहाहा!

उस महिला ने अभी ऐसा लिखा है। श्रुतसागर साधु है, वह ऐसा कहते हैं कि अभी शुभभाव ही होता है। ऐसी प्ररूपणा की है। आज अखबार में आया है और वह बाई ज्ञानमती और ऐसा कहती है कि हम भव्य हैं या अभव्य? काललब्धि पकी है या नहीं? – वह भगवान जाने। अपने को क्या खबर पड़े? अर.र.र..! ऐसी बातें वेश पहनकर करनेवाले और सुननेवाले! हम भव्य हैं या अभव्य, यह केवली जाने। अर..र..र..! तो फिर यह शास्त्र की एक भी सच्ची बात तुम्हारे पास सुनने जैसी नहीं, क्योंकि तुम्हें तो अभी भव्य और अभव्य की शंका है। ऐसा अखबार में आया है। आहाहा! अर..र..र..! प्रभु! प्रभु! क्या हो?

अनेक जीव की जाति। वह कहते हैं न, **वे भव्य हैं; उनसे विपरीत (जीव) वे वास्तव में अभव्य हैं। उनमें वापस द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ऐसे भेदों के**

कारण, अथवा (आठ) मूल प्रकृति और (एक सौ अड़तालीस) उत्तर प्रकृतिरूप भेदों के कारण,... ऐसे कर्म भी किसी को किस प्रकार के, किस प्रकार के, किस प्रकार के होते हैं। किसी को **तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर उदयभेदों के कारण, कर्म नाना प्रकार का है।** आहाहा! ऐसे जीवों में अब ऐसे भेद हैं, उनमें तू किसे (समझायेगा) ? तेरे विचार प्रमाण सबको समान करना चाहेगा तो किस प्रकार होगा ? विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१८१, श्लोक-२६७-२६८, गाथा-१५६-१५७,
सोमवार, अषाढ़ शुक्ल ३, दिनांक १४-०७-१९८०

नियमसार, गाथा १५६। क्या कहते हैं ? धर्म ऐसी कोई सूक्ष्म चीज़ है कि साधारण प्राणी के साथ वादविवाद करना नहीं। साधारण मनुष्य तो बेचारा व्यापार-धन्धा में मजदूरी में पड़े हों और पूरे दिन मजदूरी (करे)। उसमें तत्त्व की बातें कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। अब यह किस प्रकार जँचे ? आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! आत्मा, शरीर को स्पर्श नहीं करता। शरीर को कर्म स्पर्श नहीं करता; कर्म को शरीर स्पर्श नहीं करता और प्रत्येक पदार्थ क्रमबद्ध, क्रमसर जो पर्याय जिस काल में होनेवाली है, वह होती है, क्रमसर होती है। अब यह बात जगत को कहाँ बेचारे को (जँचे) ? धन्धा-पानी में पाप में पड़े हों! इसलिए कहते हैं कि तू वादविवाद करना नहीं। कोई ऐसे जैन के सम्प्रदायवाले हों या अन्यवाले हों, उनके साथ वादविवाद करना नहीं। यह वस्तु सूक्ष्म है। जँचना कठिन है। क्योंकि बहुत से जीवों की तो भव्य और अभव्य जाति, सुखादि की प्राप्ति की लब्धि। आया न ? कहाँ तक आया था ?

काललब्धि पकी हो, **काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदों के कारण पाँच प्रकार की है। इसलिए परमार्थ के जाननेवालों को स्वसमयों तथा परसमयों के साथ...** जैनधर्म के साथ, उसमें रहे हुए वाड़ावालों के साथ या अन्यमत के साथ वादविवाद करना नहीं। नहीं जँचेगी, बापू! आहाहा! एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। कैसे जँचे ? कभी सुना न हो उसके बाप-दादा ने। यह अँगुली इस अँगुली को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! क्योंकि यह तत्त्व भिन्न और यह तत्त्व भिन्न। एक

तत्त्व और दूसरे तत्त्व के बीच तो अत्यन्त अभाव है। अब उसे किसप्रकार जँचे कि नहीं स्पर्शता? उसके साथ तू बात किस प्रकार करेगा?

और प्रत्येक द्रव्य भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने देखा। छह द्रव्य देखे हैं जाति से। वैसे अनन्त (द्रव्य हैं)। उनमें प्रत्येक (द्रव्य) की प्रत्येक समय की जो पर्याय, जिस समय में—जिस काल में होनेवाली है, उस काल में होगी। आड़ी-टेड़ी नहीं होगी। किसके साथ तू वाद करेगा? आहाहा! जिसे धर्म की खबर ही नहीं, धर्म कैसे होता है- इसकी खबर ही नहीं, संसार के जंजाल में पड़े हैं, उन्हें कहते हैं यह बात नहीं जँचेगी; इसलिए उनके साथ वादविवाद—तेरे समय के साथ और पर के साथ करना नहीं। आहाहा! है? ऐसी सूक्ष्म बात है।

जिस समय में जिस द्रव्य की जो पर्याय होनेवाली है, उस समय में होगी, क्रमबद्ध होगी, धाराबन्ध होगी और फिर एक पर्याय दूसरी पर्याय को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! कहो, ऐसी सब बात कहाँ से जँचे? किसके साथ तू विवाद करेगा? कि लोग बेचारे जैनदर्शन (एक पत्रिका) में लिखा ही करते हैं, एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है। बात सत्य। उनकी दृष्टि में यह बात जँचती नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। परमाणु, आत्मा को तो स्पर्श नहीं करता, परन्तु एक परमाणु, दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। उसे तुम किस प्रकार बात जँचाओगे?

एक बार कहा था न? किसी का कुछ कर सकता नहीं। तब वह 'चीमन चकु' था यहाँ। (संवत्) १९९७ के वर्ष में। 'लींबडीवाला'। मुम्बई नहीं? चिमनचकु, स्थानकवासी में। लो, यह किया। नहीं किया जा सकता क्या? यह किया। ऐसा व्याख्यान में बोला था। १९९७ के वर्ष। कहा, बापू! उसमें क्या हुआ है? ऐसा किया, उसमें क्या हुआ है, खबर है? वह जड़ की पर्याय हुई और आत्मा ने भी अपने अपने परिणाम को किया। वे परिणाम, शरीर के परिणाम को स्पर्श भी नहीं करते। लो, यह किया। नहीं कहाँ किया जा सकता - ऐसा बोला था।

मुमुक्षु : ऊँचा हाथ किया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा किया था। ऊँचा हाथ किया ऐसे। (बोला) यह किया, लो!

अरे! भाई! एक परमाणु भी दूसरे परमाणु को धक्का नहीं मार सकता। आहाहा! यह लकड़ी है, वह ऊँची होती है, वह अँगुली से नहीं। अँगुली के कारण ऊँची रही नहीं, क्योंकि उसमें अधिकरण नाम का गुण स्वयं में है। वह अपने आधार से रही है; अँगुली के आधार से नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : इन्द्रियज्ञानवाला स्वीकार नहीं करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं करे। कैसा ?

मुमुक्षु : इन्द्रियज्ञानवाला स्वीकार नहीं करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्प्रदायवाले यह बात नहीं माने।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं। प्रत्येक द्रव्य की क्रमसर जिस समय में होनेवाली है, वह पर्याय होती है और एक द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्याय के तीन भेद करे तो भी विकल्प होगा, अधर्म होगा, अधर्म होगा। अरे! कौन माने ? किसने सुना हो बेचारों ने ? एक द्रव्य-आत्मा द्रव्य है, उसमें गुण हैं और उसमें पर्याय है। एक में तीन का विचार करे तो अधर्म होगा। राग होगा कहो या अधर्म होगा कहो। कड़क भाषा है। आहाहा! एक में दो भेद कर तो अधर्म होगा। गुणी आत्मा और अनन्तानन्त गुण—ऐसा भेद करेगा तो अधर्म होगा। विकल्प होगा अर्थात् अधर्म होगा। आहाहा! किसके साथ वादविवाद करेगा ? भाई! किसके साथ इस चर्चा में उतरेगा कि उतारो अपने चर्चा करो। यह यहाँ कहते हैं, देखो!

परमार्थ के जाननेवालों को स्वसमयों... अर्थात् अपने में, जैनधर्म में **तथा परसमयों...** अर्थात् अन्यधर्म में **साथ वाद करने योग्य नहीं है।** है ? आहाहा! यह कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते जाते हैं। तत्त्व की प्ररूपणा करते जाते हैं और फिर ऐसा भी कहते जाते हैं कि वादविवाद करना नहीं, हों! तू समझकर समा जा। आहाहा! जहाँ विकल्प को अवकाश नहीं। विकल्प शुभ है, वह अधर्म है। धर्मी ऐसा भगवान आत्मा, ऐसे विकल्प—अधर्म को स्पर्श भी नहीं करता और उसके कारण आत्मा को जरा भी लाभ नहीं होता, नुकसान होता है। यह बात साधारण को नहीं जँचेगी, इसलिए वादविवाद में पड़ना नहीं। आहाहा!

भावार्थः जगत में जीव, उनके कर्म,... भिन्न-भिन्न प्रकार के जीव, उनके कर्म

भिन्न-भिन्न प्रकार के। भिन्न-भिन्न प्रकार के परभव में बाँधे हुए कर्म। **उनकी लब्धियाँ...** उन्हें वर्तमान क्षयोपशम और प्राप्त हुई लब्धियाँ भी अलग-अलग प्रकार की। आहाहा! **आदि अनेक प्रकार के हैं; इसलिए सर्व जीव समान विचारों के हों, ऐसा होना असम्भव है।** आहाहा! सभी जीव समान विचारवाले हों, यह बनना असम्भवित है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। 'घीया'! सुना था कभी कहीं? परमाणु, परमाणु को स्पर्श कर सकता नहीं। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप। तू किसके साथ वाद करेगा? किस प्रकार उसे जँचेगा? तू तेरा करके समा जा, ऐसा कहते हैं।

तू ज्ञायकस्वरूप है। स्व को जाननेवाला। जानकर समा जा, बापू! बाकी बीच में विकल्प आवे, सब आवे, राग हो, संसार के भोगादिक का भी राग हो, तथापि उसे भी जानकर और उससे पृथक् पड़कर अन्दर में जाना। आहाहा! जहाँ भगवान परमात्मा स्वयं विराजता है। आहाहा! ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा और ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा, यह वस्तु में ऐसा कुछ है नहीं। क्योंकि क्रमबद्धपर्याय है, इसलिए ऐसा करें तो ऐसा होगा, यह बात उसमें है नहीं। आहाहा!

इसलिए कहते हैं **सर्व जीव समान विचारों के हों, ऐसा होना असम्भव है। इसलिए...** असम्भवित है। बन सकता है। देखो, कितने ही ऐसे अच्छे पात्र हों तो उनके साथ बन सकता है,परन्तु सबके साथ बैठे, ऐसी बात नहीं है। आहाहा! और जिस समय में होनेवाली पर्याय, उस समय में परमाणु की और आत्मा की उस समय में वह पर्याय होती है। आगे-पीछे नहीं, पहले-बाद में कोई इन्द्र जिनेन्द्र नहीं कर सकता। आहाहा! अनन्त बल के धनी परमाणु को उसकी जिस समय की पर्याय है, वह दूसरे समय में वह पर्याय कर सके और दूसरी पर्याय होनेवाली, उसे पहले समय में कर सके (ऐसी) ताकत नहीं है। जिनेन्द्र की ताकत नहीं है, इन्द्र की ताकत नहीं है। यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में। इन्द्र, जिनेन्द्र कोई कुछ बदलने में समर्थ नहीं है। आहाहा! **इसलिए पर जीवों को समझा देने की आकुलता करना योग्य नहीं है।** आहाहा! तू कुछ समझाने जाएगा तो कुछ निकालेंगे। कुछ अन्दर से उल्टा निकालेंगे, स्वयं को जँचेगी, वैसी बात। आहाहा! कहो! प्रत्येक द्रव्य अनादि से जिस समय में पर्याय होनेवाली है, उस पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता। अब पर्यायरहित द्रव्य होता नहीं तो दूसरा द्रव्य उस पर्याय को करे, यह

कहाँ से आया ? कोई द्रव्य निकम्मा है ? निकम्मा अर्थात् ? पर्यायरूपी काम के बिना का कोई द्रव्य है ? जिससे निकम्मे द्रव्य को तू उसे काम करे और तेरा काम पड़ा रहे ? आहाहा ! ऐसा सूक्ष्म है, बाबूभाई ! आहाहा ! वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है इसलिए कहते हैं कि सब एक विचार के हों, ऐसा समझा देने की आकुलता करना योग्य नहीं है। आहाहा ! जिसकी योग्यता होगी, वह समझेगा। आहाहा ! यह स्वयं के लिये है। दूसरे को समझा सके, यह बात तो है ही नहीं। आहाहा !

स्वात्मावलम्बनरूप निज हित में प्रमाद न हो... है ? **स्वात्मावलम्बनरूप...** निज आत्मा का एक अवलम्बन। आहाहा ! **निज हित में प्रमाद न हो...** अपने निज हित में प्रमाद न हो। एकदम वीतरागरूप से तो भले न रह सके परन्तु जो कुछ राग और प्रमाद आवे, उस समय वह आता ही है, ऐसा जानकर तू तुझे जान। आहाहा ! जिस समय में जो पर्याय रागादि आनेवाली है, वह आयेगी। उसे न जानकर तू तुझे जान। ऐसी बात है। आहाहा ! अर्थात् **स्वात्मावलम्बनरूप निज हित में प्रमाद न हो, इस प्रकार रहना...** आहाहा ! **यही कर्तव्य है।** यह कर्तव्य है। अपने हित के लिये निज आत्मा का अवलम्बन लेकर उसमें रहना, यह कर्तव्य है। किसी का कर सके और किसी से ले सके... आहाहा ! तीर्थंकर भी किसी को दे सके और कोई उनके पास से ले सके, ऐसी वस्तु की स्थिति नहीं है। आहाहा ! इसलिए अपने निज आत्मा का हित साधे, वह कर्तव्य है। करनेयोग्य यह है। आहाहा ! ये मन्दिर, पुस्तकें बनावे, वह कहाँ गया तब ? वह तो उसके काल में उसके कारण से होना हो तो होगा। वह जड़ की पर्याय जड़ के कारण से होगी, तेरे कारण से नहीं होगी। आहाहा ! निज कर्तव्य तो यह है। स्वात्मा में निज का अवलम्बन लेकर अपना हित करना, यह कर्तव्य है। आहाहा ! यह श्लोक (पूरा) हुआ।

श्लोक-२६७

[अब इस १५६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा सन्सृतिकरः,
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता,
ततः कर्तव्यं नो स्व–पर–समयैर्वादवचनम् ।।२६७।।

(वीरछन्द)

भव-कारण स्थावर त्रस आदिक जीवों के हैं भेद अनेक।
सदा जन्म उत्पन्न करे जो कर्मों के भी भेद अनेक॥
निर्मल जिनशासन में लब्धि भी प्रसिद्ध बहु भेद कही।
अत: स्व-पर मतवालों से है वचन विवाद नहीं करणीय॥२६७॥

[श्लोकार्थ:] जीवों के, संसार के कारणभूत ऐसे (त्रस, स्थावर आदि) बहुत प्रकार के भेद हैं; इसी प्रकार सदा जन्म का उत्पन्न करनेवाला कर्म भी अनेक प्रकार का है; यह लब्धि भी विमल जिनमार्ग में अनेक प्रकार की प्रसिद्ध है; इसलिए स्वसमयों और परसमयों के साथ वचनविवाद कर्तव्य नहीं है॥२६७॥

श्लोक - २६७ पर प्रवचन

अब, श्लोक १५६। **अब इस १५६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:-**

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा सन्सृतिकरः,
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।

असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता,
ततः कर्तव्यं नो स्व-पर-समयैर्वादवचनम् ।।२६७।।

श्लोकार्थ : आहाहा! **जीवों के, संसार के कारणभूत ऐसे (त्रस, स्थावर आदि)...** जीव। आहाहा! **बहुत प्रकार के भेद हैं; इसी प्रकार सदा जन्म का उत्पन्न करनेवाला कर्म...** आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, वे जन्म को उत्पन्न करनेवाले भाव हैं। आहाहा! **सदा जन्म का उत्पन्न करनेवाला कर्म भी अनेक प्रकार का है;...** किस परिणाम से त्रस होता है और किस परिणाम से एकेन्द्रिय होता है और किस परिणाम से निगोद होता है... आहाहा! और किस परिणाम से स्वर्ग होता है ? उसके क्रम में द्रव्य की दृष्टि होने पर जिस क्रम में परिणाम आये, उस परिणाम का फलरूप से आवे, उसे दूसरा कोई बदल नहीं सकता। आहाहा! यह तो सब संसार का उत्साह तो उड़ जाता है। हिम्मतभाई गये ?

मुमुक्षु : रुके हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुके हैं।

इसी प्रकार सदा जन्म का उत्पन्न करनेवाला... पुण्य और पाप के असंख्य प्रकार हैं, वे जन्म को उत्पन्न करनेवाले ऐसे परिणाम अनेक प्रकार के हैं। आहाहा! **कर्म भी अनेक प्रकार का है;...** आहाहा! वह कर्म शुभाशुभभाव। **यह लब्धि भी विमल जिनमार्ग में...** लब्धि अर्थात् ? अपना क्षयोपशमभाव अपने में अपने से होना, वह क्षयोपशम की लब्धि भी अनेक प्रकार की है। किसी को-निगोद को एक अक्षर के अनन्तवें भाग लब्धि और किसी को नौ पूर्व और ग्यारह अंग का जानपना (होवे), मिथ्यादृष्टि होने पर भी और उसे छठवें गुणस्थान में मुनि होने पर भी पाँच समिति तथा तीन गुप्ति का ज्ञान। आहाहा! मिथ्यादृष्टि अभव्य को नौ पूर्व और ग्यारह अंग का ध्यान (हो)। आहाहा!

यह लब्धि भी... लब्धि अर्थात् प्राप्ति। **विमल जिनमार्ग में अनेक प्रकार की प्रसिद्ध है;...** अनेक प्रकार की है। आहाहा! चक्रवर्ती मरकर नरक में जाए। आहाहा! और हरिजन समकिती हो, एकावतारी हो। एक अवतार करके मोक्ष में जाए। आहाहा! ऐसे परिणाम की विचित्रता जीव की भिन्न-भिन्न है। तू किसके साथ वाड़ा में करने जाएगा। वहाँ विवाद उठायेंगे इसमें। आहाहा!

मुमुक्षु : आप भी किसी पत्र का जवाब नहीं देते।

पूज्य गुरुदेवश्री : यूँ ही किसी को नहीं देते। आवे वह पढ़ लेते हैं। वह भव्यसागर कहते हैं कि आओ, इतना लिखो। बेचारा बीस वर्ष की दिगम्बर दीक्षा। धन्य मैं आपकी सभा में बैठकर सुनूँ। वह दिन मेरा धन्य है। आओ, इतना लिखो। परन्तु यहाँ लिखे कौन? लिखकर यहाँ आवे, उसे कहाँ उतारना और वह उतारने का किसे कहना? और उसके भोजन का, आहार का। यहाँ किसी की चिन्ता नहीं। सब का सब करो। सब का सब होवे। वह वापस कहे कि यहाँ साधु को कोई आहार-पानी नहीं दे। तो कहे, वह तो हम कर लेंगे परन्तु आओ, इतना लिखो। यहाँ तुम्हें कहाँ उतारना, यह विचारना... पड़े, कौन इस चिन्ता में? आहाहा! बहुत थे। एक आर्यिका भी वहाँ थी। उदयपुर, आर्यिका थी, स्थानकवासी तेरापन्थी। वहाँ उतरी थी। साथ में बड़ा मकान है। सेठ के मकान में। मुमुक्षु का, गृहस्थ उदयपुर। वह कहे, महाराज! हमारे वहाँ सोनगढ़ आने का भाव है। मैंने कहा, हम किसी को कुछ नहीं कहते। सोनगढ़ हमारे आने का भाव है। जोधपुर नहीं, क्या? हैदराबाद। हैदराबाद थे, तब उससे तीन मील दूर एक साध्वी थी। स्थानकवासी की साध्वी। उसने ऐसा कहलवाया, महाराज! मुझे दर्शन दो। हम वहाँ दर्शन लेने जाएँगे तो हमें रोटियाँ नहीं देंगे। बहुतों को ऐसा हो जाता है कि यह क्या कहते हैं परन्तु यह? एक प्रकार की बात जरा भी बदलती नहीं। यह क्या है? इसलिए कितनों को बेचारों को समझने के लिये हमें इतना कहो कि हम आवें। अथवा तुम यहाँ दर्शन देने आओ। मैंने कहा, हम कहीं आते-जाते नहीं हैं।

मुमुक्षु : विरोध तो बहुत आता है परन्तु आपकी बात बदलती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे बहुत परन्तु चाहे जो वह हो नहीं। आहाहा! यहाँ यह कहते हैं, देखो! आहाहा!

लब्धि भी विमल जिनमार्ग में अनेक प्रकार की प्रसिद्ध है;... अलग-अलग प्रकार का उघाड़, ज्ञान का उघाड़, दर्शन का उघाड़, अन्तराय का उघाड़। उसका अपने-अपने कारण से भिन्न-भिन्न उघाड़ होता है, उसमें क्या? आहाहा! दो भाईयों के बीच भी कितना अन्तर होता है; एक को कुछ उघाड़ और एक को कुछ उघाड़। आहाहा! **इसलिए स्वसमयों और परसमयों के साथ वचनविवाद कर्तव्य नहीं है।** आहाहा!

मुमुक्षु : लिखित तो कर्तव्य है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखने का भी कर्तव्य नहीं है। कोई कर्तव्य ही नहीं है। लिखे कौन? एक अक्षर अनन्त परमाणु का बना हुआ। उसके साथ लिखना हो तो हो, लिखे। मैं लिखता हूँ, यह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! और यह लिखकर दूसरे समझेंगे तो मुझे पहिचानेंगे, यह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : खानियां तत्त्वचर्चा तो आपकी कृपा से हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल मैंने तो इनकार किया था। मैंने तो इनकार किया था कि चर्चा-वर्चा नहीं की जाती। फूलचन्दजी ने स्वयं की। की और अच्छी हुई। यहाँ इनकार किया। यहाँ चर्चा-वर्चा किसी के साथ करना नहीं। खानियां चार्च और अमुक चर्चा.. आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, वाद और विवाद किसी के साथ नहीं करना।

गाथा-१५७

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाण-णिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।।१५७।।

लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन।
तथा ज्ञानी ज्ञान-निधिं भुङ्क्ते त्यक्त्वा परततिम्।।१५७।।

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः। कश्चिदेको दरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य निधेः फलं हि सौजन्यं जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढवृत्त्यानुभवति इति दृष्टान्तपक्षः। दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः क्वचिदा-सन्नभव्यस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यां परमगुरुचरणनलिनयुगलनिरतिशय-भक्त्या मुक्तिसुन्दरीमुखमकरन्दायमानं सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य परेषां जनानां स्वरूप-विकलानां ततिं समूहं ध्यानप्रत्यूहकारणमिति त्यजति।

निधि पा... मनुज तत्फल वतन में गुप्त रह ज्यों भोगता।
त्यों छोड़ परजन-संग ज्ञानी ज्ञान निधि को भोगता॥१५७॥

अन्वयार्थ : [एकः] जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) [निधिम्] निधि को [लब्ध्वा] पाकर [सुजनत्वेन] अपने वतन में (गुप्तरूप से) रहकर [तस्य फलम्] उसके फल को [अनुभवति] भोगता है, [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी [परततिम्] पर जनों के समूह को [त्यक्त्वा] छोड़कर [ज्ञाननिधिम्] ज्ञाननिधि को [भुंक्ते] भोगता है।

टीका : यहाँ दृष्टान्त द्वारा सहजतत्त्व की आराधना की विधि कही है।

कोई एक दरिद्र मनुष्य क्वचित् कदाचित् पुण्योदय से निधि को पाकर, उस निधि के फल को सौजन्य अर्थात् जन्मभूमि ऐसा जो गुप्त स्थान उसमें रखकर अति

गुप्तरूप से भोगता है; ऐसा दृष्टान्तपक्ष है। [1]दार्ष्टान्तपक्ष से भी (ऐसा है कि)— सहजनपरमतत्त्वज्ञानी जीव क्वचित् आसन्नभव्य के (आसन्नभव्यतारूप) गुण का उदय होने से सहजवैराग्यसम्पत्ति होने पर, परम गुरु के चरणकमलयुगल की निरतिशय (उत्तम) भक्ति द्वारा मुक्तिसुन्दरी के मुख के [2]मकरन्द समान सहजज्ञाननिधि को पाकर [3]स्वरूपविकल ऐसे पर जनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण समझकर छोड़ता है।

गाथा - १५७ पर प्रवचन

अब १५७ गाथा। दृष्टान्त देते हैं।

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाण-णिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।।१५७।।

निधि पा... मनुज तत्फल वतन में गुप्त रह ज्यों भोगता।
त्यों छोड़ परजन-संग ज्ञानी ज्ञान निधि को भोगता॥१५७॥

आहाहा! **टीका : यहाँ दृष्टान्त द्वारा सहजतत्त्व की आराधना की विधि कही है।** दृष्टान्त द्वारा सहजतत्त्व भगवान आत्मा की आराधना की विधि कही है। भगवान की आराधना और पंच परमेष्ठी को ऐसा करना, यह कुछ नहीं। आहाहा! **कोई एक दरिद्र मनुष्य क्वचित् कदाचित्...** क्वचित् और कदाचित् भले थोड़ा काल **पुण्योदय से निधि को पाकर,...** लो, यहाँ तो यह आया। **पुण्योदय से निधि को पाकर,...** वे इनकार करते हैं न? पुण्य के कारण नहीं प्राप्त होती। समाज को व्यवस्था आती नहीं इसलिए... यहाँ तो पुण्योदय से है। भाई हुकमचन्दजी ने भी यह लिखा है कि पैसा मिलता है, वह पुण्य के कारण, परन्तु स्वयं पैसा पाप है। चौबीस परिग्रह में वह परिग्रह है। चौदह प्रकार का अन्तरंग परिग्रह, दस प्रकार का बाह्य परिग्रह। यह चौदह प्रकार का परिग्रह मिलता पुण्य से है परन्तु स्वयं पाप है। आहाहा! अर्थात् इन सेठियों को पैसावाला कहा जाता है, वे पापी

---

१. दार्ष्टान्त=वह बात जो दृष्टान्त द्वारा समझाना हो; उपमेय।
२. मकरन्द=पुष्प-रस; पुष्प-पराग।
३. स्वरूपविकल=स्वरूप प्राप्ति रहित; अज्ञानी।

कहलाते हैं, ऐसा कहते हैं। पुण्यवाले कहलाते नहीं। पुण्य तो पूर्व का था, वह तो खर्च हो गया। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्हालकर रखे, वह पाप कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्हालकर रखे और वह मेरा माने, यही मिथ्यात्व है। एक पैसा और एक पाई या एक नोट मेरा है। वह तो जड़ है, उसे अपना माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि के तो ढ़ेर हो पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : ढ़ेर। ढ़ेर तो कितने ? ओहोहो!

प्रभु के वचन जहाँ, असंख्य चौबीसी के समय जितने तो निगोद के शरीर; उसमें एक-एक निगोद के शरीर में अनन्त जीव; उसके अनन्तवें भाग मुक्ति पाते हैं। आहाहा! धन्य भाग्य कि मनुष्यपना मिला और उसे यह साधन मिले। अब इसे काम करना, वह इसके हाथ में है। इस निगोद के एक शरीर के अनन्तवें भाग में। शरीर कितने ? कि असंख्य चौबीसी के समय जितने। एक निगोद के अनन्तवें भाग में गये और जाएँगे। बाकी तो संसार दु:खी.. दु:खी... दु:खी... आहाहा! यह निगोद का दु:ख नारकी के दु:ख की अपेक्षा अधिक है।

लोग नारकी के दु:ख वह संयोग ऐसा काटे, उसके कारण होता है (ऐसा मानते हैं परन्तु) वह दु:ख नहीं है। नारकी को दु:ख उस संयोग पर लक्ष्य जाता है, वह दु:ख है। उस संयोग का दु:ख नहीं है। संयोग तो उसे स्पर्श भी नहीं करते। आहाहा! ऐसे तलवार मारे या ऐसे काटे, वह तो छूता भी नहीं। उसका उसे किसी को दु:ख है ही नहीं। मात्र उस समय 'मुझे ऐसा करता है', ऐसा जो अरुचि का द्वेष होता है, उस द्वेष का वेदन करता है, वह दु:ख है। आहाहा! बात-बात में अन्तर। आहाहा!

इसी प्रकार यह चूरमा का लड्डू खावे, उसका स्वाद आता है, वह बिल्कुल नहीं, क्योंकि वह तो जड़ है और यह चैतन्य है। अरूपी, रूपी को स्पर्श किस प्रकार करे ? यह तो रूपी, रूपी को स्पर्श नहीं करता। परमाणु रूपी, दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता तो भगवान आत्मा अरूपी वह कर्मरूपी लड्डू को स्पर्श कैसे करे ? मात्र उस पर लक्ष्य जाने

पर 'यह ठीक है' ऐसा जो राग करे, उस राग को वेदन करता है। लड्डू का वेदन नहीं करता, लड्डू को नहीं खाता। आहाहा! पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **दरिद्र क्वचित् कदाचित् पुण्योदय से निधि को पाकर,...** यहाँ तो आचार्य ने स्पष्ट बात की है।

मुमुक्षु : पैसे को निधि कहा, इतनी तो पैसेदार को राहत रहे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : निधि के उसमें क्या? निधि तो पत्थर को कहते हैं, उसमें क्या है? पारसमणि को पारसमणि कहे। वह तो पत्थर कहा, उसमें क्या हुआ? पारसमणि भी पत्थर है। नाम बड़ा दिया, उसमें क्या हो गया? कि यह मणि है और यह माणेक है और यह मोती है, परन्तु उसमें बड़ा क्या हो गया? उसमें स्पर्शा क्या और उसका क्या हो गया?

मुमुक्षु : पैसा अधिक...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं पैसे। आते नहीं और जाते भी नहीं और छूते भी नहीं। आहाहा! अरे! पूरी दुनिया से अन्तर है। वीतराग का मार्ग परमेश्वर वीतराग तीन लोक के नाथ का मार्ग पूरा अलग है। आहाहा! दुनिया मजाक करे ऐसा है। स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह तलवार से सिर काटे, वह तलवार सिर को स्पर्श नहीं करती और सिर कटता है? यह तो यहाँ क्रिया उसे होने का काल है। है, वह तो निमित्त है। निमित्त कुछ करता नहीं। क्योंकि निमित्त की पर्याय निमित्त में होती है और उपादान की पर्याय उपादान में होती है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। पहले इसे अभी समझ करना कठिन पड़ेगा। आहाहा!

जहाँ-तहाँ मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ... मैंने यह किया... मैंने यह किया... मुझसे यह हुआ, मुझसे यह विस्तार को प्राप्त हुआ। आहाहा! ऐसी गहरी शल्य कठोर है, प्रभु! आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है और वह तो स्व को जाननेवाला है, पर को जाननेवाला भी नहीं। आहाहा! पर को स्पर्श नहीं करता, वहाँ जाने किस प्रकार? जानना तो उसे कहा जाता है कि जिसमें तन्मय हो, उसे जानना (हुआ कहा जाता है)। अपने ज्ञान में-स्वयं स्वपर प्रकाशक ज्ञान में तन्मय है, इसलिए स्वयं अपने को जानता है। उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना अपने में होता है, अपने को जानता है। उसे नहीं जानता। आहाहा! यह आयेगा इसमें। केवलज्ञान के अधिकार में। आहाहा! बहुत बात-बात में अन्तर।

मुमुक्षु : सब अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब अन्तर है। बहुत अन्तर।

पुण्योदय से निधि को पाकर, उस निधि के फल को... यह तो समझाना है। **पुण्योदय से निधि को पाकर,...** वह पाता है, उसे मिलता है ? स्पर्श करता है ? यह तो दृष्टान्त देते हैं। **पुण्योदय से निधि को पाकर,...** अरबों रुपये का निधान मिला। अन्दर से चरा (कलश) मिला। **उस निधि के फल को सौजन्य अर्थात् जन्मभूमि ऐसा जो गुप्त स्थान उसमें रखकर अति गुप्तरूप से भोगता है;...** बाहर प्रसिद्ध करने जाए तो फिर लुटेरे लूटें। लाओ पैसा... लाओ पैसा... लाओ तुम्हारा। तुम्हारे पास बहुत पैसा है, इतना भाग लाओ, इतना लाओ। दुनिया से पूरी यह बात उलटी है। ओहोहो! यह तो दृष्टान्त है, हों! वह भोगता है और वह नहीं। उसे मिलता है, ऐसा भी नहीं।

यह तो **मनुष्य क्वचित् कदाचित् पुण्योदय से निधि को पाकर,...** कलश मिले, रत्न मिल जाए। आहाहा! **उस निधि के फल को सौजन्य अर्थात् जन्मभूमि ऐसा जो गुप्त स्थान उसमें रखकर अति गुप्तरूप से...** हमारे पास करोड़ पैसा (रुपये) हैं या अरब हैं, उसकी भी खबर नहीं पड़ने देना। आहाहा! क्योंकि खबर पड़ने देगा तो लुटेरे आएँगे। लुटेरे तो कहे, हमको दो, वह कहे हमको दो, हमको दो। यहाँ पानी का कुआँ खोदा है, यह अमुक, यह अमुक। इसलिए कहते हैं कि गुप्त रखना। मैं पैसेवाला हूँ, ऐसे बाहर प्रसिद्ध नहीं करना। आहाहा! परन्तु बहुत अन्तर, उसमें बात-बात में अन्तर है। **ऐसा जो गुप्त स्थान उसमें रखकर अति गुप्तरूप से भोगता है;...** आहाहा! **ऐसा दृष्टान्तपक्ष है।** ऐसा दृष्टान्तपक्ष से (कहा) अब सिद्धान्त दार्ष्टान्ति द्वारा समझाना हो, वह बात।

दार्ष्टान्तपक्ष से भी (ऐसा है कि)—सहजनपरमतत्त्वज्ञानी जीव... आहाहा! स्वाभाविक परमतत्त्वज्ञान को **जीव क्वचित् आसन्नभव्य के (आसन्नभव्यतारूप) गुण का उदय होने से सहजवैराग्यसम्पत्ति होने पर,...** सहज वैराग्यरूपी सम्पत्ति होने पर... आहाहा! **परम गुरु के चरणकमलयुगल की निरतिशय (उत्तम) भक्ति द्वारा...** निमित्त से बात है। **परम गुरु के चरणकमलयुगल की...** अब एक ओर कहे कि कोई एक को दे सके नहीं और एक और ऐसा लिखते हैं। यह व्यवहार के कथन बहुत होते हैं। उसे मान ले कि व्यवहार सच्चा है। व्यवहार सच्चा है। व्यवहार है अवश्य परन्तु वह व्यवहार निश्चय

को देता है, यह बात मिथ्या है। व्यवहार और निश्चय दोनों नय हैं। नय है तो नय का विषय है। दोनों विषयी हैं तो उनका विषय है परन्तु वह एक विषय आदरनेयोग्य नहीं है और जाननेयोग्य है तथा एक आदरणीय है, ऐसी दो बातें हैं। आहाहा! व्यवहारनय नहीं है, ऐसा नहीं है। व्यवहारनय झूठा है, बात सही, परन्तु है अवश्य। आहाहा!

परम गुरु के चरणकमलयुगल की निरतिशय (उत्तम) भक्ति द्वारा मुक्तिसुन्दरी के मुख के... आहाहा! उसे तो यह करना, कहते हैं। भले अरबों रुपये मिले हों। आहाहा! सहज भक्ति द्वारा **मुक्तिसुन्दरी के मुख के मकरन्द समान... मकरन्द=पुष्प-रस; पुष्प-पराग। सहजज्ञाननिधि को पाकर...** आहाहा! अपना सहज स्वभाव, वह ज्ञानस्वरूपी नित्य, जो ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा, जिसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं और जो स्वभाव से खाली नहीं, ऐसी निधि को पाकर। आहाहा! **सहजज्ञाननिधि को पाकर, स्वरूपविकल ऐसे पर जनों के समूह को ध्यान में... 'स्वरूपविकल=स्वरूप प्राप्ति रहित; अज्ञानी।...' ऐसे पर जनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण समझकर छोड़ता है।** पर का संग छोड़ता है। भले अरबों रुपये मिले, तो वह छोड़ देता है। अकेला रहता है। ऐसे ज्ञाननिधि मिली, मुझे यह मिला इसलिए तुम मेरा संग करो। यह तो कहते हैं संग करेगा तो पाप बँधेगा। आहाहा! परद्रव्य का संग, असंग का संग, असंगी ऐसा भगवान आत्मा, उसे परद्रव्य के संग में जोड़ना नहीं, ऐसा कहते हैं। बात-बात में अन्तर। आहाहा! ऐसी वीतराग के मार्ग की पद्धति है, बापू! आहाहा! मुनियों ने स्पष्ट करके रखा है, दुनिया-समाज मानेगी या नहीं? या समाज सुगठित रहेगी या नहीं? यह दरकार नहीं की है। यह मार्ग है। यह समझना हो वह समझ लो। आहाहा! करने का यह एक ही है कि अन्दर में जाना और स्थिर होना है। आत्मा को जानकर, श्रद्धा करके स्थिर होना, यही कर्तव्य है। बाकी कथा करना और यह करना और वह करना, वह कोई आत्मा का कर्तव्य नहीं है। आहाहा!

स्वरूपविकल ऐसे पर जनों के समूह को ध्यान में... संग होने पर तुझे विकल्प उठेगा। **ध्यान में विघ्न का कारण समझकर छोड़ता है।** आहाहा! असंगपना प्रभु तेरा तत्त्व, उसे संग के कारण विकल्प उठेगा। संग के कारण अधर्म आयेगा। आहाहा! असंग रहे, संग को छोड़ दे, तज दे। आहाहा! असंग ऐसा तेरा तत्त्व, उसमें रम, वह तेरी मुक्ति का कारण है। आहाहा! दूसरे को समझा दूँ और बहुत समझे तो मुझे लाभ हो, यह बात नहीं है।

मुमुक्षु : बहुत जजों को समझाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई समझाता नहीं; मानता है। आहाहा! यह वकालात भी वकालातरूप से नहीं करता। यह वाणी, वाणी के कारण से होती है। आहाहा! कठिन काम। एक समय की पर्याय, उस-उस द्रव्य की उस-उस समय में (होती है)। पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता, तुझे उसकी पर्याय करना है, यह क्या है? आहाहा! किसी भी मनुष्य को, जीव को या जड़ को उसकी वर्तमान पर्याय रहित वह नहीं होता, तो तुझे उसकी पर्याय करनी है? क्या करना है तुझे? आहाहा! गजब बात है, भाई! आहाहा!

अनन्तानन्त द्रव्य हैं, उतनी ही अनन्त-अनन्त स्व पर्याय है। पर्यायरहित द्रव्य किसी काल में तीन काल में नहीं है। कोई पर्याय नहीं और अकेला द्रव्य ही है, ऐसा तीन काल में कभी नहीं है। पर्याय नहीं तो द्रव्य भी नहीं। क्योंकि पर्याय से तो द्रव्य सिद्ध होता है। पर्याय नहीं तो द्रव्य भी नहीं। आहाहा! अनन्त द्रव्य अपनी पर्यायसहित रहे हुए हैं, वे निकम्मे पड़े नहीं हैं। निकम्मे अर्थात् पर्यायरूपी कार्य से रहित नहीं हैं, तो उनका कार्य तुझे करना है? आहाहा! ऐसी बातें हैं। अधिकार आवे तब यह बात चले न! आगे दूसरा होवे तब... आहाहा!

(संवत्) १९६९ का वर्ष। दीक्षा लेने से पहले देखने गये। 'गढ्डे', हमारा गाँव है न? तो गढडा में स्वामी नारायण का बड़ा मन्दिर, वह देखने गये। देखने गये तो उसे ख्याल तो अवश्य कि यह दीक्षा लेनेवाले हैं और शरीर छोटा, रूपवान, बाईस वर्ष की उम्र। इसलिए वह ऐसा बोले, ईश्वर के बिना पत्ता नहीं हिलता। इस जगत में ईश्वर के बिना पत्ता नहीं हिलता। वह माने कि यह जैन है। इसे बेचारे को कुछ भान नहीं होता। ईश्वर के बिना पत्ता नहीं हिलता। पत्ते की पर्याय के अनन्त जीवों को दूसरा जीव उन्हें हिलाता नहीं। आहाहा! अब यह बात... उसके बाबा थे। वे नहाते थे। हम सब देखने गये। मकनभाई है न? वह और मैं दोनों देखने गये थे। मैंने कहा, यह गप्प मारता है। स्वामी नारायण का बाबा होकर गजब काम करता है ऐसा! ईश्वर के बिना पत्ता नहीं हिलता, ईश्वर से ही सब होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : जैन लोग कर्म को मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे सब कर्म को माने, वह का वह प्रकार है। कर्म से होता है और

कर्म से मुझे विकार होता है, कर्म मुझे भटकाता है। वह की वह मिथ्यात्व की जाति है। वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! आहाहा! यह वहाँ कोई व्यापार-व्यापार में नहीं मिलता। कपूरभाई! वहाँ व्यापार में मिलता नहीं, वहाँ कलकत्ता में। आहाहा! अरे रे! यह बात सुनकर अन्तर में इसे रुचना... आहाहा! अनन्त काल का कर्ज निकाल डालना है।

यहाँ तो कहते हैं **सहजज्ञाननिधि को पाकर स्वरूपविकल ऐसे पर जनों के समूह को...** आहाहा! स्वरूप के अजान-अज्ञानी जो कुछ का कुछ बोलेंगे, कुछ का कुछ करेंगे। उनको **ध्यान में विघ्न का कारण समझकर छोड़ता है**। आहाहा!

श्लोक-२६८

[अब इस १५७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:]

(शालिनी)

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः,
लब्ध्वा पुण्यात्काञ्चनानां समूहम् ।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्त-सङ्गो,
ज्ञानी तद्वत् ज्ञान-रक्षां करोति ।।२६८।।

(वीरछन्द)

ज्यों लौकिक जन धन पाकर परसंग तजें अरु गुप्त रहें।
इस प्रकार ज्ञानीजन भी निज ज्ञान-निधि रक्षण करते॥२६८॥

[श्लोकार्थ:] इस लोक में कोई एक लौकिक जन पुण्य के कारण धन के समूह को पाकर, संग को छोड़कर गुप्त होकर रहता है; उसी की भाँति ज्ञानी (पर के संग को छोड़कर गुप्तरूप से रहकर) ज्ञान की रक्षा करता है॥२६८॥

श्लोक - २६८ पर प्रवचन

अब इस १५७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं:—

अस्मिन् लोके लौकिक: कश्चिदेक:,
लब्ध्वा पुण्यात्काञ्चनानां समूहम्।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्त–सङ्गो,
ज्ञानी तद्वत् ज्ञान–रक्षां करोति।।२६८।।

श्लोकार्थ: आहाहा! **इस लोक में कोई एक लौकिक जन पुण्य के कारण...** आहाहा! है न? **पुण्यात्काञ्चनानां। धन के समूह को पाकर,...** लो! इसमें तो स्पष्ट बात है। पुण्य पैसे में निमित्त है। आत्मा का पुरुषार्थ या समाज का बंटवारा का काम नहीं है। समाज को विभाजन करना नहीं आता, इसलिए (यह सब बराबर नहीं है, ऐसा कहते हैं) आहाहा! बात यह है कि पण्डित को पुण्य कम होवे न, कम पुण्यवाले हम हल्के और बड़े पुण्यवाले बड़े हैं, ऐसा नहीं होना चाहिए। इसलिए पुण्य के कारण नहीं, (ऐसा सिद्ध करना है)। पुण्य के कारण भले बड़े हों। इसमें आत्मा का क्या भला हुआ? और तुझे उसमें नुकसान क्या हुआ? अरबोंपति भले हो। आहाहा!

वहाँ अपने नहीं, नैरोबी? एक गाँव में साढ़े चार सौ तो करोड़पति। साढ़े चार सौ। और पन्द्रह तो अरबपति। सौ करोड़ ऐसे पन्द्रह। एक आया था। श्वेताम्बर का रतिलाल आया था। उसने ऐसा कहा कि यह आपके दिगम्बर मण्डल के लोग हमारे श्वेताम्बर मन्दिर में नहीं आते और प्रतिमा के दर्शन नहीं करते। उसे वहाँ कहाँ कहना। कहा, तत्त्वज्ञान समझने के बाद व्यवहार समझ में आयेगा। उसे दूसरा क्या कहना? कि यह खोटा है, ऐसा कहना? तत्त्वज्ञान वस्तु बापू! पहले समझो, फिर तत्त्वज्ञानी को व्यवहार कैसा होता है, वह व्यवहार बाद में समझ में आयेगा। आहाहा! बेचारा सुनता था। वापस वहाँ भी आया था, मुम्बई आया था। मलाड। देश में आया था। आहाहा! परन्तु यह किसे पड़ी है, कोई घड़ी, दो घड़ी जाकर आवे। जो कुछ बात उल्टी सीधी करके समय व्यतीत कर चले आवें। आहाहा!

किस समय आकर देह छूट जाएगी, आहाहा! बैठे-बैठे कुछ न हो और फूं.. हो जाए। आहाहा! स्वरूपचन्द कहता था। मलकापुर का स्वरूपचन्द लड़का है, अभी विवाह हुआ है। कुँवारा था तब दस-दस हजार का बड़ा कपड़े का व्यापारी। मोक्षमार्गप्रकाशक जिसे पूरा कण्ठस्थ। मलकापुर का स्वरूपचन्द है। वह कहता था कि मेरा मित्र अट्ठाईस वर्ष का और मैं, ऐसे दोनों बैठे थे। कुछ नहीं हुआ, बातें करते थे। ऐसे फूं.. हुआ। ऐसा देखा वहाँ मर गया। कुछ करता, कुछ नहीं। एक रोग नहीं, कुछ नहीं, कोई पीड़ा नहीं। ऊंहकार नहीं। कुछ नहीं, ऐसे फूं... हुआ। ऐसा देखा वहाँ मर गया। आहाहा! स्वरूपचन्द है। लड़का होशियार है, मस्तिष्कवाला है। मलकापुर में। मलकापुरवाला है कोई? रमेश है। आहाहा! किसे-किसे करना? किस क्षण में, किस समय में... संयोगी चीज़, क्षेत्र अलग, काल अलग, भाव अलग। ऐसे तत्त्व के साथ इस तत्त्व का काल अलग, भाव अलग, स्थल अलग। आहाहा! यह कब स्फुरित होगा? कहते हैं कि वह सब विचार करके सत् ज्ञाननिधि को पाकर। आहाहा! ऐसे जनों को ध्यान में विघ्न का कारण जानकर छोड़ दे। वे उल्टे-टेढ़े कुतर्क करनेवाले बहुत मिलेंगे। आहाहा! ऐसे कुतर्क को सुनना छोड़ दे। आहाहा!

यहाँ यह कहा, **लोक में कोई एक लौकिक जन पुण्य के कारण धन के समूह को पाकर, संग को छोड़कर गुप्त होकर रहता है; उसी की भाँति ज्ञानी (पर के संग को छोड़कर गुप्तरूप से रहकर) ज्ञान की रक्षा करता है**। आहाहा! वह विज्ञापन नहीं करता कि हमें ऐसा हुआ, हमें ऐसा हुआ... हमें ऐसा हुआ... हमें ऐसा हुआ। गुप्तरूप से स्वयं ज्ञान को भोगता है। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२६९

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा सङ्गं जननमरणातङ्कहेतुं समस्तं,
कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानन्दनिर्व्यग्ररूपे,
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयामः ।।२६९।।

(वीरछन्द)

जन्म-मरण रोगों का कारणभूत सकल पर-संग तजें।
हृदयकमल में बुद्धिपूर्वक पूर्ण विरक्ति भाव धरें॥
सहज परम आनन्द निराकुल निज में थिर पुरुषार्थ करें।
मोह क्षीण होने पर जग को नित हम तृण समान निरखें॥२६९॥

[श्लोकार्थः] जन्म-मरणरूप रोग के हेतुभूत समस्त संग को छोड़कर, हृदयकमल में [१]बुद्धिपूर्वक पूर्णवैराग्यभाव करके, सहज परमानन्द द्वारा जो अव्यग्र (अनाकुल) है, ऐसे निज रूप में (अपनी) [२]शक्ति से स्थित रहकर, मोह क्षीण होने पर, हम लोक को सदा तृणवत् देखते हैं॥२६९॥

प्रवचन-१८२, श्लोक-२६९, गाथा-१५८, मंगलवार, अषाढ़ शुक्ल ३, दिनांक १०-०७-१९८०

नियमसार २६९ कलश। २६८ चला है।

त्यक्त्वा सङ्गं जननमरणातङ्कहेतुं समस्तं,
कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानन्दनिर्व्यग्ररूपे,
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयामः ।।२६९।।

---

१. बुद्धिपूर्वक=समझपूर्वक; विवेकपूर्वक; विचारपूर्वक।
२. शक्ति=सामर्थ्य; बल; वीर्य; पुरुषार्थ।

श्लोकार्थ: आहाहा! **जन्म-मरणरूप रोग के हेतुभूत समस्त संग को छोड़कर,...** आहाहा! समस्त में कोई बाकी नहीं रखा। **जन्म-मरणरूप रोग के हेतुभूत...** एक स्वचैतन्यमूर्ति भगवान के अतिरिक्त कोई भी परद्रव्य, **समस्त संग को छोड़कर,...** आहाहा! शुद्ध उपयोगरूपी आत्मा, जिसके संग से शुद्धोपयोग होता है, उस एक के अतिरिक्त दूसरे सब कोई संग करनेयोग्य नहीं हैं। आहाहा! एक से दूसरा संग करने से राग होता है। आहाहा! १००वीं गाथा में तो कहा है। इसमें १००वीं गाथा है न? आहाहा! १००वीं गाथा है? आहाहा! १००वीं गाथा है, उसका कलश है, कलश। आहाहा! १०० के बाद कला है। आहाहा! १३५ कलश है। १३५ है? १३५।

मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्ध ज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मद्वंद्व के संन्यास काल में (अर्थात् प्रत्याख्यान में), संवर में और शुद्ध योग में (शुद्धोपयोग में) वह परमात्मा ही है... पूर्ण स्वरूप परमात्मा ही एक ही आश्रय है। आहाहा! है? **(अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सभी का आश्रय—अवलम्बन शुद्धात्मा ही है); मुक्ति की प्राप्ति के लिये जगत में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, नहीं है।**—ऐसा शब्द है। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर या पंच परमेष्ठी मुक्ति की प्राप्ति के लिये जगत में दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है। दो बार कहा है नहीं है, नहीं है। आहाहा! एक चैतन्य भगवान शुद्ध स्वभाव से भरपूर, उसके-एक के ही आश्रय के अतिरिक्त कोई मुक्ति का उपाय-धर्म नहीं है। धर्म की शुरुआत—सम्यग्दर्शन का आश्रय भी त्रिकाली आत्मा, केवलज्ञान का भी आश्रय त्रिकाली आत्मा। एक ही त्रिकाली आत्मा का आश्रय एक ही है, दूसरा नहीं, नहीं। दो बार कहा है। आहाहा! सब इसमें जरा आगे ले गये हैं। आहाहा! शुद्धोपयोग में एक ही है। उसके पहले भी दूसरे सब कलश लिये हैं। श्लोक है न। १७७ पृष्ठ। उसके पहले। सामने पहले पृष्ठ पर।

वही एक (वह चैतन्यज्योति ही एक) परम ज्ञान है... है? आहाहा! उसके पहले पेज पर। **वही एक (वह चैतन्यज्योति ही एक) परम ज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।** आहाहा! पश्चात भी कहा **सत्पुरुषों को वही एक नमस्कारयोग्य है...** गजब बात है। पंच परमेष्ठी भी नमस्कार करने के योग्य है, उसमें राग होता है। आहाहा! विकल्प है। **सत्पुरुषों को वही एक नमस्कारयोग्य है, वही एक मंगल है,...** अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, यह सब तो व्यवहार है। आहाहा!

जहाँ-तहाँ मांगलिक करते हैं न ? दुकान माँडे तो मांगलिक करे तो दुकान चले।

मुमुक्षु : उसके कारण से चले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा माने। वेविशाल करे वह ठीक चले, इसलिए मांगलिक करो। विवाह करे तो मांगलिक करो। गहने चढ़ाने जाए तो मांगलिक करो। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि सत्पुरुष को वही एक नमस्कार करनेयोग्य है। यह क्या कहते हैं ? पंच परमेष्ठी को नमस्कार करनेयोग्य, वह विकल्प है। आहाहा! १६ गाथा है न ? फिर पूरी बात कहेंगे। आहाहा! **सत्पुरुषों को वही एक नमस्कारयोग्य है,...** भगवान आत्मा। आहाहा! **वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक शरण है।** आहाहा! उसमें मांगलिक जो किया, वह अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं,... केवलीपण्णत्तो धम्मो मंगलं, वह सब व्यवहार है। वह तो विकल्प है। आहाहा! भगवान आत्मा एक ही शरण है। यही यहाँ कहते हैं। चलता कलश।

जन्म-मरणरूप रोग के हेतुभूत समस्त संग को छोड़कर,... समस्त संग आया न ? कोई संग उसमें बाकी रहा ? आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं एक बाकी रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं तो... आहाहा! लोगों को कठिन लगता है। सब तुझमें ही भरा है, बापू! एक दृष्टि कर तो छलके ऐसा है। आहाहा! ऐसा पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु, तुझे दूसरा कोई शरण नहीं है। आहाहा! दूसरे संग को छोड़कर... यहाँ तो यह कहा, देखो न! दूसरे संग में तो भगवान आये या नहीं ? आहाहा!

मुमुक्षु : छह द्रव्यों में से कोई द्रव्य बाकी नहीं रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई बाकी नहीं रहा। एक यह आ गया।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर शुद्धोपयोग का कारण यह एक ही है। बाकी तो शुभ-अशुभराग का कारण है, वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! लोगों को ऐसा सुनते हुए (ऐसा लगता है कि) सम्प्रदाय कैसे चले ? सम्प्रदाय चलाना है या तत्त्व करना है ? बापू! आहाहा! अरे! सुनने को मिले ऐसा नहीं है। हरिभाई! पहले यह करना। आहाहा!

जन्म-मरणरूप रोग के हेतुभूत समस्त संग... पर के संग से राग होगा। राग होगा

तो बन्धन होगा। आहाहा! **हृदयकमल में...** पर का संग छोड़कर अब **हृदयकमल में बुद्धिपूर्वक पूर्णवैराग्यभाव करके,...** आहाहा! बुद्धि अर्थात् समझपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, विवेकपूर्वक भेदज्ञान करके... आहाहा! पूर्ण वैराग्यभाव कर। वैराग्य, वह भी पूर्ण। पर का संग भी पूर्ण छोड़ना और वैराग्य भी पूर्ण करना। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है ? लोग बेचारे सम्प्रदाय में पड़कर मरकर चार गति में भटकने जाएँगे। आहाहा!

यहाँ तो चैतन्यमूर्ति भगवान अनन्त चमत्कारिक गुण से भरपूर है, वह परमेश्वर है, प्रभु है। उसमें प्रभु नाम का एक गुण है कि जिससे अनन्त गुण को प्रभु बनाया है। आहाहा! ऐसा जो प्रभु का प्रभु स्वयं, उसके सन्मुख देखकर उपयोग कर; बाकी दूसरा छोड़ दे। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! इसमें तुम्हारे पैसा-बैसा और हीरा-फीरा तो कहीं रह गये, धूल। आहाहा! लाख दो लाख दान में दिये तो धर्म हो जाएगा। तीन काल में धर्म नहीं। लाख क्या, करोड़ दे न! शुभभाव है, संसार है। शुभभाव, वह संसार है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु!

मुमुक्षु : आप शुभभाव कहकर रुक जाओ तो दिक्कत नहीं। संसार मत कहो। शुभभाव को संसार नहीं कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार, संसार पूरा भटकेगा, बापू! आहाहा! अकेला मरे, अकेला जन्मे, अकेला जीवे। कोई सहायक नहीं। यह पहले आ गया। यह सब आजीविका के लिये ठगों की टोलियाँ तुझे मिली है, बापू! तुझे खबर नहीं। तुझे स्त्री प्रिय लगती है, पुत्र प्रिय लगता है। वह आजीविका के ठगों की टोलियाँ है। पहले आ गया है। आहाहा!

यहाँ तो समस्त संग में पंच परमेष्ठी का संग भी छोड़कर, यह असंग परमेश्वर है। यह पंच परमेश्वर तुझमें स्थित हैं। आहाहा! तू अरिहन्त है, तू सिद्ध है, तू आचार्य है, तू उपाध्याय, साधु तू है। आहाहा! अन्दर तेरे स्वभाव में पाँचों ही पद भरे हुए हैं। आहाहा! मात्र तेरी नजर वहाँ करने से पर्याय में आवे ऐसा है। बाकी कहीं दूसरा कोई उपाय नहीं है। दुनिया भले एकान्त कहे। है नय का विषय एकान्त ही, सम्यक् नय का विषय एकान्त ही है। आहाहा!

बुद्धिपूर्वक पूर्णवैराग्यभाव... देखा! पूर्ण वैराग्य अर्थात् पर की ओर से बिल्कुल उदास। आहाहा! पंच परमेष्ठी की ओर से भी परम उदास, परद्रव्य की ओर से उदास, स्वद्रव्य की ओर रहने में तत्पर। आहाहा! अरे! अभी ऐसा सुना नहीं होगा और जैन कहलाते हो। हम स्थानकवासी हैं और मन्दिरमार्गी हैं, हम दिगम्बर हैं। बापू! कब था ? जैन

किसे कहना, यह अभी तूने सुना नहीं और इसके बिना चौरासी के अवतार, यहाँ से मरकर जाएगा कहीं। आहाहा! बहुत तो सुअर और कौआ और कुत्ता होनेवाले हैं। अरे! चैतन्य प्रभु का आदर नहीं किया और उसके अतिरिक्त पर का आदर किया वह तो संसार है। शुभराग, वह भी घोर संसार है। आहाहा! दुनिया को पसन्द आवे, न आवे, ऐसा कठिन पड़े...

यहाँ यह कहते हैं, **पूर्णवैराग्यभाव करके, सहज परमानन्द द्वारा...** आहाहा! अन्तर भगवान सहज आनन्द परमानन्द भरा है। प्रभु! तुझमें विकल्प का दुःखमात्र नहीं। विकल्प उठा, वह तो दुःख है। निर्विकल्प तत्त्व अन्दर **सहज परमानन्द द्वारा जो अव्यग्र (अनाकुल) है...** आहाहा! स्वाभाविक परमानन्द द्वारा भगवान आत्मा अव्याकुल है। आहाहा! अनाकुल है। कोई व्याकुलता नहीं, उसे अन्दर कोई आकुलता है नहीं। आहाहा! बाहर की बड़ी पंचायत लेकर बैठा। आहाहा!

यह तो कहते हैं **सहज परमानन्द द्वारा...** स्वाभाविक परमानन्द का धनी प्रभु **जो अव्यग्र (अनाकुल) है, ऐसे निज रूप में...** आहाहा! सन्तों के एक-एक शब्द गजब काम करते हैं! दिगम्बर मुनियों की बात (अर्थात्) परमेश्वर के घर की बात। परमेश्वर तीन लोक के नाथ के मुख से (निकली हुई) दिव्यध्वनि, वह सन्तों की दिव्यध्वनि है। बाकी सब जपजाल है परन्तु जँचे कैसे? जिसमें पड़ा है, उसमें से छूटना / निकलना कठिन पड़ता है। आहाहा! भाई चले गये? ठीक! क्या कहा?

सहज परमानन्द द्वारा जो अव्यग्र (अनाकुल) है... कौन? ऐसा निजरूप। आहाहा! यह निजरूप अन्दर भगवान... आहाहा! स्वाभाविक परमानन्द द्वारा जो अव्यग्र अर्थात् अनाकुल, स्वाभाविक ऐसे निजरूप में **(अपनी) शक्ति से...** आहाहा! सामर्थ्य से, बल, वीर्य, पुरुषार्थ से। **स्थित रहकर,...** अपने पुरुषार्थ से स्थित रहकर। किसी की मदद बिना। व्रजनाराचसंहनन मिले और मनुष्यपना होवे तो ही केवल (ज्ञान) हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! कुचामन का एक पण्डित आया था। वह कहे कि मनुष्यपने बिना नहीं मिलता। सुन, बापू! मनुष्यपने बिना क्या? व्रजनाराचसंहनन की उसे आवश्यकता नहीं है। वह तो पूरा-पूरा भगवान स्वतन्त्र भरा है।

'नजर के आलस्य से रे तूने नैनों निरख्या न हरि।' तेरी नजर के आलस्य से हरि को नहीं देखा। हरि अर्थात् आत्मा। पंचाध्यायी में आत्मा को हरि कहा है। पंचाध्यायी।

हरते इति हरि। राग और द्वेष तथा अज्ञान को हरे, ऐसा भगवान, वह हरि है—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! अपने स्वरूप में स्थिर हो, वह हरि। अब ऐसी बातें! उसमें लोग बहुत इकट्ठे हों। आहाहा! क्या करते हैं, कहते हैं यह ? वीतराग का ऐसा मार्ग है। उसमें दिगम्बर सन्तों की वाणी तो तीन लोक के नाथ परमात्मा के मुख से निकली हुई वाणी है। कठिन पड़े परन्तु बापू! मार्ग तो यह है, प्रभु! आहाहा!

क्या कहा ? निज परमानन्द द्वारा... आहाहा! **निज रूप में (अपनी) शक्ति से स्थित रहकर, मोह क्षीण होने पर,...** आहाहा! एक कलश में तो गजब काम करते हैं। **मोह क्षीण होने पर, हम लोक को सदा तृणवत् देखते हैं।** पूरी दुनिया, इन्द्र के राज सड़े हुए तृण जैसा देखते हैं, कहते हैं। प्रभु के अनाकुल आनन्द के समक्ष, अनाकुल आनन्द की अन्तर्दृष्टि के समक्ष, उसकी प्राप्ति हुई, उसके समक्ष सम्पूर्ण इन्द्र के इन्द्रासन तृणवत् देखते हैं, कहते हैं। आहाहा! अभी तो पैसेवाले का बोलवाला। पैसा अधिक खर्च करे-दस लाख, पाँच लाख,... आहाहा! गजब भाई! अब उसमें धूल में क्या पाँच-दस लाख में ? आहाहा! बड़ी रकम दे, उसकी कीमत अधिक। वह संघ में बड़ा कहलाये। यहाँ कहते हैं कि आत्मा में अन्दर स्थिर हो, वह बड़ा कहलाये। आहाहा! वह स्थिर हो, वह शुभ-अशुभराग भी नहीं। आहाहा! हीरालालजी! ऐसी बात है, भाई! आहाहा!

प्रभु विराजता है न अन्दर, कहते हैं। आहाहा! परमात्मा साक्षात् अन्दर विराजता है। आहाहा! उसे छोड़कर—मोह क्षीण करके हम लोक को सदा... आहाहा! लोक शब्द में बाकी क्या रहा ? आहा! इन्द्र के इन्द्रासन सड़े हुए तृण जैसे हैं, बापू! आहाहा! **लोक को सदा तृणवत्...** तृण, तृण, छिलका। आहाहा! **तृणवत् देखते हैं।** प्रभु को अवलोकन करते हुए जगत को तृणवत् अवलोकन करते हैं, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार दो की तुलना करने पर (ऐसा है)। प्रभु पूर्णानन्द के नाथ का उपयोग जहाँ अन्दर करने पर... आहाहा! पूरी दुनिया तृणवत् दिखाती है। आहाहा! उस ज्ञान में स्व-पर ज्ञात हो, इस अपेक्षा से। बाकी तो स्वयं ही अन्दर पूर्ण ज्ञात होता है। आहाहा! लो! यह २६९ कलश (पूरा) हुआ। आहाहा! अब इसमें वाद-विवाद करके साथ करना ?

मुमुक्षु : इसमें इनकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरे उपयोग के अतिरिक्त कोई तुझे कुछ लाभदायक नहीं है। भगवान तीन लोक के नाथ भी तुझे लाभदायक नहीं हैं। बात आवे,

गुरु उपदेश द्वारा (प्राप्त होता है), यह देशनालब्धि की बात आवे, तथापि उससे प्राप्त होता है—ऐसा नहीं है। देशनालब्धि आती है परन्तु, गुरु के उपदेश से, गुरु के प्रसाद से, गुरु की मेहरबानी से ऐसे शब्द भी आते हैं। उसका अर्थ यह है कि जो परम पवित्र परमात्मा को प्राप्त हुए हैं, उनकी वाणी तुझे निमित्त होगी। निमित्त होने का अर्थ ? उससे होता नहीं है। तुझे तुझसे होगा, तब उसे निमित्त कहा जाएगा। आहाहा! अब फिर ऐसा (सुनकर) सोनगढ़ में कौन आवे ? और आवे तो उसे कठिन लगे। ऐसा कहते हैं ? आहाहा! अन्यत्र कहाँ है ? भाई! कहीं नहीं है।

मुमुक्षु : इसका पेट बहुत बिगड़ा है तो कठोर रेच होवे तो अच्छा हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठोर रेच तो यह है। आहाहा!

तेरे चैतन्य के उपयोग के अतिरिक्त किसी संग से तुझे धर्म का लाभ हो, ऐसा वीतरागमार्ग में है नहीं। आहाहा! पश्चात् चाहे जितने कथन आवें, वाणी आवे, व्यवहार के लेख आवें... आहाहा! तू तो अनन्त गुण से भरपूर भगवन्त परमेश्वस्वरूप, वह परमेश्वर दूसरे की शरण ले, यह पामरता उसे नहीं होती, प्रभु! आहाहा! उस प्रभु को दूसरे की पामरता की आवश्यकता नहीं होती। आहाहा!

यहाँ तो **समस्त संग को छोड़कर,...** हम पूरे लोक को सदा तृणवत् अवलोकन करते हैं। लोक को सदा। लोक में बाकी कौन रह गया ? आहाहा! प्रभु के अतिरिक्त मुझे तो कहीं दूसरी चीज़ में रुचि नहीं होती, इसलिए तृणवत् गिनते हैं, कहते हैं। आहाहा! भाषा तो भाषा मुनियों की! मुनि हैं, हों! यह आचार्य नहीं। पद्मप्रभमलधारिदेव (आचार्य नहीं)। आहाहा! **हम लोक को...** हमारे अतिरिक्त लोक को... आहाहा! **सदा तृणवत् देखते हैं।** आहाहा! मुनियों की भाषा जगत को कठिन पड़े ऐसी है।

मुमुक्षु : यह दूसरे को तृणवत् गिने, इसमें अभिमान नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तृणवत् गिने, इसमें आत्मा का अभिमान है। अहंपना मैं परमात्मा हूँ, मेरी पूर्णता के लिये मुझे किसी की अपेक्षा नहीं है। मेरी पूर्णता के लिये मुझे किसी की सहायता नहीं है ऐसा उस स्वरूप की प्रतीति और अनुभव का जोर है। आहाहा! ऐसा है। कठिन लगे। आहाहा! पहले भी आया था। तृणवत् देखते हैं। कहीं आया अवश्य था। **लोक को सदा तृणवत् देखते हैं।**

गाथा-१५८

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा।।१५८।।

सर्वे पुराण-पुरुषा एव-मावश्यकं च कृत्वा।
अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः।।१५८।।

परमावश्यकाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम्। स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपं बाह्यावश्यकादिक्रियाप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयपरमावश्यकं साक्षादपुनर्भववाराङ्गनानङ्गसुखकारणं कृत्वा सर्वे पुराणपुरुषस्तीर्थकरपरमदेवादयः स्वयम्बुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धाश्चाप्रमत्तादि-सयोगिभट्टारकगुणस्थानपङ्क्तिमारूढाः सन्तः केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः परमावश्यका-त्माराधनाप्रसादात् जाताश्चेति।

यों सर्व पौराणिक पुरुष आवश्यकों की विधि धरी।
पाकर अरे अप्रमत्त स्थान हुए नियत प्रभु केवली॥१५८॥

अन्वयार्थ : [सर्वे] सर्व [पुराणपुरुषाः] पुराण पुरुष [एवम्] इस प्रकार [आवश्यकं च] आवश्यक [कृत्वा] करके, [अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं] अप्रमत्तादि स्थान को [प्रतिपद्य च] प्राप्त करके [केवलिनः जाताः] केवली हुए।

टीका : यह, परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का कथन है।

स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप ऐसा जो बाह्य-आवश्यकादि क्रिया से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय-परमावश्यक—साक्षात् अपुनर्भवरूपी (मुक्तिरूपी) स्त्री के अनंग (अशरीरी) सुख का कारण—उसे करके, सर्व पुराण पुरुष—कि जिनमें से तीर्थंकर-परमदेव आदि स्वयंबुद्ध हुए और कुछ बोधितबुद्ध हुए वे—अप्रमत्त से लेकर सयोगीभट्टारक तक के गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ होते हुए, परमावश्यकरूप आत्माराधना के प्रसाद से केवली—सकलप्रत्यक्षज्ञानधारी—हुए।

गाथा - १५८ पर प्रवचन

अब १५८ गाथा। आवश्यक (अधिकार) की यह अन्तिम गाथा।

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ।।१५८।।

आहाहा! पंचम काल के सन्त हैं परन्तु ठेठ केवली की बातें करते हैं। केवली... केवली... केवली... केवली... आहाहा! नीचे (हरिगीत)

यों सर्व पौराणिक पुरुष आवश्यकों की विधि धरी।
पाकर अरे अप्रमत्त स्थान हुए नियत प्रभु केवली॥१५८॥

आहाहा! ऐसा आवश्यक करके। आहाहा! आवश्यक-अवश्य का अपना आत्मा का उपयोग करना, वही अवश्य एक ही आवश्यक है। आहाहा! एकान्त लगे। नयाभास जैसा कहते हैं। व्यवहार नहीं साथ में? भाई! व्यवहार है। यह कहते हैं, वह व्यवहार है, पर्याय स्वयं व्यवहार है। त्रिकाली द्रव्य निश्चय है और पर्याय प्रगट हो केवलज्ञान, वह स्वयं व्यवहार है। आहाहा! परन्तु वह भी सद्भूतव्यवहारनय का विषय आदरणीय नहीं है। आहाहा! आदरणीय तो तीन लोक का नाथ एक केवलज्ञान की पर्याय में, एक ज्ञान की पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय भरी है। ऐसे-ऐसे अनन्त गुण अनन्त पर्याय से भरपूर ऐसे अनन्त गुणों का एकरूप प्रभु का... आहाहा! उसे छोड़कर किसका आश्रय लेना? किसकी शरण? किसी की शरण है नहीं। आहाहा! अरिहन्ता शरणं कहा, वह व्यवहार कहा। वह विकल्प है, राग है। आत्मशरण। यह आ गया। नहीं कहा? १००वीं गाथा। आत्मा शरण, आत्मा मंगल, आत्मा उत्तम और आत्मा नमस्कार करनेयोग्य। दूसरे को नमस्कार करने योग्य भी नहीं। अर.र.र..! ऐसी भाषा! पंच परमेष्ठी को भी नमस्कार करनेयोग्य में भी शुभविकल्प है, राग है। आहाहा! कहो, हीरालालजी! ऐसा कहाँ है? कहीं सुना था? ऐसा मार्ग प्रभु का है, भाई! तुझमें क्या कमी है? कहीं कमी है? आहाहा!

मुमुक्षु : तू सब बातें पूरा है, किस बातें अधूरा?

पूज्य गुरुदेवश्री : 'प्रभु मेरे सर्व बातें पूरा, प्रभु मेरे सर्व बातें पूरा' भजन में आता

है। आहाहा! 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम, पर की आस कहाँ करे प्रीतम किस बातें तू अधूरा?' आहाहा! 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा।' आहाहा! आता है या नहीं? 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम' हे प्रिय! नाथ! पर की आशा प्रभु! तू क्या करता है? भाई! किस बात में तू अधूरा है कि पर की आशा करता है? आहाहा! एक उड़द की दाल अच्छी हो, वहाँ प्रसन्न हो, उसे ऐसा कहना कि ऐसा प्रभु तू है। पूरी दुनिया तेरे हिसाब से तृणवत् है, भाई! आहाहा! वहाँ तो एक चूरमा का लड्डू और उड़द की दाल और पतरवेलिया–अरबी के पान के, अरबी के पत्ते के पतले और ऐसे मोटे होते हैं। आटा डालकर टुकड़े करके घी में तले हों और वह पतरवेलिया और चूरमा और उड़द की दाल खाये। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा खा–खाकर तो बहुत मर गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : खाये परन्तु वह धूल है। प्रभु अमृत का सागर, वह धूल खाये? वह धूल खाता नहीं कभी। चूरमा कभी आत्मा ने खाया नहीं। मात्र उस ओर का लक्ष्य करके राग करके राग को खाया है। आहाहा! ऐसी बात! यह आत्मा दूसरे आत्मा को या दूसरे जड़ को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह तीसरी गाथा में कहा है। एक आत्मा अपने धर्म को चुम्बन करता है, दूसरे के धर्म को, दूसरे द्रव्य को चुम्बन नहीं करता। यह समयसार की तीसरी गाथा है। आहाहा! एक यह सिद्धान्त और एक क्रमबद्ध सिद्धान्त। गजब बात। हो गया। यह क्रमबद्ध का निर्णय करे, उसे ज्ञायक पर नजर जानी चाहिए। आहाहा! ऐसा अन्दर भरपूर ज्ञायक भगवान, पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण परमेश्वर... आहाहा! कैसे जँचे? सुनने को मिले नहीं, उसे कैसे जँचे? भटकने की बातें मिले। आहाहा! यह करो.. यह करो.. यह करो.. व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो। देखो न, यह मोरबी में वह हो गया, उसका कुछ करते हैं। शान्ति विधान। आहाहा! भ्रमणा का पार है! जैन में रहे होने पर भी... शान्ति विधान तो यहाँ है या वहाँ है? आहाहा! यहाँ १५८।

टीका : यह, परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का कथन है। परम आवश्यक, परम अवश्य का, परम अवश्य का। आवश्यकता जिसकी जाने, उसका वीर्य स्फुरित हुए बिना रहता ही नहीं। ऐसा परमावश्यक, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके अधिकार की यह अन्तिम गाथा है। आहाहा! दुनिया से तो मर जाए एक बार, पाटनीजी! तब जीव को जीवित माने। नहीं तो जीव को मार डाला है। उसकी अपेक्षा दूसरी किसी चीज़ को कुछ

भी अधिक विशेष, महिमावाली, महत्तावाली माना, उसने आत्मा को मार डाला है। आहाहा!

मुमुक्षु : कलश टीका में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है न, आता है। जीव को मार डाला है। कलश में कहा, मरणतुल्य कर डाला। जीव को मरणतुल्य कर डाला। मैं दया पालन करूँ, व्रत करूँ, यह मुझे लाभ होगा। मार डाला तूने आत्मा को, भाई! यह सब राग की क्रिया को तूने धर्म माना। आहाहा! वह मरणतुल्य कर डाला। कलश टीका में है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की वाणी में कहे हुए भाव बिना दूसरा कोई उपाय नहीं होता। दूसरा कोई छूटने का उपाय नहीं मिलता। आहाहा!

यह, परमावश्यक... परम जरूर का, उत्कृष्ट जरूर का, यही जरूर का। आहाहा! ऐसे **अधिकार के उपसंहार का कथन है। स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान...** आहाहा! **स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान...** परमात्मा के आश्रय से भी राग (होता है)। आहाहा! **स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान...** भगवान पूर्णानन्द का नाथ कैसे जँचे? बाहर में साधारण चीज़ जहाँ लड़का जरा अच्छा हुआ हो, वहाँ रस-रस (आ जाता है)। मानो रसगुल्ला खाता हो, ऐसा इसे रस लगता है। स्त्री कुछ ठीक मिली हो, वहाँ तो ओहोहो! अपने को मानो इन्द्राणी मिली और अपने को ओहोहो! अरे! प्रभु! पूरी दुनिया तेरे समक्ष तृणवत् है। प्रभु! तेरी कीमत की जा सके, ऐसी चीज़ नहीं है। तुझे किसी की उपमा दी जा सके, ऐसी (कोई चीज़) नहीं है। आहाहा! यह स्व-आत्मा, देखा! पहला शब्द। आहाहा! वहाँ कहाँ था? मुम्बई में ऐसा सब था? पूरे दिन हीरा की होली थी। हीरा की होली।

मुमुक्षु : इसलिए तो यहाँ आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सच्ची है। आहाहा!

पहले क्या लिया? **स्वात्माश्रित...** महा शब्द लिया। अपना आत्मा स्व-अपना आत्मा। उसके आश्रित। धर्मध्यान उसके आश्रित होता है। आहाहा! पंच परमेष्ठी के आश्रय से भी धर्मध्यान नहीं होता। आहाहा! अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सच्चे साधु। अभी तो कहाँ एक भी सच्चे हैं? आहाहा! इसलिए लोगों को कठिन पड़े न, बापू! सत्य की बात है, प्रभु! सत्य की बात से तुझे लाभ का कारण है, भाई! सत्य से तेरा

अनादर नहीं है। ऐसा नहीं मानना कि अरे! हमें साधु नहीं मानते। बापू! साधुपना वह क्या चीज़ है अभी तूने... आहाहा! अभी सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है... आहाहा! तीन लोक का नाथ आत्मा परम स्वाश्रित, स्वाश्रित दर्शन, इसके अतिरिक्त दर्शन का कोई उपाय नहीं। सम्यग्दर्शन का उपाय स्वाश्रित। आहाहा!

वह स्वाश्रित **निश्चयधर्मध्यान...** आहाहा! सच्चा धर्मध्यान, ऐसा कहा। वैसे तो धर्मध्यान को सब मानते हैं। व्रत करे, अपवास करे, रात्रिभोजन न करे, छह परबी हरितकाय न खावे, छह परबी कन्दमूल न खाये। धर्म मान बैठे वह बात अलग। रात्रिभोजन का तो त्याग ही होना चाहिए, कन्दमूल का त्याग होना चाहिए, परस्त्री का त्याग होना चाहिए। यह तो पहले में पहला नैतिक जीवन का एकड़ा है। क्या कहा? कन्दमूल का त्याग, परस्त्री का त्याग, रात्रिभोजन का त्याग। रात्रिभोजन में, बापू! उस दीपक में जीव पड़ते हैं। वह माँस का खुराक (कहलाता है)। आहाहा! यह खुराक जैन को नहीं होता। आहाहा! यह तो स्वयं ने अनुभव की हुई बात है। (संवत्) १९६४ के वर्ष की बात है। यह माल लेने गये थे और आते हुए शाम पड़ गयी। तब तक रात्रिभोजन छोड़ा नहीं था। किया तो बैठे ऐसे। दीपक और खिचड़ी तथा कढ़ी निकाली। आता है उसमें बारीक जीव दिखायी नहीं देते। ऐसे खिचड़ी-कढ़ी, बारीक जीवांत पड़ती हो। वह खाना, वह माँस खाने के बराबर है। कहा। (संवत्) १९६४ का वर्ष।

मुमुक्षु : आप भोजन करने बैठे थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : भोजन करने बैठे थे। माल लेने गये थे। शाम पड़ गयी थी। रात्रि में खाने बैठे... आहाहा! अरे रे! यह होवे नहीं, बापू! जैन को रात्रिभोजन नहीं होता। चाहे जैसी बड़ी ऐसी बातें करे परन्तु इससे कहीं रात्रिभोजन का त्याग होता है। वह महापाप है, वह पाप तो जैन को होता ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : दिन उगने से पहले चाय तो पी जाए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। चाय भी नहीं पी जाए और कुछ भी नहीं पी जाए। दिन उगने से पहले। उस चाय में कब जीव कैसे पड़े, ऐसे छोटे जीव अन्धेरे में गिरें। कहीं जल्दी जाना हो, इसलिए वह रात्रि में जल्दी पी जाए। इस बात का अपने को तो १९६४ के वर्ष का अनुभव है। १९६४, ६४, कहा, ऐसे जीव गिरें, वह खुराक अपन अब नहीं

लेंगे। १९६४ के वर्ष से आजीवन का रात्रिभोजन का त्याग है और अथाणा। वह खाने बैठे और बहिन अथाणा लेने गयी। मैं देखने गया, बहिन अथाणा लायी कहाँ से ? हम एक रसोई में तीस व्यक्ति थे। दो दुकानें और सब शामिल था। इसलिए मैं अकेला माल देरी से लेकर आया था, इसलिए खाने बैठे। बरनी में से अथाणा (अचार) ले आये। बरनी होती है न ? वह क्या कहलाता है वह ? बरणी। गोदड़ा भरा हो और नीचे खाली। वहाँ पड़ी हुई। मैं वहाँ देखने गया, वहाँ कन्थवा। मैला कपड़ा ढाँका हुआ था। क्या कहलाता है वह ? तुम्हारे नाम भी नहीं आते। ढाँका हो न ? ढक्कन और उसके ऊपर काला कपड़ा। इसलिए हाथ सब मैले हुए हों। काम करते हों। कन्थवा। लेने जाए वहाँ कन्थवा अन्दर पड़े। अरे ! यह खुराक ! जैन को यह खुराक नहीं होता। आहाहा ! कहाँ एक ओर बात परमात्मा की, कहाँ एक ओर बात यह। भाई गये ? यह बैठे। आहाहा ! यह सब बात कहाँ से निकली ?

यह **स्वात्माश्रित...** एक स्व आत्मा के आश्रय के अतिरिक्त कहीं धर्म नहीं है। आहाहा ! रात्रि में खाता हो और सामायिक करके बैठा हो, हम सामायिक करते हैं। सामायिक कहाँ थी तेरी ? अभी मिथ्यात्व की विपरीतता (पड़ी है), मिथ्यादृष्टि है। सब पूरा धर्म ही मिथ्यात्व का। स्थानकवासी और श्वेताम्बर दोनों धर्म मिथ्यादृष्टि का है। वे दोनों जैन नहीं हैं। आहाहा ! ऐसी बात, हरिभाई ! ऐसा कहा जाता होगा ? बापू ! सत्य तो ऐसा है। हित की बात तो ऐसी है, प्रभु ! तेरा आत्मा ही ऐसा हित का पुंज है। आहाहा ! तुझमें कुछ कमी नहीं, अधूरा नहीं। आहाहा !

स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान... देखो ! एक ही सिद्धान्त लिया। धर्मध्यान निश्चय स्वाश्रित ही होता है। आहाहा ! मन से नहीं, वाणी से नहीं, देह से नहीं, पुण्य से नहीं। देव, गुरु और शास्त्र से नहीं। इन सेठियों ने तो ऐसा सुना भी नहीं होगा। वहाँ लाडनूँ में कहाँ था ऐसा ?

मुमुक्षु : लाडनूँ में तो क्या पूरे संसार में नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बहुत सत्य बात है। ऐसी बात है, बापू ! ओहोहो ! क्या हो ? अरे रे ! प्राणी अपनी चीज़ को भूलकर भटकते हैं। वे दु:खी हैं, महादु:खी हैं, उन्हें भान नहीं है। पागल है, पागल हो गया है। आहाहा !

स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान... यह आवश्यक। यह परमावश्यक, यह अवश्य का। **स्वात्माश्रित निश्चय...** अर्थात् सच्चा **धर्मध्यान...** आहाहा! आत्मा कौन है, इसकी खबर बिना धर्मध्यान कहाँ से आया? बापू! प्रभु! जिन्दगी पूरी हो जाएगी। देह चली जाएगी। यह आत्मा कहीं जाएगा, अन्यत्र अवतरित होगा। बापू! वहाँ कोई शरणभूत साथ में नहीं है। आहाहा! **स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान...** यह महासिद्धान्त है। जिसे धर्म करना हो तो यह निश्चय जो आत्मा त्रिकाली, परमात्मा का रूप जिसका, परमात्मा ही स्वयं है, शक्ति और स्वभावरूप से परमात्मा ही है। प्रगट पर्याय में करने के लिये उसे मानना कि मैं परमात्मा हूँ। आहाहा! ऐसा जो **स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान...** आहाहा! इतने शब्द में तो कितना भरा है! स्व आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं और वह निश्चयधर्मध्यान। व्यवहारधर्मध्यान भी नहीं। आहाहा!

स्वात्माश्रित (कहा), तब आत्मा कौन है, यह पहले जानना पड़ेगा न? स्वात्माश्रित कहा, तो आत्मा कौन है? कितना है? कैसे है? यह कोई जानना पड़ेगा न? आत्मा जाने बिना ऐसे का ऐसे तुम्हारे धर्म हो जाएगा? आहाहा! उस स्व आत्मा को जानना पड़ेगा। जानकर आश्रय लेना पड़ेगा। जाने बिना किसका आश्रय ले? जो चीज़ जानी नहीं, उसका आश्रय किस प्रकार लेगा? आहाहा! आचार्यों ने गजब काम किया है। यह टीका करनेवाले तो मुनि हैं और मूल गाथाएँ तो कुन्दकुन्दाचार्य की हैं।

स्वात्माश्रित... स्व आत्मा कौन है, उसे जानना पड़ेगा। पहले में पहला जानने का यह है। कहो, हरिभाई! पहला क्या? स्व आत्मा। यह पहले बताया था न? भाई! १७वीं गाथा। समयसार की १७वीं गाथा। पहले में पहले आत्मा जानना। १७वीं गाथा। आहाहा! वहाँ देव-गुरु को जानना और छह काय को जानना और छह द्रव्य को जानना, वनस्पति की दया को जानना पहले, ऐसा कुछ कहा नहीं। आहाहा! पहला आत्मा। यहाँ भी यह कहा। **स्वात्माश्रित...** यह आत्मा है कौन कि जिसका आश्रय लेकर निश्चय सच्चा धर्मध्यान हो? ऐसा यहाँ मुनि पुकारते हैं। आहाहा!

और निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप... स्व के आश्रय से ही धर्मध्यान और निश्चय-शुक्लध्यान (होता है)। और शुक्लध्यान के लिये संहनन, व्रजनाराचसंहनन होवे और मनुष्यपना होवे और देव-गुरु-शास्त्र की मदद होवे तो शुक्लध्यान होता है, ऐसा नहीं है।

आहाहा! ऐसा काम है। **स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान...** कोई कहे कि भाई! यह तो आगे जाने पर होता है तो फिर कुछ आश्रय लेना पड़े न? पहले से ही **स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यान...** यह स्वात्म आश्रय से है। आहाहा! सब पैसे-फैसेवाले पैसे दें, इसलिए धर्म हो जाए, इसकी यहाँ तो शून्य लगाते हैं। रतिभाई! आहाहा! यह लाख रुपये दिये थे इन्होंने, नहीं? भावनगर। इनके भाई ने दिये थे। वह भी देता ही है न! आहाहा! कौन दे? कौन ले? आहाहा! यह क्रिया तो उस काल में उसकी होनी हो, वह होती है। आहाहा!

प्रभु! तू स्व का आश्रय ले न! दूसरी बात छोड़ दे। ऐसा भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकरों की ऐसी दिव्यध्वनि है। आहाहा! महाविदेह के तीर्थंकर, भरत के तीर्थंकर और ऐरावत के तीर्थंकर... आहाहा! उन अनन्त तीर्थंकरों की यह एक आवाज है। स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और स्वात्माश्रित निश्चयशुक्लध्यान। आहाहा! इसके अतिरिक्त धर्मध्यान और शुक्लध्यान है नहीं। लेकर बैठे, व्रत लेना, प्रौषध किये और प्रतिक्रमण किये, मुँह पर बाँधकर सामायिक की। धूल भी कुछ नहीं। सब मिथ्यात्व का पोषण है। मिथ्यात्व में अनन्त संसार बढ़ता जाता है। ऐसी क्रिया में धर्म मानने में तो अनन्त संसार बढ़ता जाता है। आहाहा! भारी कठिन काम।

बेचारा दुकान छोड़कर उपाश्रय में सामायिक करने जाए। सामायिक मानी है, वह सामायिक नहीं, उसे सामायिक मानना, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अनन्त संसार बढ़ाता है। अरे रे! ऐसी बातें! देखो! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी है। आहाहा! दिगम्बर के अतिरिक्त कहीं है नहीं। दिगम्बर मुनि और दिगम्बर तीर्थंकर... आहाहा! इनके अतिरिक्त ऐसा सत्य तीन लोक में कहीं-कहीं अन्यत्र नहीं है। आहाहा! महाविदेह में है परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरे में कहीं नहीं है। भगवान विराजते हैं, वहाँ यह है। आहाहा!

ऐसा जो बाह्य-आवश्यकादि क्रिया से प्रतिपक्ष... जो आत्मा के आश्रय से आवश्यक क्रिया, जो धर्मध्यान है, वह बाह्य आवश्यक क्रिया, बाह्य के छह आवश्यक, सामायिक, चौविसंथो, वन्दना, प्रतिक्रमण, यह सब विरुद्ध है। इस अन्दर की क्रिया से सब विरुद्ध क्रिया है। है? आहाहा! **स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यान -स्वरूप ऐसा जो बाह्य-आवश्यकादि...** आवश्यकादि में सब लिया। जितना क्रियाकाण्ड

करो... आहाहा! आवश्यक तो है ही नहीं। विकल्प उठे, यह सामायिक की, मैंने प्रतिक्रमण किया, मैंने भगवान की चौविसंथो... यह तो नहीं परन्तु आवश्यकादि सभी क्रियाएँ, बाह्य जितनी क्रियाएँ कहलाती है... आहाहा! उस क्रिया से प्रतिपक्ष / विरुद्ध। अब यहाँ तो निश्चय से व्यवहार विरुद्ध है। **शुद्धनिश्चय-परमावश्यक—साक्षात् अपुनर्भवरूपी...** आहाहा! यह विशेष बात है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन-१८३, श्लोक-२७०, गाथा-१५८, बुधवार, अषाढ़ शुक्ल ४, दिनांक १६-०७-१९८०

टीका है न? **टीका : यह, परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का कथन है।** थोड़ा कल चला था। यह परमावश्यक अधिकार है। आत्मा को अवश्य क्या करना और क्या अवश्य नहीं है, इसकी बात है। जरूरी-आवश्यक यह है कि यह आत्मा चैतन्यस्वरूप आनन्दमूर्ति है, इसकी दृष्टि करके अन्तर में स्थिर रहना, यह करना है। यह आवश्यक - अवश्य करनेयोग्य यह है और इससे मुक्ति होती है। बाकी किसी क्रियाकाण्ड से, बाहर की क्रिया कोई सामायिक और प्रौषध, पूजा और भक्ति और यात्रा से मुक्ति नहीं होती, वह तो बन्ध का कारण है। यह कहते हैं, देखो।

स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान... स्वात्माश्रित। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप शरीर और राग से भिन्न है, उसका आश्रय। स्वात्माश्रित। महासिद्धान्त है। जो भगवान आत्मा परम आनन्द और परम शान्ति का कन्द, रसकन्द है, उसके आश्रय से निश्चयधर्मध्यान होता है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप पुण्य और पाप के भाव से रहित, दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, और काम, आदि यह सब राग है। प्रभु राग से रहित है। उस रागरहित निश्चय जो धर्मध्यान, वह स्वात्माश्रित होता है। आहाहा! ऐसा सुनना कठिन पड़ता है। समय नहीं निकालता। कमाना, खाना और मरना। हो गया, जाओ। मरकर चार गति के अवतार में। आहाहा!

करनेयोग्य होवे तो यह करने योग्य है। **स्वात्माश्रित...** प्रभु चैतन्य ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसके आश्रय से निश्चय सत्य धर्मध्यान, सच्चा शुक्लध्यान (होता है)। अन्तर का

स्वरूप, वह स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली जो परिणति, निर्मल वीतरागदशा, उससे विरुद्ध **बाह्य-आवश्यकादि क्रिया से प्रतिपक्ष...** बाह्य क्रिया जो सामायिक, चौविसंथो, वन्दन और प्रतिक्रमण वह शुभविकल्प राग है, वह तो बन्ध का कारण है। **बाह्य-आवश्यकादि क्रिया से प्रतिपक्ष...** बाह्य आवश्यक से विरुद्ध। आहाहा! ऐसा काम है। है? बाह्य आवश्यक। बाह्य सामायिक, व्यवहार सामायिक, चौबीस भगवान की स्तुति, वन्दन, पूजा और भक्ति यह सब बाह्य आवश्यक है। वह तो राग है, राग। उसमें कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

यह **बाह्य-आवश्यकादि...** आवश्यकादि लिया है। धर्म, पूजा, भक्ति, वन्दन, नामस्मरण, पंच परमेष्ठी का स्मरण, यह सब बाह्य क्रियाकाण्ड है, यह कोई धर्म नहीं है। आहाहा! यह **बाह्य-आवश्यकादि...** है न? आवश्यक और इसके अतिरिक्त दूसरे क्रियाकाण्ड। आहाहा! दो शब्द हैं। आवश्यकादि बाह्य क्रियाकाण्ड से प्रतिपक्ष उस भगवान आत्मा का आत्मधर्म। आहाहा!

शुद्धनिश्चय-परमावश्यक—बाह्य क्रियाकाण्ड से भिन्न। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से भिन्न। यह क्रियाकाण्ड तो सब राग है। राग है, वह अधर्म है। आहाहा! उससे विरुद्ध धर्म है। गजब है न! सुनना कठिन पड़े। दुकान और धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती पूरे दिन पाप के कारण फुरसत नहीं मिलती। उसमें फिर ऐसी बात। व्यवहार छह आवश्यक आदि। अर्थात् व्यवहार छह आवश्यक - सामायिक, चौविसंथो, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग। इसके अतिरिक्त व्यवहार के दूसरे क्रियाकाण्ड। पंच महाव्रत की, पाँच समिति, गुप्ति आदि क्रिया, बारह व्रत की क्रिया, इन सब क्रिया से विरुद्ध धर्मध्यान है। आहाहा! इससे विरुद्ध शुद्धनिश्चय... अब यह लोग कहते हैं कि इससे (व्यवहार से) होता है। यहाँ कहते हैं कि यह तो उससे विरुद्ध है, प्रतिपक्ष है। आहाहा! एक ही आवश्यक नहीं लिया। आवश्यकादि जितनी बाह्य क्रिया की जाए, (वह सब ली है)। आहाहा! जितना शुभविकल्प, शुभराग, पुण्यभाव, शुभभाव है, वह सब बाह्य क्रियाकाण्ड है, उससे प्रतिपक्ष निश्चयधर्मध्यान है। आहाहा!

मुमुक्षु : पूजा में तो ऐसा आया कि षट् आवश्यक जो साधे, वह रत्नत्रय आराधे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह निश्चय-निश्चय आवश्यक।

मुमुक्षु : पूजा में तो व्यवहार होता है या निश्चय होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार कहा था, वह व्यवहार नहीं, वह धर्मध्यान नहीं। आहाहा! ऐसा तो अनन्त बार किया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' आत्मज्ञान। आत्मा क्या चीज़ है ? अन्दर रत्न भरे हैं। अनमोल! अन्दर आनन्दादि अनन्त-अनन्त अनमोल रत्न भरे हैं। ऐसा भगवान आत्मा का भान—ज्ञान और अनुभव बिना आवश्यकादि कोई भी क्रिया... आहाहा! मन्दिर बनाना और करोड़ों रुपये खर्च करना, दस-दस लाख का खर्च करके गजरथ निकालना, गजरथ, शोभायात्रा निकालना, शरीर से ब्रह्मचर्य पालना। शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, स्त्री का विषय न लेना, यह भी शुभभाव है। बालब्रह्मचारीपना भी शुभभाव है। वह धर्म नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह तो शरीर की क्रिया रोकी है। वह शरीर की क्रिया तो शरीर के कारण से रुकी है, बाह्य विषय न लेने से। वह कहीं आत्मधर्म नहीं है। आहाहा! व्यवहार ब्रह्मचर्य शरीर की क्रिया होती है, वह न करे, वह धर्म नहीं है। आवश्यकादि है न ? आहाहा! बाहर की दया पाले, दूसरे प्राणी की हिंसा न करे, वह सब राग है। आत्मधर्म बिल्कुल नहीं। जन्म-मरणरहित होना, उस चीज़ से रहित है। आहाहा!

शुद्धनिश्चय-परमावश्यक—शुद्धनिश्चय, सच्चा निश्चय परम आवश्यक। खास, जरूर, करनेयोग्य है वह। **साक्षात् अपुनर्भवरूपी (मुक्तिरूपी)...** मोक्षसिद्धिरूपी स्त्री अर्थात् मुक्ति की परिणति। सिद्धदशा की परिणतिरूपी **स्त्री के अनंग (अशरीरी) सुख का कारण**—है। आहाहा! यह निश्चय आवश्यकादि जो हैं, स्वात्माश्रित जो हैं, वह मुक्तिरूपी स्त्री को प्राप्त करने का साधन है। आहाहा! है ? **(अशरीरी) सुख का कारण**— है। बाकी सब क्रियाकाण्ड में तो शुभभाव होवे तो शरीर साधन माने बाहर से। यह धूल मिले। धूल अर्थात् पैसा। धूल है न ? धूल है न ? यह मिट्टी है।

मुमुक्षु : लोग पैसे को ऐसा कहते हैं कि हाथ का मैल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाथ का मैल ही है। हाथ का मैल वह अलग चीज़, यह अलग चीज़। हाथ का मैल अलग चीज़, पैसा अलग चीज़। मिट्टी-धूल है। आहाहा! पैसे से कुछ धर्म होता है या पाँच-पच्चीस लाख खर्च करके मन्दिर बनाना, रथ निकालना, भगवान का माहात्म्य बढ़ावे... आहाहा! महोत्सव मनावे, महोत्सव। दो-पाँच लाख खर्च

करके भगवान का महोत्सव मनाना, यह सब क्रियाकाण्ड से मुक्ति नहीं मिलती। आहाहा! यह सब परम आवश्यक से विरुद्ध है।

इससे **साक्षात् अपुनर्भवरूपी...** निश्चय जो आवश्यक है। जो व्यवहार से प्रतिपक्ष है, वह साक्षात् भव नहीं मिलता, ऐसी आत्मा की शुद्ध परिणतिरूपी स्त्री... अशुद्ध परिणतिरूपी तो व्यभिचार है। पुण्य और पाप का भाव, दया, दान आदि शुभभाव, वह भी व्यभिचार है। आहाहा! अव्यभिचार - ब्रह्मचर्य इसे कहते हैं, ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप प्रभु में तैरना, आनन्द में रमना, वह बाह्य आवश्यक से भिन्न है। आहाहा! इसमें कहाँ निवृत्ति? जिन्दगी में निवृत्ति नहीं मिलती। यह वस्तु ऐसी...

साक्षात् अपुनर्भवरूपी (मुक्तिरूपी) स्त्री के अनंग (अशरीरी) सुख का कारण—उसे करके,.... देखो! उसे करना कहा। **उसे करके,...** आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु अतीन्द्रिय सुख का सागर है, अतीन्द्रिय ज्ञान का समुद्र है, उसमें लीन होना, उसका आश्रय करके उसमें लीन होना। **उसे करके, सर्व पुराण पुरुष—**अनन्त काल में जो पुरुष हो गये। पुराने काल में पुराने पुरुष महावीर आदि, रामचन्द्र आदि सब इस आत्मा की क्रिया करके मोक्ष में पधारे हैं। बाह्य क्रिया से कोई मोक्ष पधारे, ऐसा तीन काल में, तीन लोक में नहीं है। आहाहा! अनन्त तीर्थंकर, अनन्त बलदेव और अनन्त-अनन्त रामचन्द्रजी जैसे पुरुषोत्तम पुरुष, वे यह अन्दर की निश्चय आवश्यक क्रिया, बाह्य व्यवहार आवश्यक क्रिया से विरुद्ध, **उसे करके, सर्व पुराण पुरुष—**ये सब पुराने पुरुष। आहाहा! तू कहता है कि नया निकला? और फिर वह कुछ नया करने लगा? सर्व पुराण पुरुषों ने तो यह किया है। आहाहा!

जैनधर्म में वीतरागता अन्दर आत्मा-स्वआत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है। वे महा पुराण पुरुष यह कर गये हैं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त काल में जो कोई पुराण पुराने.. पुराने... पुराने... पुरुष (हुए), वे सब यह कर गये हैं। आहाहा! कितने ही ऐसा कहते हैं कि हमारे बाप-दादा का यह धर्म है। तेरे बाप-दादा का धर्म। परन्तु धर्म है या अधर्म है? आहाहा! यह तो कहते हैं, तेरे बाप-दादा जो पुराण पुरुष इस क्रिया से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आहाहा! अनन्त भव हो गये। अनन्त माता-पिता, अनन्त पिता मोक्ष पधारे। पुराण पुरुष। आहाहा!

सर्व पुराण पुरुष—कि जिनमें से तीर्थंकर-... आहाहा! वे भी यह क्रिया करके मोक्ष में पधारे। यह क्रिया। बाहर की क्रिया नहीं। **तीर्थंकर-परमदेव आदि स्वयंबुद्ध हुए और कुछ बोधितबुद्ध हुए...** आहाहा! अनन्त ज्ञानी, अनन्त समकिती, अनन्त साधु हुए, बाहर में नग्नपना, अन्दर में विकल्प से रागरहितपना, वह साधुपना है। आहाहा! बाहर से नग्नपना, अन्दर राग से नग्नपना। वीतरागभाव से पुराण पुरुष मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आहाहा!

स्वयंबुद्ध हुए और कुछ बोधितबुद्ध हुए... कोई स्वयं से समझे और कोई गुरुगम से समझे। गुरु निमित्त। **बोधितबुद्ध हुए वे—अप्रमत्त से लेकर...** आहाहा! देखा! छठवाँ, चौथा, पाँचवाँ वहाँ तो ज्ञान और श्रद्धामात्र है। सातवें गुणस्थान में स्थिरता है। आहाहा! मुनिपना लिया हो तो भी सातवाँ गुणस्थान आवे, वह चारित्र है। आहाहा! ऐसे महापुरुष अनन्त हो गये हैं। वे **अप्रमत्त से लेकर सयोगीभट्टारक...** केवलज्ञानी परमात्मा अप्रमत्त से लेकर परमात्मा हो गये। आहाहा! रामचन्द्रजी आदि महापुरुष यह क्रिया करके, निश्चय आत्मा की क्रिया करके... आहाहा! मोक्ष पधारे। संसार का अवतार पूर्ण करके मोक्ष में गये।

सयोगीभट्टारक तक के गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ होते हुए,... आहाहा! अनन्त महापुरुष स्वयंबुद्ध स्वयं से समझे और कोई बोधितबुद्ध गुरुगम से समझे, परन्तु मुक्ति स्वयं से स्वयं की हुई। आहाहा! वे सब पुरुष। **गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ होते हुए,...** सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, बारहवें, तेरहवें—इन गुणस्थानों में **आरूढ होते हुए,...** आहाहा! अभी गुणस्थानों के नाम नहीं आते होंगे। गुणस्थान अर्थात् क्या होगा? अन्दर की गुण की निर्मल परिणति प्रगट होना, रागरहित वीतरागी निर्मल दशा प्रगट होने का नाम यहाँ गुणस्थान कहा जाता है। आहाहा! अब ऐसा करने जाना? या स्त्री-पुत्र को कहाँ डालना? स्त्री से विवाह किया है। दो, चार, पाँच, आठ, दस-दस लड़के हों। चार-छह लड़के, चार-छह लड़कियाँ हों, उन्हें कहाँ डालना? परन्तु वे तो पर हैं, वे कहाँ तेरे थे? आहाहा! तूने माना है कि मेरे हैं। वह तो मिथ्याभ्रम अज्ञान है। पर आत्मा और पर शरीर, वे तेरे आत्मा से पर भिन्न आत्मा, तेरे शरीर से भिन्न शरीर, उन्हें 'मेरा' माना, मेरे कुटुम्बी और मेरे घरवाले। ऐसा पूछे कि यह कौन है? कि यह हमारे घरवाले हैं। स्त्री ऐसा कहे कि हमारा घरवाला है, वह ऐसा कहे मेरी घरवाली है। घर कहाँ तेरा था? कौन सा घर था उसमें

घरवाली आयी ? घरवाला कहाँ से आया ? तेरा घर तो आत्मा आनन्द है। आहाहा! दुनिया से उल्टा है। आहाहा!

यह सभी अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर... ऐसा लिया। देखो! चौथे-पाँचवें-छठवें को नहीं। ध्यान में लेना है न? **अप्रमत्त से लेकर सयोगीभट्टारक**... अर्थात् केवलज्ञानी प्रभु। सयोगी-योगवाले, भट्टारक अर्थात् पूजनीय प्रभु। **गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ होते हुए,...** निर्मल धारा में आरूढ़ होते हुए। अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड नाथ, प्रभु! उसमें अन्दर आरूढ़ स्थिर होने पर। उसकी श्रेणी अप्रमत्त सातवाँ गुणस्थान, तेरहवाँ गुणस्थान। ऐसे अन्दर स्थिर होने पर... आहाहा! **आरूढ होते हुए, परमावश्यकरूप आत्माराधना के प्रसाद से...** खास-जरूर का-मनुष्यपना पाकर भव के अभाव करने का परम आवश्यक। परम आवश्यक अर्थात् परम जरूरी का। आहाहा! परम आवश्यक अर्थात् परम जरूरी का। परम जरूरी रूप आत्म-आराधना। आहाहा! भाषा भी कैसी है!

मनुष्यपना प्राप्त करके परम आवश्यक काम आत्म-आराधना है। कोई क्रियाकाण्ड करना, वह नहीं। ऐसा तो अनन्त बार किया है परन्तु भवभ्रमण घटा नहीं, भव का नाश नहीं हुआ। यह कौआ, कुत्ता, बाघ, सिंह, शूकर के अवतार (किये) और फिर वहाँ माँस खाये और फिर मरकर नरक में अवतार। नरक में जाए। ऐसे अनन्त भव किये। आहाहा! उस सब संसार का अभाव करके परमावश्यकरूप। परम आवश्यकरूप **आत्माराधना...** यहाँ तो आत्म आराधना कही है। कोई क्रिया करना या वह कुछ नहीं। आत्म-आराधना, वह क्रिया है। आहाहा! **परमावश्यकरूप...** परम आवश्यकवाला। और उससे मुक्ति हो, ऐसी क्रिया। ऐसे **आत्माराधना के प्रसाद से...** आत्माराधना के प्रसाद से। आहाहा! चैतन्य प्रभु अनन्त आनन्द और अनन्त वीतरागमूर्ति अन्दर आत्मा है। उस प्रभु के प्रसाद से... आहाहा! उसकी कृपा से। **केवली—सकलप्रत्यक्षज्ञानधारी—हुए।** आहाहा! परम आवश्यकरूप। परम अर्थात् आवश्यक खास काम है। खास काम अर्थात् खास जरूरी काम। खास जरूरी काम तो आत्म-आराधना है। आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा अन्तर चमत्कार चैतन्य के आनन्द, ज्ञान, शान्ति और प्रभुता, ईश्वरता आदि अन्तर शक्तियों का भण्डार भरा है। ऐसा परम आवश्यक-जरूरी आत्म-आराधना के प्रसाद से। **आत्माराधना**

के प्रसाद से... व्यवहार क्रियाकाण्ड और व्यवहार रत्नत्रय करते-करते केवली हुए, ऐसा नहीं है। उसमें आया या नहीं? आहाहा! व्यवहार करो... व्यवहार करो... व्यवहार करो। सोनगढ़वाले व्यवहार का निषेध करते हैं - ऐसा कहते हैं। कह, तुझे कहना हो वह। वस्तु तो ऐसी है। वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

अन्तर में भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द परमात्मा की मूर्ति है। वह तो भगवान अन्दर है। तेरी नजर के आलस्य से दिखायी नहीं देता। उसकी आराधना से—भगवान परमात्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द, अनाकुल ज्ञान-शान्ति का कन्द, इसकी आराधना से। आहाहा! इस आराधना के प्रसाद से। **केवली—सकलप्रत्यक्षज्ञानधारी—हुए।** कोई व्यवहार से केवली हुए, ऐसा नहीं कहा। कहीं लिखा हो तो उसे सामने रखते हैं, परन्तु लिखा वह तो जानने के लिये (कथन है) यहाँ यह कहा और वहाँ वह कहा, उसमें विरुद्ध होगा? समयसार की जयसेनाचार्य की टीका में व्यवहार साधक और निश्चय साध्य कहा है। वह तो ज्ञान कराने के लिये कहा है परन्तु यह मानता है कि व्यवहार साधन करते-करते शुद्धनिश्चय होगा। आहाहा! यहाँ आवश्यकता किसे है? स्त्री, कुटुम्ब, धन्धा, व्यापार, खाना-पीना, सोना, निभना, परिवार को निभाना। यह करना या यह करना? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं कि मैं भी तीर्थंकर परम देवादि स्वयंबुद्ध हुए, वे सब इस प्रकार से हुए। नाम दिया है। **तीर्थंकर-परमदेव आदि स्वयंबुद्ध हुए और कुछ बोधितबुद्ध हुए वे—** भी इस रास्ते से हुए। आहा! अभी इसकी खबर नहीं होती। सुना न हो। अरे! ऐसा मनुष्यभव चला जाएगा, प्रभु। तेरा कहाँ अवतार होगा? तेरा तो कुछ नाश हो, ऐसा नहीं। तू तो नित्य वस्तु है। नित्य वस्तु है। यह (शरीरादि तो) नाशवान है, इसकी राख होगी। श्मशान की राख होगी। तेरी सत्ता, तेरा अस्तित्व कहाँ रहेगा? आहाहा! यहाँ से छूटकर कहाँ जाएगा? कुछ खबर नहीं होती कहाँ जाना है इसकी। आहाहा!

पशु जैसे अवतार। आहाहा! पशु क्यों कहते हैं? पश्यते पशु, बध्यते इति पशु। जिसमें संसार का बन्धन हो, वह पशु। ऐसा पाठ है। समयसार चौदह बोल में। चौदह बोल है। आहाहा! पशु को जैसे घास और चूरमा का विवेक नहीं है। घास और चूरमा-चूरमा। अर्थात् शुभ। इन दो चीज़ की जिसे भिन्नता नहीं है, ऐसे अज्ञानी को शरीर, राग और

भगवान आत्मा की भिन्नता का भान नहीं है, वह पशु है। आहाहा! वह चलता मुर्दा है, ऐसा मोक्षपाहुड़ में पाठ है। मोक्षपाहुड़ में पाठ है। चलता मुर्दा है। उस मर गये को उठाके ले जाते हैं। यह चलता मुर्दा है। आहाहा!

सकलप्रत्यक्षज्ञानधारी—यह आत्मआराधना है। परम आवश्यकरूप यह एक ही है। एक पंक्ति में तो पूरा मोक्षमार्ग बताया। **परमावश्यकरूप आत्माराधना के प्रसाद से...** उसके प्रसाद से। **केवली—सकलप्रत्यक्षज्ञानधारी—हुए**। किसी व्यवहार से हुए (-ऐसा नहीं)। महाव्रत पालन करे, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करे, छह परवी ब्रह्मचर्य पाले, छह परवी कन्दमूल न खाये, रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग करे। वह तो सब शुभभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : उससे तो प्रतिपक्ष कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो प्रतिपक्ष है। आहाहा! बालब्रह्मचारीपना पालन करे तो भी शुभभाव है। शरीर से क्रिया नहीं हुई। वह तो शरीर जड़ है, जड़ की क्रिया ऐसी हुई नहीं, उसमें मान लिया कि मैं धर्म करता हूँ।

धर्म तो आत्मा का आराधन, सेवन, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द की प्रभु की शक्ति है। प्रभु की शक्ति से भरपूर है। स्वयं प्रभु है, परमेश्वर है। आहाहा! प्रभु नाम की उसमें शक्ति है। सैंतालीस शक्ति में। ऐसी अनन्त शक्ति प्रभु की शक्ति से भरपूर है। आहाहा! उसे छोड़कर राग की क्रिया से धर्म होता है, राग की क्रिया से आत्मा का आराधन होता है, यह मिथ्याभ्रम है, मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसा काम है। अन्तिम गाथा है न? अन्तिम में अन्तिम आवश्यक करना हो तो यह है। अन्तिम में अन्तिम करना हो तो यह है, बाकी सब शून्य है। आहाहा! पच्चीस-पचास लाख भले इकट्ठे किये हों और दो-पाँच, दस-दस लाख का दान किया हो, उसमें कोई धर्म नहीं है। दस लाख रुपये दे तो भी धर्म नहीं है। आहाहा! रुपये कहाँ इसके बाप के थे? रुपये तो जड़ हैं। रुपये -जड़ का स्वामी होना, वह तो मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। परचीज़ का स्वामी होना, (वह मूढ़ है)। आहाहा!

यहाँ तो राग का स्वामी होना, वह मिथ्यादृष्टि है। शुभराग, वह घोर संसार है। वीतरागमूर्ति प्रभु अन्दर अमृत का सागर-समुद्र प्रभु अन्दर है। यह शुभराग जहर है, वह

तो जहर है। घोर संसार है। आहाहा! उससे लाभ मानना, वह मिथ्यादृष्टिपना है, आत्मा का अनाराधकपना है, आत्मा का विराधकपना है। आहाहा! ऐसा सुनना कठिन पड़े। दुनिया के काम के कारण, धन्धे के कारण निवृत्त नहीं होता। उसमें यह सुनने को मिलता न हो।

यह प्रभु आत्मा चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा अपने स्वभाव में आराधन हो... आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्प अर्थात् राग छोड़कर अपने स्वभाव का सेवन करे, उसे यहाँ धर्म-आत्मा का धर्म आराधन कहते हैं। आवश्यक तो यह है। आहाहा!

श्लोक-२७०

[अब इस निश्चय-परमावश्यक अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दो श्लोक कहते हैं:]

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वात्माराधनया पुराण-पुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः,
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्य-मनसा मुक्ति-स्पृहो निस्पृहः,
स स्यात् सर्वजनार्चिताङ्घ्रिकमलः पापाटवीपावकः।।२७०।।

(वीरछन्द)

सकल पुराण-पुरुष योगी निज आतम के आराधन से।
कर्म राक्षसों का विनाश कर विष्णु और जयवन्त हुए॥
उन्हें मुक्तिकामी निस्पृह जो मन-अनन्य से नमन करें।
पापवनों को पावक वह उसके चरणाम्बुज जन पूजें॥२७०॥

[श्लोकार्थः] पहले जो सर्व पुराण पुरुष—योगी—निज आत्मा की आराधना से समस्त कर्मरूपी राक्षसों के समूह का नाश करके *विष्णु और जयवन्त हुए

* विष्णु=व्यापक। (केवली भगवान का ज्ञान सर्व को जानता है इसलिए उस अपेक्षा से उन्हें सर्व-व्यापक कहा जाता है।)

(अर्थात् सर्वव्यापी ज्ञानवाले जिन हुए), उन्हें जो मुक्ति की स्पृहावाला निःस्पृह जीव अनन्य मन से नित्य नमन करता है, वह जीव पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान है और उसके चरणकमल को सर्व जन पूजते हैं ॥२७०॥

श्लोक - २७० पर प्रवचन

अब इस निश्चय-परमावश्यक अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दो श्लोक कहते हैं:- दो श्लोक। वह टीका थी।

स्वात्माराधनया पुराण-पुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः,
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्य-मनसा मुक्ति-स्पृहो निस्पृहः,
स स्यात् सर्वजनार्चिताङ्घ्रिकमलः पापाटवीपावकः ।।२७०।।

आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। बड़ी-बड़ी बातें करके ऐसा करो और ऐसा किया और जैनशाला बनायी। क्या कहलाता है वह ? यह होनेवाला है न तुम्हारे ? शिविर-शिविर। शिक्षण-शिविर लगाया। सिखलाया, एक हजार लोग आये थे। उसमें तुझे क्या हुआ ? आहाहा! तूने क्या किया ? वह सब तो राग है। वह सब संसार है। आहाहा! गजब बात है।

मुमुक्षु : शिविर में तो ज्ञान प्राप्त होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञान परलक्ष्यी धारणा। परलक्ष्यी धारणा। स्वलक्ष्यी ज्ञान-आराधना तो अलौकिक बात है। आहाहा! आत्मा जो अन्दर शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति परम-आनन्द का नाथ, उसकी प्राप्ति तो कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! उसके बिना धर्म नहीं है। लाख यात्रा करे, लाख-करोड़ व्रत पालन करे... आहाहा! दया पाले, व्रत पाले, ब्रह्मचर्य पाले, वह सब राग है; धर्म नहीं। आहाहा!

धर्म तो, आत्मा आनन्दस्वरूप निर्विकल्प, राग के विकल्प से रहित (है), उसकी अन्दर आत्मा की आराधना, उसे भगवान धर्म कहते हैं। त्रिलोकनाथ परमात्मा तो उसे धर्म

कहते हैं। अज्ञानी अपनी स्वच्छन्दता से चाहे जो माने। स्वच्छन्दी होकर चाहे जो मानो। परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान प्ररूपणा है। बीस तीर्थंकर विराजमान हैं, लाखों केवली विराजमान हैं। आहाहा! महाविदेह में तीनों काल तीर्थंकर का विरह नहीं है। केवली का विरह नहीं है। आहाहा! वहाँ भी अनन्त बार गया, अनन्त बार जन्मा और अनन्त बार उस समवसरण में भी गया, परन्तु अन्तर आत्मा क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं। आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त जितनी क्रिया (करे,)—भगवान की यात्रा, भगवान की पूजा, भगवान का दर्शन, वह सब क्रिया राग है। उसमें कोई धर्म-बर्म है नहीं। अशुभ से बचने को आता है, आवे। शुभराग, अशुभ से बचने को आता है, परन्तु है अधर्म। आहाहा!

मुमुक्षु : अधर्म किसलिए करना चाहिए? छोड़ देना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुभ से बचने को आता है। कमजोरी है न! कमजोरी है। अशुभ से-कुस्थान से-अस्थान से-विरुद्ध स्थान से बचने को शुभभाव बीच में आता है, परन्तु वह शुभभाव अधर्म है, धर्म नहीं। धर्म तो शुभराग से भिन्न चैतन्यस्वरूप भगवान अन्दर विराजता है, आनन्द की मूर्ति प्रभु वीतरागस्वभाव का पिण्ड आत्मा है, उसका अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! आहाहा! धर्म बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! लोग कुछ अपनी कल्पना से माने कि भगवान के दर्शन किये, शत्रुंजय की यात्रा की... वह क्या कहलाता है बड़ा? सम्मेदशिखर। सम्मेदशिखर की यात्रा की तो धर्म हुआ। बिलकुल धर्म नहीं है।

मुमुक्षु : ४९ बार यात्रा करे तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाख बार करे तो भी यात्रा (तो भी) नहीं।

छहढाला में आता है—'लाख बात की बात...' छहढाला में आता है—'लाख बात की बात निश्चय उर आणो, छोड़ी जगत द्वंद्व फंद निश्चय आतम ध्याओ।' आहाहा! छहढाला में आता है। है उसमें यह? लाख बात की बात, करोड़ बात की बात, अनन्त बात की बात... आहाहा! वीतराग का मार्ग, तीन लोक के नाथ तीर्थंकर का मार्ग (यह है कि) अन्दर—आत्मा दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के राग से भिन्न है; उसका आराधन, वह धर्म है, बाकी तो अधर्म है। आहाहा! यह शुभराग भी अधर्म है। आहाहा! भक्ति, पूजा और

यात्रा, यह सब शुभराग है। राग, वह अधर्म है। धर्म—रागरहित अन्तर चैतन्यमूर्ति प्रभु (का अनुभव होना, वह धर्म है)। आहाहा! भारी कठिन लगे। लोग मानते हैं, मानो धर्म हो जाएगा। शत्रुंजय की यात्रा करे, फिर साधु-बाधु हो, उसे आहार-पानी दे तो परित संसार हो गया। वह साधु ही कहाँ था अभी? साधु किसे कहना, इसकी तुझे खबर नहीं। साधु कहना किसे?

यहाँ तो आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति की श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव बिना जितना क्रियाकाण्ड है, वह सब शून्य है। सब बन्धन का कारण है। आहाहा! कोई लाख क्रियाकाण्ड (करे), करोड़-दो करोड़ रुपये भक्ति में और बड़े दान में खर्च करे वह राग है, धर्म नहीं। ऐसी तो स्पष्ट बात है, ढिंढोरा पीटकर बात है। यहाँ गुप्त बात नहीं है। आहाहा!

इसे कहाँ पड़ी है.. मैं कौन हूँ? अरे रे! मेरी सत्ता कहाँ रहेगी? मैं तो हूँ। मेरी सत्ता तो है। इस सत्ता का नाश होगा। मेरी सत्ता का नाश हो, ऐसा नहीं है। इसका (शरीर का) नाश भी नहीं होगा। यह तो पर्याय पलटे, उसका नाम नाश कहा जाता है। परमाणु की पर्याय पलटे, उसे नाश-व्यय कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी देह छोड़कर कहीं जाएगा। अनन्त काल रहनेवाला है। भविष्य में तो अनन्त काल रहनेवाला है। कहाँ रहेगा, इसकी इसे पड़ी है कुछ? आहाहा! यहाँ से देह छोड़कर भविष्य में अनन्त काल रहेगा। इस देह का तो नाश होनेवाला है, श्मशान में राख होनेवाली है। यह देह छोड़कर आत्मा अनादि रहेगा। कहाँ रहेगा, इसका भान भी कहाँ है? आहाहा! मूढ़ की तरह जिन्दगी बितायी है। आहाहा! यहाँ तो यह कहते हैं। अब श्लोक आया न?

श्लोकार्थ : पहले जो सर्व पुराण पुरुष—योगी—आहाहा! पुराने पुरुष जो मोक्षगामी हो गये, अनन्त तीर्थंकर, केवली, बलदेव, रामचन्द्रजी आदि, वे **निज आत्मा की आराधना से...** आहाहा! निज आत्मा। देखो! निज आत्मा कहा है। पर आत्मा नहीं, परमात्मा नहीं, तीर्थंकर भी नहीं, उनकी मूर्ति भी नहीं और उनका समवसरण भी नहीं। आहाहा! भगवान का साक्षात् समवसरण और पूजा, भक्ति, वन्दन वह शुभभाव है, पुण्य है, संसार है। आहाहा!

पहले जो सर्व पुराण पुरुष—महा पुराने अनादि पुरुष हो गये हैं। धर्म करके, आराधना करके मोक्ष पधारे। वे **योगी—निज आत्मा की आराधना से...** आहाहा! पर

आत्मा की नहीं। आहाहा! भगवान की आराधना से नहीं। भगवान भी परद्रव्य है। निज आत्मा अपना जो स्वरूप, उसकी **आराधना से समस्त कर्मरूपी राक्षसों के समूह का नाश करके...** है ? **निज आत्मा की आराधना से समस्त कर्मरूपी राक्षसों के...** आहाहा! पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव, वह कर्मरूपी राक्षस है। आहाहा! तुझे खा जाता है। अरे रे! यह बात सुनने को मिलती नहीं। सेठियों को अधिक मक्खन चोपड़ते हैं (लगाते हैं)। पैसा खर्च करो, ऐसा करो, यह करो। आहाहा!

निज आत्मा की आराधना से समस्त कर्मरूपी राक्षसों के समूह का नाश करके... आहाहा! **विष्णु...** हुए। **व्यापक**। पूरे लोकालोक का ज्ञान हो गया। वह व्यापक। अन्तर आराधना करके, चैतन्य की अन्तर आराधना करके व्यापक हो गये। तीन काल-तीन लोक का ज्ञान हो गया, वह व्यापक। व्यापक अर्थात् उन्हें सब ज्ञान पसर गया। लोकालोक का ज्ञान हो गया, परन्तु उस क्रिया से-अन्तर आत्मा की आराधना की क्रिया से। बाहर की क्रिया व्रत और भक्ति और यात्रा-बात्रा से कुछ हो, ऐसा नहीं है। वह सब राग बन्धन का कारण है। आहाहा!

विष्णु=(केवली भगवान का ज्ञान सर्व को जानता है, इसलिए उस अपेक्षा से उन्हें सर्व-व्यापक कहा जाता है।) आत्मा सर्व-व्यापक नहीं होता। सर्व-व्यापक ऐसे आत्मा लोकप्रमाण नहीं हो जाता। आत्मा यहाँ रहकर तीन काल और तीन लोक का ज्ञान होता है, उसे यहाँ उसका व्यापक कहा जाता है। आहाहा! अब हम धर्म नहीं कर सकते परन्तु कुछ तो होगा, ऐसा कितने ही कहते हैं। कुछ तो हमारा होगा, होगा तुम्हारा भटकने का। धर्म के बिना चाहे जो शुभ क्रियाकाण्ड करो, वह संसार है। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा!

यहाँ यही कहते हैं न ? सर्व-व्यापक हुआ अर्थात् ? अपना आराधन करके सर्व-व्यापक हुआ अर्थात् ? तीन काल-तीन लोक को जाननेवाला हुआ। वह व्यापक। ऐसे लोक में पसर गया, ऐसा नहीं। ज्ञान हुआ। विष्णु अर्थात् जयवन्त हुआ। **विष्णु और जयवन्त हुए (अर्थात् सर्व व्यापी ज्ञानवाले जिन हुए),...** सर्व को जाननेवाले जिन हुए। आहाहा! 'घट-घट अन्तर जिन बसे...' तू तो जिनस्वरूपी ही है, प्रभु! 'घट-घट अन्तर जिन बसे, अरु घट-घट अन्तर जैन; मत-मदिरा के पान सों मतवाला समझे न।' अपने अभिप्राय के, आग्रह के मतवाले, मदिरा पीये हुए, अपने अभिप्राय की मदिरा पीये हुए

सत्य को नहीं समझते। सत्य बात आवे तो कहे, ऐई! यह तो निश्चय है, यह तो निश्चय की बात है। आहाहा! बापू! निश्चय अर्थात् सत्य, व्यवहार अर्थात् झूठ। आहाहा! कठिन बात है। सुनना ही मुश्किल पड़े ऐसा है।

यहाँ कहते हैं **विष्णु और जयवन्त हुए...** आत्मा का निर्मल निर्विकल्प आराधन किया। रागरहित आत्मा की श्रद्धा, रागरहित ज्ञान और रागरहित चारित्रस्वरूप, इससे विष्णु हुए। **विष्णु और जयवन्त हुए...** तीन काल और तीन लोक का ज्ञान होकर जयवन्त हुए। आहाहा! **उन्हें जो मुक्ति की स्पृहावाला निःस्पृह जीव...** मुक्ति की स्पृहावाला निःस्पृह जीव। **अनन्य मन से नित्य नमन करता है,...** ऐसे परमात्मा को मुक्ति की स्पृहावाला। व्यवहार लिया है। निःस्पृह जीव (अर्थात्) कोई आशा बिना अनन्य मन से नित्य नमन करता है। सिद्धस्वरूपी नमन करता है। आहाहा! सिद्ध में रमण करता है, सिद्धस्वरूप अपना है, उसे नमन करता है।

वह जीव पापरूपी अटवी को... आहाहा! पापरूपी वन। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम पाप है। पुण्य भी पाप है। 'पाप पाप तो सब कहे परन्तु अनुभवी जीव तो पुण्य को भी पाप कहे।' योगसार में आता है। 'पाप पाप तो सब कहे परन्तु अनुभवी जीव पुण्य को पाप कहे।' पुण्य और पाप दोनों बन्धन है। आहाहा! बन्धन हैं, उससे रहित होकर.. आहाहा। **जीव पापरूपी अटवी को जलाने में...** पाप में शुभ और अशुभ दोनों लेना। आहाहा! **पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान है...** आहाहा! अन्तर भगवान आनन्दस्वरूप की अन्दर एकाग्रता, वह पुण्य और पापरूपी अटवी अर्थात् वन को जलाने में अग्नि समान है। आहाहा! इतनी उसमें ताकत है।

और उसके चरणकमल को... वे धर्मात्मा जो पूर्ण हुए, ऐसे जीव के **चरणकमल को सर्व जन पूजते हैं।** सर्व जीव उन्हें पूजते हैं। स्वयं पूजनीय दशा को तो प्राप्त हुए परन्तु दूसरे जीव भी उन्हें पूजते हैं। आहाहा! पाप और पुण्य करनेवाला तो स्वयं दुःखी और दूसरे भी उसे दुःखी देखते हैं। यह धर्म, पुण्य और पापरहित अपने स्वरूप का ध्यान करनेवाला, मोक्ष प्राप्त करनेवाला पवित्र है और उसे दुनिया भी पूजती है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्लोक-२७१

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं,
नित्यानन्दं निरुपमगुणालङ्कृतं दिव्यबोधम् ।
चेत: शीघ्रं प्रविश परमात्मान-मव्यग्ररूपं,
लब्ध्वा धर्मं परम-गुरुत: शर्मणे निर्मलाय ।।२७१।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयपरमावश्यकाधिकार एकादशम: श्रुतस्कन्ध: ।

(वीरछन्द)

कनक कामिनी सम्बन्धी जो हेय, मोह का कर परित्याग।
रे मन! निर्मल सौख्य हेतु तू परम गुरु से वृष कर प्राप्त॥
नित्यानन्द स्वरूप निराकुल निरुपम गुण से भूषित जो।
दिव्य ज्ञानवाले परमातम में तुम शीघ्र प्रवेश करो॥२७१॥

[श्लोकार्थ:] हेयरूप ऐसा जो कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह, उसे छोड़कर, हे चित्त! निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके तू अव्यग्ररूप (शान्तस्वरूपी) परमात्मा में—कि जो (परमात्मा) नित्य आनन्दवाला है, निरुपम गुणों से अलंकृत है तथा दिव्य ज्ञानवाला है उसमें—शीघ्र प्रवेश कर॥२७१॥

इस प्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्‌भगवतकुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) निश्चयपरमावश्यकाधिकार नाम का ग्यारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

प्रवचन-१८४, श्लोक-२७१, गाथा-१५९, गुरुवार, अषाढ़ शुक्ल ५, दिनांक १७-०७-१९८०

२७१ कलश।

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं,
नित्यानन्दं निरुपमगुणालङ्कृतं दिव्यबोधम्।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मान-मव्यग्ररूपं,
लब्ध्वा धर्मं परम-गुरुतः शर्मणे निर्मलाय।।२७१।।

श्लोकार्थ : हेयरूप ऐसा जो कनक और कामिनी... कंचन और कामिनी जिसे प्रियरूप लगे हैं, उन्हें हेयरूप करना। फँस गया। यहाँ तो कहते हैं कि **हेयरूप ऐसा जो कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह...** आहाहा! पर सम्बन्धी मोह। अपना चैतन्यस्वरूप आनन्दमूर्ति भगवन्त को छोड़कर कंचन और कामिनी के मोह में पड़ा है। उसे छोड़कर।

भाषा तो सरल है, उसे छोड़कर परन्तु अन्दर में उसे छोड़कर। आत्मा का प्रेम और आनन्द का अनुभव हो, तब कंचन और कामिनी का मोह छूटेगा। एक चीज़ की महिमा आवे तो दूसरी चीज़ की महिमा छूट जाती है। एक आत्मा की महिमा (आवे कि) ओहो! मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूप एक आत्मा भगवान परमेश्वर हूँ। पर्याय में पर के ऊपर लक्ष्य जाने से अपने स्वरूप को भूल जाता है तो अपने स्वरूप को जानने के लिये पर का प्रेम छोड़ना। ओहोहो!

दो शब्द लिये। उसमें पूरी दुनिया आ गयी। आहाहा! कंचन और कामिनी अर्थात् कि बाहर की लक्ष्मी आदि और स्त्री आदि, इनके मोह को छोड़कर। भाषा तो ऐसी ही आती है। बाकी तो छोड़ना, वह भी व्यवहार है। अपना आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द सुखरूप है, उसके रस और प्रेम में मोह छूट जाता है। मोह छोड़ना नहीं पड़ता परन्तु उपदेश में तो ऐसी पद्धति आती है कि उसे छोड़। यहाँ लगन लगा और उसे छोड़। आहाहा! अरे! तुझे जन्म-मरण, भवभ्रमण, परिभ्रमण छोड़ना हो तो, भव-भव की गति में भटकता है, उस भवभ्रमण को छोड़ना हो तो इस ओर परिभ्रमण का कारण लक्ष्मी और स्त्री दो, उनमें सब आ गया... आहाहा! उनका मोह, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! जिसमें बिल्कुल लाभ

का कारण नहीं, नुकसान का कारण है, उसमें प्रेमबुद्धि, वह नुकसानकारक मिथ्यात्व है। आहाहा! साधारण बात नहीं है।

भाषा तो कंचन और कामिनी कही है परन्तु आत्मा के अतिरिक्त किसी भी परचीज़ में विशेष, अधिक, आश्चर्यकारी और सुखबुद्धि रखनेवाली कोई चीज़ हो तो उस चीज़ से अपनी चीज़ का पता नहीं लगता। आहाहा! ऐसा है। इसका अर्थ पूरे संसार का प्रेम छोड़। कंचन और कामिनी, एक ओर अकंचन और यह निर्दोष आनन्द भगवान का अनुभव करने से, अनुभव करने से परवस्तु जो है, कंचन और कामिनी तो दो नाम दिये हैं, परन्तु सब परवस्तु के प्रति मोह छोड़ दे। आहाहा!

हे चित्त! पर का मोह छोड़कर, हे चित्त! आहाहा! **निर्मल सुख के हेतु...** निर्मल आनन्द का कारण। निर्मल आनन्द का कारण **परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके...** परम गुरु यही समझायेंगे। बाकी सत्य बात परम गुरु बिना कहीं है नहीं। आहाहा! कुछ का कुछ दूसरा मिथ्यात्व के शल्य की विपरीतता डालेगा। वीतराग त्रिलोकनाथ के साधु अथवा उनकी वाणी, परम गुरु एक ही बात बताते हैं। परमानन्द का नाथ चैतन्य चमत्कार अनन्त आनन्द का सागर अन्दर है। प्रभु! अनन्त आनन्दस्वरूप तू है, वहाँ प्रीति लगा न! जिसमें दुःख है, स्वभाव का अनादर है, उसमें दुःख है, उस प्रीति को छोड़। आहाहा! यह तो बाबा होवे तब छोड़े, ऐसा कोई कहता है। वह कहता था न? अमृतलाल। अमृतलाल। बाबा ही है। परन्तु कब? बापू, भाई! तू एक चीज़, स्वयं पर के सम्बन्धरहित एक चीज़ ही तेरे अन्दर है। दो बात है ही नहीं। कर्म और राग, वह तेरी चीज़ ही नहीं है। आहाहा!

यह कहते हैं, **हे चित्त! निर्मल सुख के हेतु...** यह निर्मल क्यों लिया? क्योंकि इन्द्रिय का सुख जहर है, दुःख है। आहाहा! अपने अतिरिक्त पर में किसी के भी प्रति शरीर, इन्द्रिय, पैसा और इज्जत उसमें कुछ भी प्रेम करने से मिथ्यात्व और दुःख होता है, तो **निर्मल सुख के हेतु...** वह निर्मल सुख तो आत्मा में है। **निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा...** सच्चे परम सत् सन्त द्वारा... आहाहा! और वही सत्य कहेंगे, ऐसा कहते हैं। परम गुरु, वे एक ही सत्य कहेंगे। बाकी गड़बड़.. गड़बड़ कर डालेंगे। आहाहा!

परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके... भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, परसन्मुख का मोह छोड़कर अर्थात् परसन्मुख की सावधानी छोड़कर अपनी चीज़ में

सावधानी कर। आहाहा! भाषा तो सरल है परन्तु... आहाहा! यह काम करना... आहाहा! अपनी चीज़ की सावधानी होने के कारण, अपने अतिरिक्त परचीज़ की सावधानी का मोह छोड़कर **हे चित्त!** हे आत्मा! **निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा...** आहाहा! **प्राप्त करके...** परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके। इसका अर्थ यह हुआ कि गुरु उसे कहते हैं कि जो आत्मा की प्राप्ति करावे। कुछ भी विकल्प में, राग में बीच में अटकाने की बात (न करे)। लोगों को एकान्त लगता है। दो सिद्धान्त लक्ष्य में बराबर ले कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और प्रत्येक द्रव्य की क्रमसर पर्याय क्रमबद्ध होती है। आहाहा! ये दो सिद्धान्त लक्ष्य में ले तो परसन्मुख की सावधानी छूट जाती है। आहाहा! मैं उसका कर दूँ और मैं उसका कर दूँ... परन्तु तू तो पर को स्पर्श नहीं करता, पर को छूता नहीं तो पर का तू क्या कर सकेगा? आहाहा! शरीर को भी स्पर्श नहीं करता, वह तो जड़ है। उसकी जिस समय में, जिस क्षण में जो अवस्था होनेवाली है, वह होगी ही। तेरी सावधानी से उसमें कुछ फेरफार होगा, ध्यान रखने से शरीर की पर्याय ठीक रहेगी, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! यह सब दवा-बवा करे न? यह सब बातें।

जड़ और चेतन की पर्याय जिस समय में होनेवाली है, वह होकर ही रहेगी। दूसरा उसे करे, ऐसा तीन काल में नहीं बनता क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायरूपी काम के बिना नहीं रहता। प्रत्येक चीज़ निकम्मी नहीं रहती। निकम्मी का अर्थ? अपनी पर्याय का कार्य किये बिना कभी कोई चीज़ नहीं रहती। कोई चीज़ अपनी पर्याय का कार्य किये बिना नहीं रहती तो तू पर का क्या करेगा? आहाहा! शरीर का, वाणी का, मन का... आहाहा! तू किसी का कुछ कर सकता नहीं। कठिन बात है, भाई! धर्म कोई साधारण चीज़ नहीं है। वीतराग का धर्म... आहाहा!

एक चीज़ दूसरी चीज़ को तीन काल में कभी स्पर्श नहीं करती। यह सिद्धान्त जब तक न जँचे, तब तक मैं पर का करता हूँ, पर का करता हूँ, पर से लेता हूँ, पर से सुख मानता हूँ (ऐसा मानता है)। एक चीज़ दूसरी चीज़ को कभी तीन काल में स्पर्श नहीं करती। एक चीज़ दूसरी चीज़ को चुम्बन नहीं करती, स्पर्श नहीं करती, प्रवेश नहीं करती। परद्रव्य में प्रवेश करके उसकी पर्याय बनावे, ऐसा तीन काल में नहीं होता है। आहाहा! पूरे दिन काम होवे उससे। कहते हैं, तुझसे नहीं होता, तुझसे। आहाहा! बोलने का काम, चलने का काम,

वह काम उस समय में होनेवाली पर्याय होकर ही रहेगी। तुझसे वह होती है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **हे चित्त! निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा...** आहाहा! जैन के गुरु उसे कहते हैं कि जो आत्मा का आनन्द (प्रगट) करने को कहते हैं, वे जैन के गुरु। बाकी कोई भी राग की क्रिया से तुझे लाभ होगा, व्यवहाररत्नत्रय करते-करते लाभ होगा, (ऐसा कहे), वे जैन के गुरु नहीं हैं। आहाहा! इसलिए इतना शब्द प्रयोग किया है। **परम गुरु द्वारा...** परम गुरु द्वारा, यह निमित्त। धर्म सुनने में-देशनालब्धि (में) वे निमित्त हैं। प्राप्त करता है स्वयं से, परन्तु वहाँ निमित्त है। उन्होंने ऐसा कहा कि आत्मा राग से रहित निर्मलानन्द है तो वह शब्द से प्राप्त कर ले, ऐसा नहीं है। अन्तर में राग से भिन्न होकर आनन्दस्वरूप भगवान का स्पर्श करके अनुभव करे, उसमें तो भगवान की देशना और भगवान भी काम नहीं करते, परन्तु निमित्त बताते हैं। निमित्त गुरु हैं और वे उपदेश भी ऐसा देते हैं। आहाहा!

परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके... कैसा धर्म? निर्मल सुख का हेतु। यह कहा न? निर्मल सुख का हेतु, आत्मा के सुख का कारण, वह धर्म, गुरु बताते हैं। आत्मा के सुख का कारण निर्मल सुख, आत्मा के आनन्द का कारण ऐसा जो धर्म, उसे गुरु बताते हैं। उनके द्वारा सुनकर... ओहोहो! **तू अव्यग्ररूप...** शान्त हो जा। व्यग्रता छोड़ दे। अस्थिरता, मोह की व्यग्रता छोड़ दे, अव्यग्र हो जा। क्योंकि परम गुरु ने यह कहा है कि निर्मल सुख की प्राप्ति अपने स्वरूप के अवलम्बन से होती है। गुरु का यह उपदेश था। इसके अतिरिक्त दूसरी किसी चीज़ से आत्मा के अन्तर आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा!

यह सब करना कब? मन्दिर बनाना, पूजा करना, शान्ति पाठ, पंच कल्याणक होता है न? यह चर्चा चली है। यह चर्चा एक पुस्तक में चली है। प्रतिष्ठा में पंच कल्याणक करना, यह कहाँ से आया? ऐसा कहते हैं। भगवान की प्रतिष्ठा करना, उसमें पंच कल्याणक, उसमें माँ-बाप, उनके माता-पिता हो और फिर बने। बड़ी चर्चा चली है। लेख आते हैं। लोगों ने उपाधि बढ़ा ली है। आहाहा! मानो पर का कुछ करें तो पर को जरा ठीक हो। पर को ठीक हो। पर में नहीं परन्तु पर से। पर का कुछ करें... आहाहा! भगवान के यज्ञ-होम करें। यह पंच कल्याणक पूरा होकर... नहीं? पंच कल्याणक पूरा होकर होम

करते हैं न ? शान्ति का पाठ, होम। क्या होगा सब ? ऐसा कहाँ से निकला ? ऐसी चर्चा चली है। बात सत्य है। बाद में सब एकत्रित होकर फिर तिल को डालकर होम या होम... या होम... या होम (बोलते हैं) और धुँआ निकलता है, यह शान्तिपाठ। परन्तु उसमें शान्ति कहाँ आयी ? आहाहा !

मुमुक्षु : वह तो शान्ति का पाठ है न, ऐसा कि शान्तिरूपी कार्य नहीं, शान्तिरूपी पाठ है न !

पूज्य गुरुदेवश्री : पाठ है न ! पाठ में भाषा है। उसमें शान्ति कहाँ आयी ? पाठ में क्या है ? पाठ बोले, उसमें क्या है ? आहाहा ! वह तो यह मोरबी में अभी होता है न ? भाई गया है न ? हरिलाल। वह सब तूफान हुआ था न ? तो वह शान्ति करते हैं। उसके कारण शान्ति होगी ? यह तो क्या भ्रमणा है जगत की !

मुमुक्षु : काम में रहे, तब तक धन्धे में न जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : न जाए परन्तु वह तो शुभराग है। वह राग तो संसार है। उसमें निर्मल सुख की प्राप्ति कहाँ हुई ?

यहाँ तो यह शब्द है न ? **निर्मल सुख के हेतु...** आत्मा के आनन्द का हेतु। वह गुरु का उपदेश है। आहाहा ! यह बड़ी चर्चा चली थी कि यह क्या ? पंच कल्याणक और यह उपाधि और... प्रतिष्ठा करे, उसमें दूसरा लम्बा बहुत चलता है, परन्तु परम्परा चली हो उसमें। क्योंकि व्यवहार के कथन ऐसे होते हैं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, गुरु ने जो उससे कहा... **निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके तू अव्यग्ररूप...** हो जा। शान्ति, अन्तर में शान्ति है। भगवान आनन्द में अन्तर शान्ति है। बाहर की कोई क्रिया करने से शान्ति मिलेगी, शान्ति का हवन करे और शान्ति का यह करे... आहाहा ! गजब भाई ! शान्ति करे, होम और यज्ञ करे, कितने तिल डाले, बड़ा धुँआ निकले।

मुमुक्षु : अपने बन्द कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अपने को तो कुछ खबर भी नहीं। हमने तो कुछ कहा भी नहीं कि करो और नहीं कहा वह करो। बाबूभाई यह तीर्थ फण्ड का करते हैं, वह भी हमने

कुछ कहा नहीं। यहाँ तो उपदेश के अलावा कोई बात ही नहीं। जो करते हों, वे स्वयं स्वयं को... आहाहा!

यहाँ तो एक ही बात है। अन्त में आवश्यक में डाल दी। आवश्यक है न? आवश्यक तो यह एक ही है कि परम गुरु तेरे स्वरूप की निर्मल आनन्द की प्राप्ति करने का उपदेश देते हैं। आहाहा! उसका योगफल यह आना चाहिए। लाख बात की बात हो। तू निर्मल आनन्द है, प्रभु! अरे! कैसे जँचे? एक उड़द की दाल ठीक न हो, वहाँ घनघनाहट (हो जाती है) किसने ऐसी बिगाड़ी? आहाहा! अरे रे! प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? यह सब होता है वह... आहाहा!

अव्यग्रपना और उसका कारण तेरा आत्मा है। निर्मल सुख का कारण तो तेरा आत्मा अन्दर है। बाकी सब दुःख के कारण हैं। आहाहा! यह होम और फोम और दूसरे शुभभाव की जो क्रिया (करे), वह सब दुःख का कारण है। बाबूभाई! ऐसा जँचना कठिन पड़ता है। परम्परा चलती हो। परन्तु इसे खबर नहीं, भाई! बाहर की लाख, करोड़, अरब क्रिया हो। यहाँ तो यह कहा न, कंचन को छोड़कर। उस कंचन में सब आ गया। अपने अतिरिक्त पर कोई भी पदार्थ का प्रेम छोड़ दे कि उससे मुझे लाभ होगा तथा स्त्री का प्रेम छोड़ दे कि उसमें से कुछ भी सुख मिलेगा। आहाहा!

निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके... आहाहा! शब्द तो बहुत थोड़े हैं परन्तु गुलांट खिलायी पूरे संसार से। निर्मल सुख का कारण बताकर, धर्म निर्मल सुख का कारण है। धर्म निर्मल सुख अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का कारण है तो अतीन्द्रिय आनन्द तो भगवान आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु आत्मा है, तो उसमें से अतीन्द्रिय आनन्द मिलेगा। आहाहा! बहुत सरस अन्त में... कंचन और कामिनी को हेय जानकर छोड़ दे और इस निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त कर ले। एक को छोड़ और एक को प्राप्त कर ले। आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ सर्वांग शान्ति और सर्वांग सुख का सागर पड़ा है, प्रभु! उसमें जाकर निर्मल सुख की प्राप्ति कर। बाकी इसके अतिरिक्त कोई भी चीज़ देव-गुरु-धर्म से भी तुझे सुख नहीं मिलेगा। आहाहा! शोर मचावे न लोग! देव, गुरु, भगवान से भी तुझे धर्म नहीं होगा। भगवान की प्रतिमा और मन्दिर से भी तुझे धर्म नहीं

होगा। वह सब तो शुभभाव का निमित्त है। पुण्य—शुभभाव, अशुभ से बचने के लिये वह भाव है, परन्तु उससे धर्म-बर्म नहीं है। उससे जन्म-मरणरहित (नहीं हुआ जाता)। आहाहा! इतनी सब धर्म की शर्तें! धर्म की इतनी शर्तें! देवीलालजी! कितनी शर्त?

तेरे अतिरिक्त सबकी वृत्ति छोड़ दे, क्योंकि निर्मल सुख का कारण तो तू आत्मा है। आहाहा! यह शर्त है। इसके अतिरिक्त सब दु:ख का कारण है। तीर्थंकर साक्षात् भगवान हो तो भी दु:ख का कारण है क्योंकि उन पर लक्ष्य जाएगा तो राग होगा। परद्रव्य पर लक्ष्य जाएगा तो राग होगा। राग है, वह तो दु:ख है। वीतराग त्रिलोकनाथ यह कहते हैं। आहाहा! बात सुनी नहीं, कभी सुनी नहीं। आहाहा! धन्धा-पानी करते-करते... अरे रे! पानी फेर डाला। इस शब्द में कितना गहनपना है।

परसन्मुख का मोह छोड़कर, गुरु का उपदेश अन्तर आनन्द की प्राप्ति का उपदेश है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपदेश नहीं है। आहाहा! सब कथन और सब वांचन, सबका फल यही आना चाहिए। स्व सन्मुख लक्ष्य करके आनन्द आना, वह वस्तु है। आहाहा! बहुत शास्त्र पढ़े तो अन्दर आनन्द आयेगा, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

तू अव्यग्ररूप (शान्तस्वरूपी) परमात्मा में—शान्तस्वरूपी परमात्मा, भगवान अन्दर शान्तस्वरूपी परमात्मा विराजता है। आहाहा! गृहस्थाश्रम में भी यह करना? मुनि तो ठीक त्याग करे। मुनि को चारित्र है। स्वरूप उपरान्त स्वरूप लीनता है और बाकी धर्म की शुरुआत इस आत्मद्रव्य का आश्रय है। आहाहा! बाकी सब बात है। आहाहा! अपना स्वरूप निर्मल आनन्द की प्राप्ति होना, वह एक ही बात भगवान तीन लोक के नाथ, अनन्त तीर्थंकरों का कहना है। आहाहा! यह बात परमात्मा के अतिरिक्त, अनन्त तीर्थंकरों के अतिरिक्त कहीं नहीं है। कहीं न कहीं गड़बड़-गड़बड़ करे, ऐसा कर दें, ऐसा कर दें, हमको तू कुछ प्रसन्न कर तो तुझे लाभ होगा। सब मिथ्या बात है। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर को भी केवलज्ञान न हुआ हो और दीक्षा ली। भिक्षा के लिये जाएँ तो आहार दे तो पुण्य होता है। संसार का नाश तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। तीर्थंकर जैसों को आहार देने से (भी संसार का नाश नहीं होता)। यह वाणी वीतराग की है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : श्वेताम्बर शास्त्र में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसका ठिकाना कहाँ है? श्वेताम्बर शास्त्र में विपाक भरा

है। पूरा विपाक। बहुत बात करते हैं, भाई! सब बात की थी। वह कौन गाँधी, नहीं? गोकलदास गाँधी के साथ बात की थी, देखो! यह बत्तीस सूत्र में विपाकसूत्र पूरा सब एकदम झूठा है। वहाँ मिथ्यादृष्टि लेनेवाला साधु, उसे आहार-पानी दे तो परित संसार हो, ऐसा पाठ है। विपाकसूत्र में पाठ है।

मुमुक्षु : दृष्टान्त भी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, पाठ है न, सब मिथ्या बात है। आत्मा के अवलम्बन और आश्रय के अतिरिक्त धर्म तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। पंच परमेष्ठी के आश्रय से भी धर्म नहीं होता। आहाहा! भगवान की वाणी को लाख पूजे, उससे धर्म नहीं होता। आहाहा!

यहाँ संक्षिप्त में कहते हैं। अवश्य करनेयोग्य हो तो गुरु यह कहते हैं। आहाहा! **परमात्मा में—कि जो (परमात्मा) नित्य आनन्दवाला है,...** क्या कहते हैं? निर्मल आनन्द का उपदेश गुरु ने दिया। क्यों?—कि आत्मा **नित्य आनन्दवाला है,...** इसलिए निर्मल आनन्द का उपदेश दिया। आहाहा! अतीन्द्रिय नित्य आनन्द का नाथ आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त पर में सब में जहर का प्याला है। आहाहा! पैसे की ममता, स्त्री की ममता, पुत्र की ममता, स्त्री का विषय, भोग आदि सब जहर का प्याला है। वह कहीं स्त्री को नहीं भोगता, उस पर लक्ष्य करके राग के जहर को भोगता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! यह बात तो सुनी भी नहीं होगी। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को स्पर्श नहीं करता। पुरुष के शरीर का अवयव स्त्री के शरीर के अंग को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! एक ही बात परमात्मा की कि सब ओर से दृष्टि हटा ले, रुचि हटा ले, एक निर्मलानन्द का कारण आत्मा। कैसे आत्मा? निर्मल सुख का उपदेश क्यों दिया? — कि आत्मा नित्य आनन्दवाला है। आत्मा नित्य आनन्दवाला है। आहाहा! है? **(परमात्मा) नित्य आनन्दवाला है,...** आहाहा! एक कलश में तो गजब करते हैं न! इसमें बहुत शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती कि इतने शास्त्र पढ़े और इतने पढ़े तो ऐसा हो। आहाहा! यह पढ़े तो आत्मा हो। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ आत्मा नित्यानन्दवाला है। इस कारण से परम गुरु ने निर्मल सुख का उपदेश दिया। क्योंकि आत्मा नित्य आनन्दवाला है। आहाहा! कैसे जँचे? कभी देखा नहीं, कभी सुना नहीं, कभी स्पर्श नहीं किया, कभी उसकी ओर दरकार नहीं

की। यह जगत की जंजाल। बालपन खेल में गया। 'बालपन खेल में खोया, जवानी स्त्री में मोह्या, वृद्धपन देख के रोया' वृद्धपना आवे, फिर कहे हाय.. हाय.. हाय.. हमने कुछ किया नहीं। परन्तु तूने क्या किया ? वह मुसलमान यह बोलता था। वह रोजा होते हैं न, रोजा ? वहाँ हमारे पालेज में दुकान के बाहर सोते हों न ? वे रात्रि में निकले। तब वहाँ सुनते थे। 'बालपन खेल में खोया... ' बालपन में खेल में बालक को कुछ खबर नहीं पड़ती कि यह क्या ? ऐसे से ऐसे और ऐसे। 'जवानी स्त्री में मोह्या, वृद्धपन देख के रोया' वृद्धपना, शरीर जीर्ण हुआ तब हाय... हाय... अब हम कुछ कर नहीं सकेंगे। चलने में भी ठिकाना नहीं रहता। अपने क्या काम करेंगे ? बापू! पर से कुछ नहीं होता। आहाहा! वह वृद्ध हो या जवान हो या बालक हो।

यहाँ तो नित्यानन्दस्वरूप भगवान है। आहाहा! **नित्य आनन्दवाला है, निरुपम गुणों से अलंकृत है...** आहाहा! भगवान आत्मा, जो गुरु ने निर्मल सुख का उपदेश दिया, वह निर्मल सुख है कहाँ ? ऐसा कहते हैं। उपदेश दिया परन्तु वह है कहाँ ? आहाहा! वह नित्य आनन्दवाला भगवान आत्मा परमात्मा है। आहाहा! सब आत्मा नित्य आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर हैं। **नित्य आनन्दवाला है, निरुपम...** है। **निरुपम गुणों से अलंकृत है...** जिसकी कोई उपमा नहीं, ऐसे गुणों से अलंकृत—शोभित आत्मा है। आहाहा! जिसके गुण की कोई उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसे गुणों से अलंकृत है। उसका उपदेश गुरु ने दिया कि जो निर्मल सुख का कारण है। आहाहा!

अलंकृत है, दिव्य ज्ञानवाला है... है ? यह ज्ञान नहीं। शास्त्रज्ञान और धारणा भूल जाए। वह तो नित्य ज्ञानवाला है, उसका ज्ञान है। आहाहा! **दिव्य ज्ञानवाला है...** वह ज्ञान कभी विस्मृत नहीं होता, कम नहीं होता। आहाहा! अन्तिम कलश है न ? आवश्यक— अवश्य करनेयोग्य हो तो यह एक है। बाकी सब व्यवहार की बातें हैं। व्यवहार आवे। आता है, होता है, परन्तु है राग, है दुःख का कारण। आहाहा!

परमात्मा **दिव्य ज्ञानवाला है उसमें—शीघ्र प्रवेश कर**। आहाहा! तो क्रमबद्ध कहाँ गया ? उसमें शीघ्र प्रवेश कर, ऐसा कहा न ? भगवान आनन्दस्वरूप है, उसमें शीघ्र प्रवेश कर। तो समय-समय में क्रमबद्ध होता है न ? परन्तु उसमें यह आया। क्रमबद्ध का निर्णय करते हैं, तब अन्दर में जाता है, तब निर्णय होता है। आहाहा! कठिन बात है, बापू! यह

तो वीतराग परमेश्वर के पेट की बात है। अभी तो इतनी अधिक गड़बड़ चलती है। खबर है न! शरीर को यहाँ ९१ वर्ष हुए। सवा पैंतालीस वर्ष तो यहाँ हुए। इस जंगल में सवा पैंतालीस वर्ष हुए। पैंतालीस वर्ष में यहाँ आये हैं, सवा पैंतालीस यहाँ हुए। बहुत देखा और बहुत सब... यह एक ही लगायी है। कुछ का कुछ और कुछ का कुछ।

एक ही सिद्धान्त—निर्मल सुख का कारण नित्यानन्द प्रभु.. आहाहा! उस ओर ढलकर आत्मा का अनुभव कर, यह सब बारह अंग का सार है। आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि का सार है। आहाहा! कभी सुना न हो, अब करना कहाँ? बाहर में यह किया और यह किया और यह किया... आहाहा! वस्त्र सब अच्छे बनाये सफेद, पीले। दिखायी ऐसा दे मानो साधु पूजा करने जाए। पूजा करने जाए, तब पीले वस्त्र (पहने)। क्या उसमें? आहाहा!

एक तेरी चीज़ नित्यानन्द प्रभु और गुरु का उपदेश, वह निर्मल सुख प्राप्त करने का है। उसमें सब आ गया। आहाहा! उसमें प्रवेश कर। तेरा प्रवेश राग में है। पर में लक्ष्य है, प्रवेश का अर्थ पर में लक्ष्य है, उसे छोड़ दे। सुखी होना हो तो अन्दर भगवान आत्मा विराजता है... आहाहा! उस ओर लक्ष्य करके प्रवेश कर। उस आनन्द में प्रवेश कर। राग में प्रवेश करेगा तो दुःख होगा। आहाहा! बहुत सरस श्लोक है। घीयाजी! बहुत सरस श्लोक आया। यह श्लोक। आहाहा! पौन घण्टा हुआ। एक छोटा श्लोक, चार लाईन है। प्रभु का मार्ग, बापू! आहाहा! मुनियों की भाषा, मुनियों का हृदय... केवली के हृदय की तो बात ही क्या करना? परन्तु मुनियों का हृदय अलौकिक है। दिगम्बर सन्त... आहाहा! उनका चाहे जो (कथन में) हेतु एक ही (है कि) निर्मल आनन्द का नाथ नित्यानन्द है तो मिलेगा। ऐसा कहते हैं। पहले कहा था न?

निर्मल सुख के हेतु परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके... क्यों?—कि आत्मा नित्य आनन्दमय है। आत्मा तो नित्य आनन्दमय है, तो तुझे आनन्द मिलेगा। वह कोई क्षणिक चीज़ नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर नित्य आनन्दमय है, तीन काल-तीन लोक में आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। तू भगवान को भूलकर भ्रमणा में भरमा गया है। आहाहा! कुछ पैसा देखे, शरीर को देखकर, स्त्री को देखकर, मकान को देखकर, इज्जत को देखकर भगवान भरमा गया है। आहा! तेरी चीज़ अन्दर पड़ी है, भगवान!

उसकी रुचि और दृष्टि तो कर। यह मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। फिर उसमें स्थिरता करना, वह चारित्र है। वह भी उसमें स्थिरता करना, जिसमें नित्य आनन्द भरा है, उसमें दृष्टि करके उसमें लीनता करना... आहाहा! वह तेरे सुख का कारण है।

शीघ्र प्रवेश कर। आहाहा! है? शीघ्र कहाँ आया? ...शीघ्र कहाँ आया? '**चेतः शीघ्रं**' शीघ्र में कहना क्या है?—कि इस ओर लक्ष्य है, उसे इस ओर कर। होगा तो जिस समय में जो होना होगा, उस समय में होगा परन्तु ऐसा निर्णय करने में, जिस समय में जो पर्याय होगी, उसका निर्णय करने में तेरी दृष्टि द्रव्य पर जाएगी। आहाहा! जहाँ नित्यानन्द प्रभु पड़ा है। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली होगी, वह होगी, क्रमबद्ध होगी, फेरफार नहीं होगा, ऐसा निर्णय करने जाने पर नित्यानन्द पर तेरी दृष्टि जाएगी, तब उसका निर्णय सच्चा होगा। आहाहा! यह तो बाहर का सब उड़ा देते हैं। यह लड़के हुए 'पंकज', तीन लड़के, और सब काम करते हैं अब। ऐसे एक थे, वे करते हैं अब; इसलिए अपने अब छोड़ो। आहाहा! लड़के अच्छे, और धर्म का बहुत प्रेम। पंकज बीच का, उसे प्रेम है। आहाहा! उसके कारण इसे क्या? आत्मा को क्या? आहाहा! यह अधिकार पूरा हुआ।

— १२ —
शुद्धोपयोग अधिकार

गाथा-१५९

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ह्न

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवल-णाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।१५९।।

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान्।
केवल-ज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम्।।१५९।।

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथञ्चिदुक्तम्। आत्मगुणघातकघातिकर्मप्रध्वन्सनेनासादितसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां व्यवहारनयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसचराचरद्रव्यगुणपर्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वरः परमभट्टारकः, पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात्। शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञायकत्वादिविविधविकल्पवाहिनीसमुद्भूतमूलध्यानाषादः स भगवान त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च।

किं कृत्वा ? ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति; आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयं प्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति।

उक्तञ्चं षण्णवतिपाखण्डिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः ह्न

(अनुष्टुप्)

यथावद्वस्तु-निर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीप-वत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मक कथञ्चित् प्रमितेः पृथक्।।

अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरञ्जनस्वभावनिरतत्वात्,

स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात्। सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतःकारणात् एतदात्मगत-दर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह्न

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं मोक्ष-मक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकार-स्वरस-भरतोऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलित-मचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥

अब, समस्त कर्म के प्रलय के हेतुभूत शुद्धोपयोग का अधिकार कहा जाता है।

व्यवहार से प्रभु केवली सब जानते अरु देखते।
निश्चय नयात्मक द्वार से निज आत्म को प्रभु पेखते ॥१५९॥

अन्वयार्थ : [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [केवली भगवान्] केवली भगवान [सर्वं] सब [जानाति पश्यति] जानते हैं और देखते हैं; [नियमेन] निश्चय से [केवलज्ञानी] केवलज्ञानी [आत्मानम्] आत्मा को (स्वयं को) [जानाति पश्यति] जानता है और देखता है।

टीका : यहाँ, ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है।

'पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित हैं)' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, व्यवहारनय से वे भगवान परमेश्वर परमभट्टारक आत्मगुणों का घात करनेवाले घातिकर्मों के नाश द्वारा प्राप्त सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती सचराचर द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते हैं और देखते हैं। शुद्धनिश्चय से परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञवीतराग को, परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्पों की सेना की उत्पत्ति मूलध्यान में अभावरूप होने से (?), वे भगवान त्रिकाल-निरुपाधि, निरवधि (अमर्यादित), नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को, स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी, जानते हैं और देखते हैं। किसप्रकार ? इस ज्ञान का धर्म तो, दीपक की भाँति, स्व-परप्रकाशकपना है। घटादि की प्रमिति से प्रकाश-दीपक

(कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से स्व और पर को प्रकाशित करता है; आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है।

६९ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करने से जिन्होंने विशाल कीर्ति प्राप्त की है, ऐसे महासेनपण्डितदेव ने भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

'[श्लोकार्थ:] वस्तु का यथार्थ निर्णय, सो सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति, स्व के और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है तथा प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है।'

अब 'स्वाश्रितो निश्चय: (निश्चय स्वाश्रित है)' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत *निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। (वह इस प्रकार :) सहज ज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है; इस कारण से यह (सहजज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है।

(सहजज्ञान स्वात्मा को तो स्वाश्रित निश्चयनय से जानता ही है और इस प्रकार स्वात्मा को जानने पर उसके समस्त गुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं। अब सहजज्ञान ने जो यह जाना, उसमें भेद-अपेक्षा से देखें तो सहजज्ञान के लिए ज्ञान ही स्व है और उसके अतिरिक्त अन्य सब—दर्शन, सुख आदि—पर है; इसलिए इस अपेक्षा से ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है।)

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १९२वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

''[श्लोकार्थ:] कर्मबन्ध के छेदन से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी विकसित हो गयी है ऐसा, एकान्त शुद्ध (कर्म का मैल न रहने से

---

* निरुपराग = उपरागरहित; निर्विकार।

जो अत्यन्त शुद्ध हुआ है ऐसा), तथा एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार से परिणमित) निजरस की अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है, ऐसा यह पूर्ण ज्ञान जगमगा उठा (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ), अपनी अचल महिमा में लीन हुआ।''

गाथा - १५९ पर प्रवचन

अब दूसरा अधिकार—शुद्धोपयोग अधिकार, १२वाँ। आहाहा!

अब, समस्त कर्म के प्रलय के हेतुभूत... आहाहा! यह धर्म बताया। अब धर्म का फल क्या आया? **समस्त कर्म के प्रलय के हेतुभूत शुद्धोपयोग का अधिकार कहा जाता है।** आहाहा! शुद्धोपयोग होता है, वह कर्म के नाश करने का कारण है। दूसरा कोई कारण नहीं है। आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, वह अशुभराग है, वह अशुद्धोपयोग है। दया, दान, व्रत, पूजा भक्ति भी अशुद्धोपयोग है। शुभ-अशुभ, दोनों अशुद्धोपयोग है, दोनों बन्ध का कारण है। उससे रहित अन्दर भगवान का उपयोग - शुद्धोपयोग अधिकार, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा!

ऐसा सुनने को मिले नहीं न, पोपटभाई! पोपटभाई का साला तो अरबपति है। वह तो गुजर गया। लड़के अरबपति हैं। आहाहा! परन्तु धर्म की बात नहीं। आते है, बात करते हैं। जय भगवान। आहाहा! लड़का वहाँ मुम्बई आया था। अरब रुपये। कितने? दो अरब से ऊपर। आहाहा! चालीस करोड़—दो अबर चालीस करोड़ रुपये। इनके साला के पास। इनका साला तो गुजर गया है। साला के लड़के हैं। गोवा... गोवा... गोवा में। अपने दशाश्रीमाली बनिया है। दो अरब चालीस करोड़—धूल-धूल। आहाहा! परन्तु इस आत्मा में अलंकृत अनन्त गुण भरे हैं, इतने तो वे पैसे हैं नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं **समस्त कर्म के प्रलय...** अर्थात् नाश। उसके **हेतुभूत शुद्धोपयोग का अधिकार कहा जाता है।** आहाहा!

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवल-णाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।।१५९।।

व्यवहार से प्रभु केवली सब जानते अरु देखते।
निश्चय नयात्मक द्वार से निज आत्म को प्रभु पेखते ॥१५९॥

ओहोहो! **टीका : यहाँ, ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है।** कथंचित् स्व-पर प्रकाशक कहा है। सर्वथा परप्रकाशक है ही नहीं। आहाहा! सर्वथा तो नित्य प्रकाशक है। अरे रे! यह बात कहाँ? पर का कर्ता तो नहीं, पर को स्पर्शता नहीं, पर्याय क्रमबद्ध बदलती नहीं। आहाहा! यहाँ पर को जानना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! यह अन्तिम ले गये। पर का स्पर्श तो है नहीं, पर की क्रमबद्ध में तेरा अधिकार है नहीं। आहाहा! परन्तु पर को जानना, वह भी व्यवहारनय से है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! तू तुझमें जा। तू तुझे देख। वह निश्चय वस्तु है। पर को देखना कहना, (वह भी व्यवहार है), क्योंकि पर में तन्मय नहीं होता। पर को जानने में पर में तन्मय नहीं होता, तो तन्मय हुए बिना जानना क्या? वह तो व्यवहार है। पर सम्बन्धी का ज्ञान अपना है। अपने में अपना ज्ञान है, उसमें तन्मय है तो उसमें अपने को ही जानता है। पर को जानना कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! कहाँ ले गये!

दया, दान और व्यवहाररत्नत्रय से धर्म नहीं होता, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि उसे जानना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! इसमें निवृत्ति कहाँ मिले? व्यापार और धन्धे के कारण पूरे दिन होली सुलगती है। यह लाये और यह लिया और यह छोड़ा और यह छोड़ा। आहाहा! होली सुलगती होगी। कषाय की अग्नि। कहो, रामजीभाई! इन्हें खेती का धन्धा है। करोड़पति है। खेती का धन्धा। खेती-खेती। आहाहा! धूल का धन्धा है। आहाहा!

आतमराम पर को जानना, ऐसा कहना, वह आतमराम को व्यवहार है। अर र! पर का करना और परसम्बन्धी, पर संग से अपने में रागादि होना, वह तो अधर्म है। आहाहा! भगवान की भक्ति, भगवान का स्मरण, वह सब राग अधर्म है। आहाहा! शुभराग कहो या अधर्म कहो। इससे आगे जाकर भगवान पर को जानते हैं, यह भी व्यवहार है। आहाहा! यह नियमसार! नियम-नियम। निश्चय नियम। जगत का निश्चय व्यवस्था का नियम क्या है? उसका इसमें कथन है। आहाहा! नियम अन्दर पाठ में आ गया। आहाहा!

ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है। 'पराश्रितो व्यवहारः' देखो! जितना पर को जानना—ऐसा कहना, वह पराश्रित व्यवहार है। आहाहा!

तीन लोक के नाथ को जानना, यह कहना व्यवहार है। '**पराश्रितो व्यवहारः**' आहाहा! अब इतनी अधिक उपाधि में से निकलना, उसमें जवान शरीर को, पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ पैसे (रुपये) प्राप्त करे। आहाहा! कुछ अन्यत्र बाहर नजर पड़े नहीं। अन्दर भगवान विराजता है, उसके सन्मुख देखने का तो समय भी नहीं मिलता। तीन लोक का नाथ नित्यानन्द सहजानन्द प्रभु, कहते हैं कि उसे पर को जानना—ऐसा कहना, वह पराश्रित है। आहाहा! कहाँ ले गये?

'पराश्रितो व्यवहारः' (व्यवहार पराश्रित हैं) ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से,... ऐसा भगवान का—शास्त्र का वचन होने से **व्यवहारनय से वे भगवान परमेश्वर परमभट्टारक आत्मगुणों का घात करनेवाले घातिकर्मों के नाश द्वारा...** क्या कहा? आत्मगुणों का घात करनेवाले निमित्त। कर्म निमित्त है। **घातिकर्मों के नाश द्वारा...** जो अपने गुण के नाश में निमित्त है, उसे नाश करनेवाले, **प्राप्त सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन...** आहाहा! इस **द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती...** त्रिलोकवर्ती-तीन लोक में वर्तनेवाले, तीन लोक में रहनेवाले और त्रिकाल रहनेवाले। आहाहा! **सचराचर द्रव्य-गुण-पर्यायों को...** सचराचर—कोई गति करनेवाले तो कोई स्थिर—ऐसे सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय को **एक समय में जानते हैं...** एक समय में परमात्मा जानते हैं। आहाहा! यह द्रव्य की श्रद्धा कराते हैं। द्रव्य एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानता-देखता है, यह भी व्यवहार है। आहाहा! अपने को तीन काल-तीन लोक को जाननेवाला अपना आत्मा है। आहाहा! वह **जानते हैं और देखते हैं। शुद्धनिश्चय से परमेश्वर...** शुद्ध सत्य दृष्टि से। व्यवहारनय तो असत्य से कथन हुआ। व्यवहारनय असद्भूत कथन हुआ। आहाहा! शुद्धनिश्चयनय अर्थात् शुद्ध यथार्थ (दृष्टि से) परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञ वीतरागदेव को **परद्रव्य के ग्राहकत्व,...** परद्रव्य को जाननेवाले और देखनेवाले **दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्पों की सेना की उत्पत्ति मूलध्यान में अभावरूप होने से...** आहाहा! पर को जानने-देखने में भी विकल्प रहता है पर के ऊपर लक्ष्य जाए तो। आहाहा! पर को जानना-देखना भी अपना स्वभाव नहीं। अपना स्वभाव तो अपने को जानना-देखना है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)